समर्पण

त्रिभुवन पति श्री सीताराम जी

गौरीश—शीशांबर, अभ्र—गंगा
पुण्य—प्रभावी—जल भूमि दाता
पै जो चढ़े नीर महेश माथे
तो शम्भु संतुष्ट प्रसन्न होते
नाकाङ्गना—नाक— नटी— नवोढ़ा
शिक्षा—वरीचा सुरनाथ से लें
की जो सभा में नव-नृत्य--लीला
हो इन्द्र को तुष्टि स्वयं—कला से
वंसी बजे जो कर ले बजाता
बाजे नहीं आप बिना बजाये
अंभोज—उत्फुल्ल, मयूख से ज्यों
है बुद्धि—बोधी प्रभु की कृपा से
गोदी चढ़ाया शिशु को पिता ने
धूलादि लागी तनमें बड़ी थी
पोंछा अँगोछा छन छूत छोड़ी
दिव्यांग देही दिश देव देखे
लीजे वही जो प्रभु ने दिया है
ताना व बाना बिनके सजाया
कैसे, कहां, कौन, स्वअंग धारे
सर्वज्ञ जानो सब, मैं न जानूँ

"सिरस"

सूची पत्र

प्रथम सर्ग

पंचम सर्ग

अष्टम सर्ग

नवम सर्ग

दशम सर्ग

एकादश सग

(घ)

अष्टदश सर्ग

एकोनविंश सर्ग

विंश सर्ग

एक विंशति सर्ग

द्वाविंश सर्ग

त्रयो विंशति सर्ग

चतुर्विंश सर्ग

२५ वां सर्ग

भूमिका

जब जब मैं श्री वालमीकीय तथा श्री तुलसीदास जी की रामायण में श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक-प्रसंग पढ़ता था, तब तब मैं अपने मन में विशेष आल्हाद का अनुभव करता था, १४ वर्ष की आयु से लेकर ५० वर्ष की अवस्था तक निरंतर श्री रामायण का पाठ मैं करता रहा, उसमें अभिषेक की कथा अवर्णनीय-आनन्द देती रही। उस समय इसका रहस्य मैं नहीं जान सका कि मेरे चित्त का विशेष आकर्षण श्री अवधेश के अभिषेक की ओर क्यों है।

प्रकृति तथा प्राणी के कर्म-संस्कारों का सम्बन्ध अभिन्न होता है उनके उदय काल के पूर्व उनका रूप अनुभवगम्य नहीं हो पाता किन्तु विशेष कारण पाकर पूर्वानुराग की तरह कभी किंचित् आभास मिल जाया करता है! पर छाप सदृश क्षणिक तरंग तत्काल लीन हो जाती है, और उसकी छाप मन पर इतनी हलकी पड़ती है, कि इससे पदार्थ का बोध नहीं हो पाता।

जैसे जल में एक लहर उठती है तो उसके पीछे दूसरी वेगवती लहर आकर उसको दाब लेती है। तब प्रथम की प्रथक परिस्थिति का पता नहीं लग पाता। ठीक यही हाल मेरे हृदय

के अन्तर्गत अभिषेक सम्बन्धी स्वानुभूति का था, वह रहस्य अब प्रकट हुआ कि अभिषेक सम्बन्धी कथा वर्णन करने का कारण मेरे हृदय में वर्तमान था और समयानुकूल होते ही वह "श्रीराम-तिलकोत्सव" कार्य रूप में परणित हुआ।

उसी के साथ मेरा झुकाव जनकपुर की ओर भी था। जिससे इस ग्रन्थ में वहां का विशेष वर्णन किया गया है। मैंने सदैव हरि-यश-वर्णन प्रधान और साहित्य-सेवा गौण मानी है। अतः इसी अटल आधार पर मैंने अपने को अवधेश का कविराज माना है।

विधि के विधाता धाता ध्यान धारना के,
परे परमेश्वर सुरेश शिरताज हैं।
गाते हैं गणेश-गुण करते विनय वेद,
कभी भेद पाते नहीं महा महाराज हैं।
भक्त के हैं वश प्रभु बसते हृदय में आके,
देते सभी सुख जब सुनते अवाज हैं।
देवों औ त्रिदेवों के हैं देव दया दान देते
ऐसे रामचन्द्र के "सिरस" कविराज हैं।

मुझ ऐसे तुच्छ जन की सामर्थ्य क्या कि श्री अवध-अवनीश के तिलकोत्सव का यथोचित वर्णन कर सकूं। जिसके देखने के लिये लालयित हो सुरनाथ इन्द्र, लोकपाल ब्रह्मा-विष्णु और महेशादि आये थे। जब ये महान आत्माएँ जो जगत के उत्तरांश-शिखर पर स्थित हैं और जे प्रायः मोहादि के

प्रभाव से दूर रहने में समर्थ हैं। वे भी "श्री तिलकारत्न"
के अब लोकनार्थ अयोध्या पधारे थे, तब उस अवर्णनीय
आनन्द का विशद वर्णन मुझ असमर्थ से कैसे हो सकता हैं।
व्योम विहारी-वारिद, वायु-वेगाधीन रहता है। वह (वायु)
जिस ओर लेजाना चाहता है उसे (वारिद) उसी ओर
तुरन्त जाना पड़ता है। यही दशा शरणागत दीन-दास की
होती है। करुणा सागर श्रीराम किसी अपने दास को शक्ति
सबल देने की कृपा करते हैं, यह गाथा सन्त समाज अथवा
साधारण समाज किसके लिये निर्माण कराई जाती हैं। यह
गूढ़ रहस्य अन्य व्यक्ति पर नहीं प्रकट हो सकता। कठपूतली
को कैसे मालूम हो सकता है कि सूत्रधार किस ओर और किस
गति से उसे नचावेगा।

माया-महोदधि की षड्वर्ग रूपी उत्ताल तरंगों में चिरकाल
से डूबता उतराता कौन जीव चित्त स्थिर रख सकता है। उनके
आघातों तथा प्रत्याघातों से प्रपीड़ित चेतना हीन हो उनका
क्रीड़ा पदार्थ बन जाता है।

सुतरां इस ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य वही प्रभु जानते हैं
जिन्होंने इसकी रचना कराई है। वास्तव में यह दीन तो
निमित्त मात्र हैं।

अर्वाचीन-समय में भूमिका लिखने की प्रणाली चल
निकली हैं कि ग्रन्थ के आवश्यक विषयों का परिचय आरम्भ
ही में करा दिया जाय अस्तु इसी प्रणाली का अनुगमन इस
ग्रन्थ में भी किया गया है।

प्रथम सर्ग में मंगलाभिवादन है, द्वितीय सर्ग में श्री अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र जी के समय में कैसी बसी थी उसका वर्णन किया गया है। मुझे जहां तक जानकारी है तहां तक इसी यथार्थता पर पहुंचा हू कि कि सरयू के उत्तर भाग में अयोध्या नगर का कोई अंश किसी काल में बसा नहीं था। प्रत्युत यह भाग वन रूप में विहार, आखेट, एवं पशुओं के लिये सुरक्षित था। अध्यात्म, वालमीकीय तथा तुलसीकृत रामायण, जो प्रामाणिक मानी जाती है, उनमें सरयू के उत्तर तट पर अयोध्या नगर का बसना नहीं पाया जाता।

श्री अवधपुरी ऐसी बसी थी, कि सरयू के दक्षिण तट पर उसकी पूर्व-पश्चिम की लम्बाई ३२ कोस तक घाटों से सुसज्जित थी। और वैसी ही लम्बी सड़क नदी के किनारे किनारे पूर्व से लेकर पश्चिम की ओर नगरान्त तक बनी थी। और दक्षिण की ओर १६ कोस. लम्बी थी। अयोध्यापुरी शतपथ थी अर्थात् उसमें सैकड़ों सड़कें निकली थीं। और कोई ऐसी सड़क न थी, जो राजमार्ग से न मिली हो। अनेक चौराहे थे, जिनमें वाटिका लगी थी। नदी तट के सड़क के दक्षिण, देव मंदिरादि थे। उसके पृष्ठ भाग में ब्राह्मणों के उत्तम भवन थे। प्रत्येक भवन में पुष्प वाटिका लगी थी। उसके दक्षिण ओर रघुवंशियों के राजभवन थे, राजमार्ग के दोनों ओर साम्य-दूर्वादल मंडित मेदिनी मध्य में थी, तथा वह यत्र तत्र सुगन्धित पुष्प पुन्जों से पूर्ण थी।

महाराज श्रीरामचन्द्र जी बन्धु वर्गों के गगनचुम्बी राज-मंदिर थे राजमंदिर के दक्षिण दिशा में विविध प्रकार के हाट थे, वहीं महाधनी वैश्य कुल बसा था। उसके पश्चात बागादि थे और उसके दक्षिणान्त में शूद्र सदन सुन्दर थे। हाथी घोड़ों के स्थान नगर के दक्षिण किनारे में थे। रथादि ऊँट बैलादि पशुओं का प्रबन्ध नगर के पश्चिमान्त में था और पूर्व भाग में अतिथि आलय थे। नगर के अचलों पर दुर्ग और सेना के निवास स्थान थे। इस प्रकार अयोध्या नगरी बसी थी।

तृतीय सर्ग में सरयू के उत्तर भाग में रघुवंशमणि का गोकुल था, जहाँ सहस्रों गायें रहती थीं। जिनका शुद्ध दुग्ध राजा तथा प्रजा दोनों को आवश्यकतानुसार मिलता था। चतुर्थ सर्ग में श्रीराम तिलकोत्सव का विशद वर्णन है। पांचवें सर्ग में देवताओं ने स्तुति की है और श्री रामचन्द्र जी ने प्रत्येक को प्रशंसनीय उत्तर दिया है। षट सर्ग में राजाओं को श्री रामचन्द्र जी ने उपदेश दिया है। सातवें सर्ग में बहु प्रकार की शासन प्रणालियों में आदर्श रामराज्य का साधन वर्णित है। उसके संस्थापन के लिये श्री रामचन्द्र जी ने क्या साधन किये थे उसका वर्णन है। अर्थात् श्री रामचन्द्र जी ने विचार किया था कि राजा और प्रजा के दो अभीष्ट भिन्न हैं। उनका एकीकरण करना ही दोनों के बीच से विरोध को दूर करना है। अस्तु विचार पदार्थ का उद्गम स्थान अन्तर में है न कि बाहर। अतः श्रीरामचन्द्र जी अपने अन्तःकरण की साधना

में प्रवृत्त हुए। षडवर्ग-काम क्रोधादिकों के उभाड़ों को काबू में लाये। जब शम दम में समर्थ हुए, तब साधना का विस्तार करना आरम्भ किया अर्थात् श्री रामचन्द्र जी की साधना का क्षेत्र उनके हृदय से बढ़कर निकटस्थ कुटुम्ब, पड़ोस, नगर निवासियों तक बढ़ा।

इसी प्रकार धीरे धीरे ग्राम, मंडल, प्रदेश एवं सारे देश-वासियों के हृदय में व्याप्त होगया। पवित्र पत्नी का हित भिन्न न हकर अभिन्न होता है। पति के पास पदार्थों को पत्नी अपनी वस्तु समझती है। उसी प्रकार पत्नी के पास के आभूषणादिकों को पति स्ववस्तु समझता है। उन दोनों के बीच भिन्न स्वार्थ की सृष्टि नहीं होती। उसी प्रकार राजा और प्रजा का स्वार्थ ऐक्य होना चाहिए। और ऐसा होता तभी है जब राजा की प्रवृत्ति प्रजा की ओर हो, और प्रजा अपना हितचिन्तक राजा को समझे और वह सर्वस्व समर्पण करने को उद्यत रहे। जैसे उत्तरीय ध्रुव की ओर से समुद्र का अन्तर प्रवाह मध्यसागर की ओर शीतलता के साथ होता है। और मध्यसागर का अन्तर प्रवाह उत्तरीय ध्रुव की ओर उष्ण होता है। दोनों के गुण तो हैं भिन्न, पर दोनों की प्रवृत्ति परस्पर एक दूसरे की ओर है जो पदार्थ जिसके पास है वह दूसरे को सौंपता है। स्वार्थ त्याग करने से स्वतः इष्टार्थ की पूर्ति होती है। स्वार्थ का सर्कल (घेरा) अत्यल्प होता है, साधारणतः मनुष्य ऐसे अपने घेरे में घिरा रहता है, स्वार्थ

भी वह भी दूर कर बाहर नहीं जासकता। किन्तु जिसने स्वार्थ के घेरा को अलग कर दिया और बाहर निकल आया तो उसके लिये सारा विश्व ही अपना बन जाता है।

अत श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी शक्ति साधना का उत्तरोत्तर इतना बढ़ाया कि वह सारे राष्ट्र में व्याप्त होगई। पिता, पुत्र का स्वार्थ स्वय साधन करता है, पुत्र का उसकी चिन्ता नहीं रहती, वह पिता की आज्ञा पालन ही में अपना हित समझता है। सुतरा श्रीरामचन्द्र जी ने प्रजा ही का हित अपना हित समझा और प्रजा ने भी अपने हित की चिन्ता स्वयं न कर सका के द्वारा ही अपना कल्याण होते देखा। जब तक मनुष्य अपना सुधार नहीं करता तब तक वह अन्य का सुधार नहीं कर सकता। जब विरोधी के साथ विरोध दूर किया जाता है, तब विरोधी में भी विरोध भाव दूर होने लक्षण देख पड़ने लगते हैं। अत पहले अपने को शुद्ध करके तब दूसरे के शुद्ध होने की आशा करनी चाहिए ऐसी दशा में प्रजा और राजा के भिन्न भाव न होकर उनमें 'एक्यता' [illegible] जाती है और इस परस्पर पवित्र ऐक्य हित साधन ही [illegible] कहते हैं।

आठवें सर्ग में श्री जनकजी ने जनकपुर में श्रीराम जानकी के सकुशल वन से लौट आने का प्रसन्नता में महोत्सव किया था। उसमें श्रीरामचन्द्रजी तथा सभ्रातात्रों के साथ अपनी सकल पुत्रियों को निमन्त्रित किया था। निमन्त्रण पाकर श्री रामचन्द्रजी ससमाज जनकपुर गये थे।

मुझ से अनेक मनुष्यों ने पूछा कि इस कथा प्रसंग को मैंने कहां से लिया है क्योंकि ऐसी कथा न श्री वाल्मीकिजीने न श्री तुलसीदासजीने अपनी रामायण में लिखी है फिर यह तो कल्पनामात्र है।

श्रीराम चरित सौ करोड़ संख्या में है।

रामचरित शत कोटि अपारा।

किन्तु बालमीकीय तथा तुलसीकृत रामायण तो एक लाख की भी गणना में नहीं पहुंची। तब सम्पूर्ण रामचरित का वर्णन उन दोनों ग्रन्थों के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। पर शेष प्रभु चरित में यह प्रसंग भी माना जा सकता है। दूसरे जितनी सांसारिक कार्य और क्रियाएं हैं वे सब रामचरित के अन्तर्गत हैं। अर्थात माया विकाश से अधिकतर भगवत प्रकाश है। उसकी दीप्ति में तम रूपी जगत दब जाता है।

ऐसी दशा में कल्पना अलग नहीं रखी जा सकती। यदि क्षण भर के लिये मान भी लिया जाय कि यह प्रसंग कल्पनामय है। बुद्धि की दौड़ सीमित है। और रामयश अपार है तब यदि कल्पना की भी गई तो वह चरित भाग के अन्तर्गत हो तो हुई। शंका उठ सकती है कि फिर जगत व्यवहार कुछ भी नहीं है। सबको रामचरित ही समझना चाहिये, जैसे वारि-वेग-प्रवाह वश पानी में झाग उत्पन्न होता है। उसकी उत्पत्ति जलाघातों प्रत्याघातों से है और वह जल का मलांश

है। उसमें जल गुण नहीं है। वैसे ही ब्रह्म विकाश क्रियान्तर्गत जगत की उत्पत्ति हुई है। परन्तु है वह ब्रह्म के अन्तर्गत, उससे पृथक नहीं, किन्तु अन्तर्गत हुए भी ब्रह्म रूप नहीं कहा जा सकता। जैसे वृक्ष की ऊपरी छाल उत्पन्न तो वृक्ष ही से हुई किन्तु वृक्ष की सरसता उसमें नहीं है। प्रत्युत रस भाग से वह प्रथक है। उसी प्रकार भगवत चरित सम्बन्ध में जगत की परिस्थिति प्रथक रहती है। फिर चरित्र सम्बन्धी कल्पना जगत की वस्तु नहीं मानी जा सकती।

चरित की कल्पना तो रामचरित के अन्तर्गत ही है। यदि कोई पक्षी यहाँ और कितना ही ऊँचे उड़े तो क्या वह आकाश के अन्तर्गत नहीं है। यदि है तो चरित भाग, कल्पना भी मान लिया जाय तो रामचरित का एक अंश अवश्य है।

यदि कोई अनोखा भक्त कहे कि उपरोक्त कथा प्रामाणिक ग्रन्थों में नहीं है। इससे वह सत्य कथा को अश रूपमें कैसे स्वीकार किया जा सकता है। इसके उत्तर में निवेदन है कि असीम को सयुक्त करना कहाँ तक यथार्थता के साथ युक्ति युक्त है यह विचारणीय है।

जब वेदों ने हार मान ली तब सम्पूर्ण हरिचरित को कौन वर्णन कर सकता है। क्या घड़ा में सागर भरा जा सकता है। वाल्मीकादि द्वारा वर्णित चरित एक अंश मात्र है और जनकपुर पुनर्गमन सम्पूर्ण हरि का एक अंश है। और वह

तर्क तथा यथार्थता अनुकूल है। यदि नहीं तो क्या पर्वत कण को सम्पूर्ण पर्वत मानना चाहिये। जनकपुर गमन की यथार्थता यदि बालमीकादि के वर्णन न करने से गत त्रेता ऐतिहासिक घटना भी न मानी जा जावे तो वह किसी युग में तो अवश्य ही हुई होगी। क्योंकि स्वप्न में वही दृश्य मनुष्य को देख पड़ते हैं। जिनको उसने वर्तमान शरीर अथवा पूर्व शरीर के साथ कभी जाग्रत अवस्था में देखा होगा। जो जाग्रत में बोधगम्य नहीं है। वह स्वप्न में कदापि नहीं देखा जा सकता। अस्तु जनकपुर का पुनर्गमन श्री रामचन्द्रजी द्वारा किसी काल में अवश्य हुआ था। नवे सर्ग में वसन्त ऋतु तथा जनकपुर का वर्णन है। दशम सर्ग में लक्ष्मी निधिका अग्रमिलन, अन्तःपुर में सीतादिकों का मातादि से मिलना वर्णन किया गया है और इसी सर्ग में श्री सीताजीकी सखियां श्री रामचन्द्रजी से परिहास करती नायिकाओंका भेद पुष्प लता नदी, द्विरेफ क्षुधादि के रूप में वर्णन करती हैं जिसमे ऐसे वर्णन करने में पवित्रता प्रगट होती है। फिर आगे चल कर श्री रामचन्द्रजी और सखियों का पवित्र परिहास, युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। एकादश सर्ग दम्पति विभेद साथ भिन्न प्रकृति के पतियों का वर्णन है। फिर तामसवद्ध स्त्री पुरुषों के स्वभाव का परिचय दिया गया है अन्त में श्री सीताजी का प्रवचन है।

द्वादश सर्ग में गृहस्थ तथा सन्यास आश्रम का विभेद

वर्णित है, त्रयोदश सर्ग में श्री नारद का भक्ति भाषण है चतुर्दश सर्ग में वशिष्ट का ज्ञान प्रवचन है। पंचमदश सर्ग में कर्म-विपाक का वर्णन है षोडश सर्ग में संचित प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का वर्णन है। सचित कर्म वे हैं जो अनेक जन्मों से जीव की कर्म राशि में जमा होते रहते हैं संचित राशिसे एक भाग निकाल कर विशेष एक जन्म के भोगने को दिया जाता है वह प्रारब्ध कर्म है अब प्रश्न होता है कि कर्म नाश कैसे होते हैं मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। अस्तु यदि सतसगादि से हृदय में सात्व की भावना टिका तो विवक का विकाश होता है। उससे कुकर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसी दशा में क्रियमाण कर्मों का बनना बन्द हो जाता है। और जैसे-जैसे जीव उत्तरोत्तर ऊर्ध्व गमन की ओर उन्नति करता जाता है तैसे तैसे संचित कर्मों का भी नाश होता जाता है। सुकर्म संचित और क्रियमाण कर्मों की प्रवाहिका शक्ति रोक देते हैं और इधर प्रारब्ध, नित्य भोग द्वारा घटता ही रहता है।

यदि प्रारब्ध द्वारा कुकर्म का उदय होता है तो सात्वकी वृत्ति उसको रोक देती है। जैसे मेघ वारि वर्षा करते हैं। अवश्य, पर जिसके पास वारि रक्षक विशेष वस्त्र तथा छाता है तो वह पानी से बच जाता है। प्रारब्ध के अनुकूल स्वभाव और रूप जिसका जैसा होता है, वही मरण पर्यंत बना रहता है। किन्तु हृदय में सतोगुण के कारण परिवर्तन हो जाता है

जैसे प्रारब्ध द्वारा पाप कर्म की प्रवृत्ति प्रकट हुई, परन्तु अन्तःकरणमें सतोगुण का है। तो उस दशा में पाप कर्मोंको अपना प्रभाव दिखाने को अवसर कम मिलता है। जैसे कड़ी धूप तो होती है, परन्तु शिला जो पानी के अन्दर पड़ी है उसपर प्रचण्डता का क्या प्रभाव पड़ सकता है। जैसे बाढ़ के समयमें ऊंचे कगारों पर भी पानी चढ़ जाता है उसी प्रकार सतोगुण की अधिकता होनेपर कुकर्म दब जाते हैं। प्रारब्ध कर्म विराग से दबते हैं। यदि सतोगुणी व्यक्ति भगवान का भक्त है तो प्रारब्ध के प्रयोग उदय होने पर श्रीनाथ स्वयं उसको संभालते हैं। भक्तभोग में लिप्त नहीं होने पाता। जैसे लोटा कुआं के भीतर तो चला जाता है पर रस्सी में बंधे होनेके कारण वह सजल खींच लिया जाता है। प्रभु की कृपा के कारण भक्त विपथ नहीं हो पाता। प्रारब्ध प्रभाव से व्याकुल होकर नारायण के नाम का जप करता सहाय ढूंढ़ता है और ऐसे जप का प्रवाह प्रारब्ध धारा तक पहुंच कर उसको मन्द कर देता है।

प्रारब्ध तथा नाम रूपी दो धाराएँ बहती हैं। पर नाम धारा प्रारब्ध धारा को मन्द कर देती है। क्योंकि प्रारब्ध का सम्बन्ध एक बद्ध जीव से है और नाम का संबंध जगतपति से है तब इसकी शक्ति तो स्वभावत. प्रबल होवेगी ही।

संचित

एक जन्म से किये गये कर्म, एक ही जन्म में भोगे नहीं

जा सक्ते। अस्तु शेषांश को जमा करना पड़ता है वही संचित कहाता है। क्रियमाण कर्मों से संचित कर्म बढते रहते हैं।

संचित राशि से प्रारब्ध रूपी अंश ऊपर ही से नया लाया जाता है। वह ज्योतिष से भी प्रतिपादित होता है कि सबसे पीछे ही जन्म के कर्मोंके अनुसार वर्तमान जन्म के रूप रङ्ग भाग्यादि होते हैं। यदि भगवान की कृपा होती है तो सारे संचित कर्म विनाश हो जाते हैं जैसे घडा का निचला भाग फूट गया तो उसमें पानी कैसे ठहर सकता है! जब प्रकृतिपति की कृपा जीव पर हो जाती है तब प्रकृति अन्तर्गत कर्म कहाँ अपना प्रभाव प्रकट कर सकते हैं।

क्रियमाण

यह मेरा अनुभव है कि चाहे कितना ही सात्वकी स्वभाव हो, पर प्रारब्ध प्रभोग के उदय होने पर सतोगुण को दब जाना पड़ता है और प्रारब्ध अपना प्रभाव अवश्य दिखा देता है। किन्तु एक बात अवश्य होती है कि प्रारब्ध को फाटक से निकालना पडता है पर प्रभु कृपा प्रभाव से खिडकी से निकलने का अवसर प्राप्त हो जाता हैं। जो भोग प्रारब्ध का होगा वह कृपा प्रभाव से पूर्ण रूपसे नहीं हो पाता, उसको अत्यल्प रूपमें दूसरी प्रकार से भोग करा दिया जाता है कि जिसमें उससे क्रियमाण कर्म बन ही न सके। अनन्य भक्त को रत्ता महादुख से बचानेके लिये भगवान क्षुद्र दुख को रोगादि रूपमें कर देते हैं। '*प्रारब्ध भोग के प्रभाव से बचानेके लिये*

जाव भगवान का भक्त नहीं है तो कर्म प्रवाह में बह जायगा। यदि भक्त है पो उसकी सहायिका प्रभु की कृपा बनती है। और प्रारब्ध कर्मों को कराती हुई क्रियमाण कर्म नहीं बनने देती।

सप्तदर्श सर्ग में जनकपुर से विदा की कथा कही गई है अष्टदश सर्ग में पावस और उन्नीसवें सर्ग में शरद हिमन्त शिशिर ऋतुओं का वर्णन है। बीसवें सर्ग में श्री रामचन्द्र जी का आखेट वर्णन है इक्कीसवें सर्ग में ससार रहस्य की चर्चा की गई है। बाइसवें सर्ग में श्री कौशिल्या जी का भ्रम वर्णन है इसी प्रकार आगे के सर्गों में विविध कथाएं वर्णित हैं जिनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नोक्त है।

सम्प्रदाय

चेदी नरेश ने महाराज श्री रामचन्द्र जी से प्रश्न किया कि सम्प्रदाय के विभिन्न रूप होते हैं। यदि वे ईश्वर के मिलने के साधन वास्तव में हैं तो ईश्वर है एक तो उनमें विभिन्न न होना चाहिए।

यदि राजा ईश्वर में विश्राम न करे तो उसके राज्य में सम्प्रदाय का प्रचार ही न हो उसमें प्रजा म र भा त मिलाप रहेगा। ईश्वर को तो किसी देखा नहीं। योगी तपी उसकी प्राप्ति के लिये महा कष्ट उठाते हैं। किन्तु किसी ने स्वीकार नहीं किया कि उसको ईश्वर की प्राप्ति हुई है। ऐसी शंका को सुनकर श्री रामचन्द्र जी ने समाधान किया कि सूर्य से प्रकाश

उसके रोग संकट आदि की उत्पत्ति कर दी गई। समुद्र को पार करा कर एक क्षुद्र नदी को पार सहज में करा देते हैं। शास्त्रों का मत है कि प्रारब्ध अवश्य भोगना पड़ता है। ठीक है, परन्तु भक्तके लिये अपवाद है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योग क्षेमं वहाम्यहम्॥

के कथनानुसार भगवान को स्वयं भक्त की चिन्ता करनी पड़ती है और भक्त के प्रारब्ध के कुकर्म भाग का विकाश इस प्रकार करते हैं कि उसमे आगे के लिये क्रियमाण न तयार हों। प्रारब्ध भोग भी हो जाय और आगे के लिये कर्म न तयार हों। क्योंकि कर्मों के नाश बिना, न मुक्ति मिल सकती है और न प्रभु समीप में भक्त पहुँच सकता है।

जैसे कुल्हाड़ी अपने हर एक प्रहार में वृक्ष का कुछ अंश काटती है। पर वृक्ष पूर्ण न कट जाने तक खड़ा रहता है। उसी प्रकार नाम और ध्यान का सतत अभ्यास कर्मों को क्षीण करते रहते हैं अतः प्रभु स्मरण को निरंतर करते रहना चाहिए। यदि इसी बीच में कुकर्मों का उभाड़ हो तो भगवान की शरण में अपनी परवशता प्रकट करनी चाहिए। जैसे भूना चना नहीं उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार मन निरंतर श्यामसुन्दर के रंग में रंग जाने पर भी मीन की भांति उछलता तो उसे उछलने दो, वह भक्ति प्रभाव से नष्ट हो जायगा। एक ओर तो प्रारब्ध, क्रियमाण कर्मों के बढ़ाने में लगा है। और

जीव भगवान का भक्त नहीं है तो कर्म प्रवाह में बह जायगा। यदि भक्त है तो उसकी सहायिका प्रभु की कृपा बनती है। और प्रारब्ध कर्मों को कराती हुई क्रियमाण कर्म नहीं बनने देती।

सप्तदश सर्ग में जनकपुर से विदा की कथा कही गई है अष्टदश सर्ग में पावस और उन्नीसवें सर्ग में शरद हिमन्त शिशिर ऋतुओं का वर्णन है। बीसवें सर्ग में श्री रामचन्द्र जी का आखेट वर्णन है इक्कीसवें सर्ग में संसार रहस्य की चर्चा की गई है। बाइसवें सर्ग में श्री कौशिल्या जी का भ्रम वर्णन है इसी प्रकार आगे के सर्गों में विविध कथाएँ वर्णित हैं जिनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नोक्त है।

सम्प्रदाय

चेदी नरेश ने महाराज श्री रामचन्द्र जी से प्रश्न किया कि सम्प्रदाय के विभिन्न रूप होते हैं। यदि वे ईश्वर के मिलने के साधन वास्तव में हैं तो ईश्वर है एक तो उनको विभिन्न न होना चाहिए।

यदि राजा ईश्वर में विश्वास न रखे तो उसके राज्य में सम्प्रदाय का प्रचार ही न हो उससे प्रजा में स्वभावतः मिलाप रहेगा। ईश्वर को तो किसी ने देखा नहीं। योगी तपी उसकी प्राप्ति के लिये महा कष्ट उठाते हैं। किन्तु किसी ने स्वीकार नहीं किया कि उसको ईश्वर की प्राप्ति हुई है। ऐसी शंका को सुनकर श्री रामचन्द्र जी ने समाधान किया कि सूर्य से प्रकाश

का विकाश एकाकी रूप में होता है परन्तु पृथ्वी पर पहुँच कर वह अनेक रश्मिराशि में प्रकट होता है। समाज रूपी गंगा की धारा सम्प्रदाय विभिन्न रूप में हैं। कोई मनुष्य समाज से प्रथक नहीं है और समाज सम्प्रदाय से अलग नहीं हैं। जैसे मानवीय जाति है एक, किन्तु देशानुसार भिन्न आकृति होती हैं इसी प्रकार भिन्न सम्प्रदाय भी भिन्न धर्मों के अनुसार होते हैं। यदि राजा, लौकिक राज्य का प्रवर्तक है वह धर्म को प्राधान्य नहीं देता तो उसके देश में भौतिक बुद्धि की वृद्धि होगी।

वहां प्रजा तथा अधिकारी वर्ग में भोग भावना के साथ लोभादि बढ़ जावेंगे। इनके बढ़ जानेसे कर्तव्य कर्म से च्युत होने पर मनुष्य नष्ट हो जावेंगे।

वास्तव में सर्वस्व संसार ही नहीं है, यदि होता तो इसमें परिवर्तन न होते। परिवर्तनमय होनेसे ज्ञात होता है कि इसके परे कुछ पदार्थ अवश्य है। जैसे नदी की धारा का प्रवाह तभी तक होता है जब तक स्रोत का सम्बन्ध नदी से है। जिस दिन स्रोत सम्बन्ध बन्द हो जाता है उसी दिन से धारा में क्षीणता का अनुभव होने लगता है। जो मनुष्य संसार ही को सर्वस्व मानता है। तो क्या वह उसमें स्वातन्त्र्य-शक्ति देखता है यदि देखता है तो जलप्लावन, भूकम्प, प्रचण्ड पवन वज्राघात आदि उत्पात क्यों होते हैं। यदि कहा जाय कि वे प्रकृति के निमित्त बालिब इसड है, इनका होना अनिवार्य है

तो प्रश्न होना है इस सृष्टि का आदि और अन्त अवश्य होता होगा क्योंकि इसके प्रत्येक पदार्थों के साथ आदि और अन्त लगा है।

पूर्व कृत फलानुबन्धात्त दुत्पत्तिः
न्यायदर्शन अ० ३ आ२

पूर्व जन्म में जो मन वाणी और शरीर से कर्म किये हैं और उससे जो धर्माऽधर्म और उनका फल सुख दुःख का भोग उत्पन्न हुआ है, वही इस जन्म के होने का निमित्त कारण है।

क्योंकि शरीर में उत्पन्न होते ही भोग का आरम्भ हो जाता है जो विना किसी निमित्त के नहीं हो सकता। इसलिये कार्य रूप शरीर और उसके भोग से पूर्वकृत कर्मों का अनुमान होता है क्योंकि विना कारण के कोई कार्य नहीं होता। अतएव पञ्चभूत इस शरीर का उपादन कारण है न कि निमित्त कारण। अब शङ्का होती है कि जब शरीर नाश हो जाता है तो धर्माधर्म के संस्कार किसमें रहते हैं उत्तर सूक्ष्म शरीर में अर्थात् मनमें। यदि यह भी मान- लिया जाय तो शरीर के उत्पन्न करने का कारण तो माता पिता हैं।

नोत्पत्ति निमित्त त्वान्माता पित्रोः
न्याय दर्शन अ० ३ आ ३, ६७

माता पिता के रज वीर्य से शरीर की उत्पत्ति है। इस दृष्ट कारण को छोड़ कर अदृष्ट कर्म को निमित्त मानना ठीक नहीं है ऐसी शङ्का होने से उत्तर दिया जाता है कि स्त्री पुरुष के

जांय तो धूम समूह सारे घर में व्याप्त होकर उसे काला कर डालेगा, उसी प्रकार केवल लौकिक बुद्धिहोने से वह केवल लोक चिन्ता ही में मग्न रहेगी। दूसरी ओर लोक की दौड़ शरीर तक रहती है और वह नाशवान है। यदि लोक ही सर्वस्व है तब तो शरीरांत के पश्चात मनुष्य का लौकिक नाटक समाप्त हो जाता है। उसके पश्चात वह कहां जाता और उसका लोक से, क्या सम्बन्ध रहता है, साधारणतः नहीं जाना जा सकता। अस्तु लोक के परे परलोक अवश्य है, इतना ही नहीं इस सृष्टि का सृष्टा ईश्वर अवश्य है। जीवात्मा की दौड़का अभीष्ट पदार्थ ईश्वर ही है परन्तु लौकिक राज्याधिकार में उसका नाम तक नहीं लिया जाता। व्यक्तिगत रूप में लोग उसका स्मरण कर सकते हैं पर राष्ट्राधिकारी ऐसा करने में असमर्थ है। क्योंकि उसे ईश्वर स्वीकारता में किसी न किसी सम्प्रदाय का अनुगमन करना ही पड़ेगा। यथा राजा तथा प्रजा की कहावतके अनुसार आगे चल कर प्रजा भी ईश्वर को भूल जाती है। परिणाम यह होता है कि उस राज्य में स्वार्थ की मात्रा अधिक बढ़ जाती है और परोपकारादि कम पड़ जाते हैं। उसका प्रगमन ऊर्ध्व की ओर न होकर अधो दिशा की ओर होता है। ईश्वर की परिस्थिति एक राष्ट्र के न माननेसे नष्ट नहीं होती। किन्तु यह है कि ऐसे देशवासी उससे दूर हो जाते हैं और दूर होने से तिर्यकादि योनियों को प्राप्त होते हैं। अस्तु ईश्वर को मानना अनिवार्य है और यदि

ईश्वर स्वीकार किया गया तो सम्प्रदाय का मानना भी आवश्यक है।

इङ्गलैंड में भी साम्प्रदायिकता है प्रोटेस्टन्ट सम्प्रदाय ही का बादशाह हो सकता है। दूसरे राज्याभिषेक के समय कन्टेन्वरी का बिशप ही राजमुकुट के साथ राजा का अभिषेचन करता है। रूस को छोड़ कर कोई ऐसा देश नहीं जहां पर ईश्वर को न माना जाता हो और उस देश की पद्धति के अनुसार उसकी अर्चना न की जाती हो इतना ही नहीं ईसाई सम्प्रदाय का वहां प्राधान्य है, और राजनीतिके किसी पद स्वीकार करने के समय, सत्यारूढ़ रहने की शपथ ईश्वर के नाम के साथ ली जाती है।

इस लौकिक धर्म विहीन राज्य पद्धति का आरम्भ योरुप में हुआ था क्योंकि वहां पर धर्माध्यक्ष पोप को वहां के राजाओं पर विशेष अधिकार थे। उसको मिटाने के लिये ऐसे लौकिक राज्य की स्थापना हुई थी किन्तु इतने पर भी वहां ईश्वर और सम्प्रदाय दूर नहीं किये जा सके।

स्त्री-स्वातन्त्र्य

श्री महारानी सीता के यहां उनकी सहज सखियां आया जाया करती थी, एक दिन उनके साथ एक विदेशिनी स्त्री अपना अभिप्राय लेकर गई और श्री सीता जी के सन्मुख अपनाअ सिद्धान्त प्रकट किया कि पुरुषों के सामने समाधिकार स्त्रियों को मिलना चाहिये। स्त्री को परदे में रहना पड़ता है!

उसके परिवार के लोग उसे दाब कर रखते हैं। किसी से वह बोल भी नहीं पाती वह अपने चित्त की चाह को मुख पर नहीं ला सकती। पति से बचा उच्छिष्ट अन्न खाने को पाती है। और पति की सेवकिनी कहाती है। स्त्री, बुद्धि विद्या तथा बलादि में पुरुषों से कम नहीं है। अपुत्रिणी को दाय भाग भी ठीक ठीक नहीं मिलता। पुरुष अनेक स्त्रियों के साथ विवाह कर लो कर सकते है। पर स्त्री ऐसा नहीं कर सकती। उसके उत्तर में श्री सती सीता जी ने हँस कर कहा कि आ। तो दर-वाजा भी न खोल सकीं फिर भीतर क्या पदार्थ धरे है नही जान सकती। पूर्व काल से आर्यो का अभीष्ट संसार के सुख प्राप्त करना न था। प्रत्युत शरीर द्वारा सुकृत कार्यों को करके जन्म मरण से मुक्त होना है। स्त्री, पुरुष के बिना शोभित नहीं होती जैसे लता बिना वृक्ष के बकी वृक्ष पर बैठी रहती है बक उसके आहार का प्रबन्ध करता है। मयूरनियों के बीच मयूर नाच नाच कर उनको रिझाता हैं। समानता स्त्री पुरुषों में नहीं पुरुष से स्त्री श्रेष्ठ हैं पुरुष कठोर हैं स्त्री मृदुल मनोहर, स्त्री अपने चित्त को पुरुष को देकर उसका चित्त अपने वश में कर ली हैं पुरुष की सेवा कर उससे अपनी सेवा कराती है। इन्द्रिय तृप्ति अर्थ ही के लिये दंपति का संयोग नहीं होता। वरन दोनों धर्म करके अनेक जन्मों तक चिर संगी बनते है और अन्त में एक दूसरे के सहयोग से जन्म-मरण से दोनो मुक्त हो जाते हैं।

स्त्री को चाहिये पहले तन मन धन पुरुष को समर्पित करे और ऐसे समर्पण से पुरुष स्वतः अपना सर्वस्व स्त्री के हाथ में सौंप देता है। समान अधिकार के मांगने से तो ध्वनि निकलती है कि पति और पत्नी के बीच भिन्नता है नदी अपने मीठे जल को देकर हठ नहीं करती कि समुद्र जल मीठा हो, समुद्र की इच्छा पर छोड़ देती हैं, परिणाम यह होता है कि उसको अगाधत्व प्राप्त होता है। यदि अधिकार कांक्षिणी स्त्री है तो उसको अधिकार प्राप्त करने ही की चिन्ता रहेगी। उसमें परस्पर प्रेम नहीं हो सकता। क्योंकि प्रेम तो सर्वस्व-समर्पित करने में होता हैं। सारांश यह कि पति पत्नी को और पत्नी पति को अपना सर्वस्व सौंप कर सुखी रह सकती है। न कि समान अधिकार प्राप्त करने से।

साम्यवाद

श्री राम चन्द्र जी की राज-सभा में आकर एक विदेशी विनम्र वाणी में बोला कि उसे अपने सिद्धान्त प्रकट करने की अनुमति दी जावे। आज्ञा प्राप्त कर वह कहने लगा कि सूर्य ने अपनी उष्ण रश्मियों द्वारा कासार, वेशन्त आदि को का जल खींच लिया है वे सूखी पड़ी है उसी प्रकार प्रजा धन का अपहरण कर राजा दु.ख का कारण हैं। प्रजा और राजा में संघर्ष रहता है। राजा दूषा दुती हैं अतः प्रजा जन ही राज्यका प्रबन्ध करें। और प्रत्येक परिवार राष्ट्र का एक अङ्ग समझा जाय और उनकी सम्पत्ति भी राष्ट्र की सम्पत्ति हो। जनार्जन

धन प्रजा का न होकर राष्ट्र का है। किसी के मरण पश्चात उसकी सम्पत्ति उसके पुत्र को न मिल कर राष्ट्र-कोष में जमा की जाये, पुत्र पिता पतोहू सब की गणना राष्ट्र-जनमें की जाये, ऐसे राज्य में दरिद्र और धनिक का भेद न रहेगा, सब बराबर समझे जांयगे। किसी को अन्न वस्त्र की चिन्ता न होगी। क्योंकि उत्तरदायित्व राष्ट्र पर होगा। वह अन्न वस्त्र सब को देने का उत्तरदायी है।

पंगु, अंधा वृद्धा आदिकों को वस्त्रान्न राष्ट्र से मिलेंगे। वहां वैषम्यता राजा रंक की नहीं होगी। उत्तर में श्री रामचन्द्रजीने कहा कि संसार चक्र पर स्थित है वह एक दशा में नहीं रह सकता। जब राजा में स्वार्थ की मात्रा अधिक आ जाती है और प्रजा महापीड़ित हो उठती है उस समय प्रजामें सामूहिक शक्ति उत्पन्न होती है उसके बल पर वह राजा से शासन कार्य छीन लेती है और उसका प्रबन्ध स्वयं करने लगती हैं, किन्तु राजा की प्रणाली ही पर प्रजा द्वारा चुना हुआ प्रजापति शासन करता है। प्रजा अर्जित पदार्थ को लेकर उनको केवल वस्त्रान्न देता है। उनको स्वाधीनता प्राप्त नहीं रहती वे अपनी अपनी अर्जित वित्तको अपने पुत्र को भी नहीं दे सकते। व्यक्ति विचार का विनाश हो जाता है जब व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं है तो वह प्रजा के लिये कारा समान है। कुछ अधिकारी वृन्द सारे राष्ट्र पर शासन करते हैं।

वहां बड़े-बड़े बुद्धिमान राष्ट्र-निश्चय के विरुद्ध बोल नहीं सकते ।

राजा पृथा से प्रजापति पृथा कैसे अच्छी कही जा सकती है। पिछली में भी प्रजा के हाथ में शासन तो रहता नहीं। प्रजापति ही अपने निश्चय के अनुसार शासन करता है। वह कठिन से कठिन दण्ड, स्वल्प अपराध में देनेमें संकोच नहीं करता। वहां पर प्रजा आत्मीय सम्बन्ध विहीन होती हैं।

वास्तव में प्रत्येक कण में भिन्नता है, उसी प्रकार व्यतिगत भिन्नता मानवीय समाज में भी है। यदि भिन्नभाव भूपित व्यक्ति अपनी रुचि अनुसार मर्यादा के अन्तर्गत कार्य करने को स्वतन्त्र है तब तो उसे स्वतन्त्रता मिली कही जा सकती है। यदि उसकी स्वतन्त्रता किसी राज्याधिकार द्वारा नष्ट कर दी गई है तो वह स्वतन्त्र देश नहीं कहा जा सकता। इस संसार में साम्यता नहीं है। कहीं नाला कहीं नदी कहीं समुद्र। ताड़ क्षुद्र, शिखरोच-शैल, गम्भीर गर्त पूर्ण पृथ्वी है। उसी प्रकार मनुष्य में मानसिक साम्यता नहीं है पण्डित मूर्ख, परोपकारी, स्वार्थी, विद्वान वाग्मी मूढ़ द्वन्द दशा से वह मानस पाया जाता है। अतः जब जगत में साम्यता नहीं है तब साम्यवादका ढकोसला करके कुछ बुद्धि विशारद स्वार्थी अपना स्वार्थ साधन करते हैं।

उपरोक्त साम्यवाद में बलात धन द्रव्य का अपहरण जाता है। एक मनुष्य ने श्रम साधन से धन कमाया

भोग का अधिकारी न्यायानुकूल वही है। यदि उसके धन को कुछ दरिद्र मनुष्य लूट लें और वे यह तर्क उत्पन्न करें कि धनिक के पास धन उसकी आवश्यकता से अधिकतर था इसलिये उसका बलात भी लेना न्यायानुकूल है। ऐसा कथन तर्कहीन है। क्योंकि व्यैयक्तिक धनार्जनमें उसी व्यक्ति का अधि- है जो अर्जन करता है।

यदि कहा जावे कि उसकी आवश्यकता से अधिक धन उसके पास हो जावे तो छीन लेना चाहिये। यदि छीनने की प्रथा उचित समझी जायगी तो फिर यह विचार न किया जा सकेगा कि अमुक के पास वास्तव में आवश्यकता से अधिक धन है। स्वल्प धनिक भी लूट लिये जाया करेंगे और यह अभ्यास इतना बढ़ सकता है कि परस्पर लूट मार ही पर जीवन-निर्वाह किया जायगा आगे चल कर के श्री रामचन्द्रजी ने विदेशी वक्ता से कहा कि आपके साम्यवाद के विरुद्ध आर्य-समाज का साम्यवाद उत्तम है। भोजन करने के पूर्व प्रत्येक आर्य का कर्तव्य है कि वह एक बार अपने द्वार पर देख ले कि कोई अतिथि तो नहीं आया। यदि आया हो तो उसका पहले भोजन देकर तब भोजन करे। भिक्षुकोंको भिक्षा देना अनिवार्य है। उपकार सर्वेष्ट माना जाता है। तीर्थोंमें धनिक धन द्रव्य का दान करते हैं। पर्वादि में प्रत्येक प्राणी वित्ता-नुसार दान देता है। सन्यासी एवं साधू के द्वार आने पर सिद्धान्त देना परम कर्तव्य है यहां तक स्वयं भूखा रह कर

अतिथि को भोजनसे तृप्त करें। वापी कूप, तड़ाग, धर्मशाला सेतु आराम पथिकालय का निर्माण करते हैं। 'वस्त्रान्न दते तथा सत्र भी खोलते हैं।

राजा रघु ने अपना सर्वस्व दान कर दिया था। ऐसे उदार इस आर्य समाज में हुए हैं कि कई दिनों के भूखे व्यक्ति के सन्मुख जैसे थाली परोस कर भोजन के साथ लाई गई कि एक आगन्तुक ने कहा कि वह उससे अधिक दिनों का भूखा है। तत्काल थाली उसकी ओर सरका दी और उदार भाव से कहा कि आप मेरी अपेक्षा इस भोजन प्राप्त करने के अधिकारी है।

जिस जाति का सिद्धान्त है कि चराचर की सेवा करना ही कर्तव्य है वह सर्व श्रेष्ठ समाज है।

पृष्ठ वास्तुनि कुर्वीत वलिं सर्वात्म भूतये
पितृभ्यो वलिं शेष तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्

वास्तु के पृष्ट भाग में सर्वात्म भूत को, और जो कुछ अन्न बचे वह लेकर वास्तु के दक्षिण भाग में पितरों को वलि दें।

शुना च पतितानां च श्वपचां पाप रोगिणाम।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि॥

मनु० अ० ३—९२

कुत्तों, पतितों, श्वपचों, पापरोगियों, कौवों, और कीड़े मकोड़ों का धीरे धरती पर बलि दे।

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्य स्वर्ग्यं वातिथि पूजनम् ॥
म० अ० ३—१०६

घर में कोई अच्छी चीज खाने की हो तो उसे अतिथि को खिलाये बिना स्वयं न खाय। अतिथि को भलीभाँति भोजन कराने से यश और आयु की वृद्धि होती है तथा जन्मान्तर में स्वर्ग सुख प्राप्त होता है। ऐसा नियम किस जाति तथा समाज में है कि दूसरों को भोजन खिलाकर तब गृहस्थ भोजन करे।

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि
भुञ्जीयतां ततः पश्चादवशिष्ट तु दम्पती

पहले अतिथि ब्राह्मण, और आत्मीय, पोष्य वर्गों को भोजन कराकर पीछे जो अन्न बचे वह पति पत्नी भोजन करें।

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचात्यात्म कारणात।
यज्ञ शिष्टाशनं ह्ये तत्सतामन्नं विधीयते ॥
मनु० अ० ३—११८

जो अपने ही लिये भोजन बनाकर देवता पितर आदि को नहीं देता वह अन्न न खाकर केवल पाप खाता है। सज्जनों के लिये तो यज्ञावशिष्ट अन्न ही भोजन के लिये प्रशस्त है राजा के सम्बन्ध में मनु जी कहते हैं।

एवं वृत्तस्य नृपते. शिलोञ्छेनापि जीवतः
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दु रिवाम्भसि

वह राजा यदि शिलोञ्छवृत्ति से भी जीवन निर्वाह करे

तो भी उसका यश संसार में इस तरह फैलता है जैसे पानी में तेल के बूंद फैलते हैं।

यदि राज-कुलोद्भव राजा है और दूसरी ओर प्रजा द्वारा एक प्रजा ही प्रजापति रूप में चुना जाता है तो दोनों के बीच बड़ा भेद है। राज पुत्र उत्तराधिकारी अपने पिता का होता है और उसका भी पुत्र उसका उत्तराधिकारी होगा। अर्थात राज पद्धति में उत्तरोत्तर राजवंशज ही शासक होते हैं उनको यह चिंता नहीं होती कि यदि प्रजा उसकी अनुचित कार्यवाही से अप्रसन्न हो गई तो वह भविष्य में शासनारूढ़ न करेगी क्योंकि राज पुत्र का दायाधिकार शासक होना है। राज पद्धति में यदि राजा में दोष आगये तो वह अपने कर्तव्य कर्म से च्युत हो जाता है। इसकी रोक रखने के लिये त्याग मूर्ति ब्राह्मण मंत्री रखे जाते थे कि जिसमें राजा पथ भ्रष्ट न होने पावे। यदि वेणु के समान कोई राजा भ्रष्ट हुआ तो उसको प्रजा की सम्मति से ब्राह्मण मंत्री राजच्युत कर देते थे वर्तमान समय में इंगलैंड की शासन पद्धति जिसमें मंत्रियों के अधिकार प्रयोजन से अधिक रखे गये हैं। मिलती जुलती है। राजा की आज्ञा प्राप्त करने का ढकोसला तो वहां किया जाता है। पर वास्तव में वह मंत्रियों के निश्चय के विरुद्ध करने का साहस नहीं रखता। यदि कुछ करता है तो जनपद सभा में उस पर वादानुवाद होता है और फिर राजा के पास स्वीकृत के लिये भेजा जाता है प्रजा मताधिक्य के सन्मुख उसको
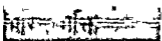
भगवान श्रीरामचन्द्रजी

दुखित दीन, सुदान—दया करें
सुमति की चुटकी चट दे उसे
विमुख द्वार कहाँ जन जा सके
सतत थार—विचार लिये खड़ी ॥९॥

चरण—चुम्बन, चंदन—कीर्ति दे
चँवर दन्तिन[१] पै उसके चलें
चतुर—चारण[२] चारक[३] चेतना
सुयश गान करें सुचतुर्दिशा ॥१०॥

गिर—गिरा गुण गौरव प्रेरती
नमतही मति—मंद, अमंद हो
विभु विभा प्रकटे भुवनेश्वरी
"सिरस" राघव के गुण गा रहा ॥११॥

"सिरस" गूढ़—कथा रघुनाथ की
कह सके कब जाल पड़ा हुआ
विषयिनी[४]—विषयी—विष से भरीं
शव—सड़ी दुरगन्ध करे यथा ॥१२॥

तदपि मैं विनयी विनती करूँ
चरित श्री प्रभु का सत—चित्त से
सतत आनन्द गीत सुना सकूँ
सफल जन्म करूँ वर—विप्र का ॥१३॥

---

१ हाथी २ बंदीजन ३ जासूस ४ इन्द्रियां

बहु लिखा यश राम—महेन्द्र का
पर न तुष्टि हुई गुण—गान से
चरित नित्य नये रचते रहो
मधुर खाकर भूख बनी रहे ॥४॥
"सिरस"—शिष्य, कथा—रघुनाथ की
कह सके शुचि—बुद्धि प्रदान हो
सुमति—कोष—प्रधान गणाधिपे
जयति हो जय श्री गणराज की ॥५॥
गिर१ दिखे मुख चन्द्र छिपा रहे
सित—सुवस्त्र धरें यश कीर्ति का
तम—कुबुद्धि हरें मम भारती
रवि—प्रकाश यथा निशि नाशता ॥६॥
मधुर—शब्द रचे मधुजा२ मिले
मधु—कथा—मधुसूदन वर्णिका
मदिर३—मानस मातृ—मरालिका
सुकविता—कमला कवि कामदा ॥७॥
विहित—शब्द न भाव विवेक है
सुमति की गति गौरवता नहीं
उडुप४, सिन्धु न पार लगा सके
जननि पोत—कृपा वश पार हो ॥८॥

---

१ सरस्वती २ मिश्री ३ आनन्दकारी ४ घन्नई

दुरित दीन, सुदान—दया करें
सुमति की चुटकी चट दे उसे
विमुख द्वार कहाँ जन जा सके
सतत थार—विचार लिये खड़ी ॥६॥

चरण—चुम्बन, चंदन—कीर्ति दे
चँवर दन्तिन[१] पै उसके चलें
चतुर—चारण[२] चारक[३] चेतना
सुयश गान करें सुचतुर्दिशा ॥१०॥

गिर—गिरा गुण गौरव प्रेरती
नमतही मति—मंद, अमंद हो
विभु विभा प्रकटे भुवनेश्वरी
"सिरस" राघव के गुण गा रहा ॥११॥

"सिरस" गूढ़—कथा रघुनाथ की
कह सके कब जाल पड़ा हुआ
विषयिनी[४]—विषयी—विष से भरी
शव—सड़ी दुरगन्ध करे यथा ॥१२॥

तदपि मैं विनयी विनती करूँ
चरित श्री प्रभु का सत—चित्त से
सतत आनन्द गीत सुना सकूँ
सफल जन्म करूँ वर—विप्र का ॥१३॥

---

१ हाथी २ बंदीजन ३ जासूस ४ इन्द्रिया

तृण पड़ा महि के तल—गर्त में
उड़ चला सँग वायु—प्रवाह में
शिखर—शैल—शिखा शिर से बढ़ा
गगन में पहुँचा क्षण मात्र में ॥१४॥
सदय श्री रघुनाथ कृपा करें
जगत—जाल गले इव शर्करा
प्रकृति प्रोक्षित१ भाव विनाश हों
रवि—प्रकाश हुए न तमान्धता ॥१५॥
यह नयी न प्रथा प्रभु आप की
पतित पावन है किसने किया
"सिरस" सा अघ—ओघ सना हुआ
मिल सके न कहीं त्रय—लोक में ॥१६॥
रजत—पात्र भरूँ विष, मैं सदा
दिन कहूँ निशि, वासर यामिनी
मदन—मादक—मोद महा मिले
मरु बसा, गुण—सागर क्या कहूँ ॥१७॥
अवुधता अधमातुरता बड़ी
तरल—गर्व महा करता सदा
परुष२—पांशन३—वाक्य प्रधानता
रस भरी रसना रहती मुदा ॥१८॥

---

१ सींचा गया २ कठोर ३ अपमानकारी

करक[१] की कमली शिर ओढ़ के
प्रतन[२] पीवर[३] पापि पड़ा रहूँ
वृजिन[४] बद्ध बड़ा निज कर्म से
प्रकृति नित्य नये—दुख दे रही ॥१९॥
कलुष[५]—कर्म करूँ कब मैं नहीं
न अवगीत[६] बचा, अभिपन्न[७] हूँ
अनयन[८] अन्वित[९] हूँ अभिकाम[१०] से
अरसता[११] बसती मन में सदा ॥२०॥
तुम कहाँ प्रभु ! पामर मैं कहाँ !
नभ रसातल अन्तर भेद है
तव कृपा अघ—ओघ विनाशती
रवि—प्रकाश प्रकाशित मेदिनी ॥२१॥
मति तथा मन हैं वश वासना
प्रकृति की अटवी भ्रमते फिरें
मरण जन्म जरा सँग में जरूँ
पशु चरे तृण औ पनपे चरे ॥२२॥
लहर सिन्धु उठे जल मध्य से
तट समीप गई पुनि लौटती
क्रम न बन्द रहे दिन रात भी
अहह, दुख न घोर मिटा कभी ॥२३॥

---

१ पाप २ पुराना ३ मोटा ४ क्लेश ५ पाप ६ लोकापवाद ७ अपराधी
८ दौर्भाग्य ९ सम्बन्ध प्राप्त १० वासना ११ अगुणकारिता

जब बने जल, बाष्प, पयोधि का
उठ सके तब ऊपर व्योम में
लहर घात विघात परे हुआ
जगत से जन—जीवन मुक्त हो ॥२४॥

दुखित दीन पुकार करे जभी
दुख करो सब दूर जहाँ सुनो
सुमति—शक्ति मिले उसको तभी
चल पड़े बिजली—गति तार में ॥२५॥

जप व्रतादिक योग न ज्ञान से
न मख दान न वेद पुराण से
तर सके भव—सिन्धु अगाध है
"सिरस" नीच कहो तब क्या करे ॥२६॥

यदि कृपा प्रभु नीच न पा सके
प्रलय भी उसको न उठा सके
जगत—सूक्ष्म—दशा गत हो गया
पर सकर्म न जीव विमुक्त है ॥२७॥

सतत नीच नराधमता करें
बढ़ चले अघ—ओघ अपार हों
सुजन भी हिलते डुलते रहें
महि—प्रकंपन से घर क्यों गिरें ॥२८॥

अधमता यदि सृष्टि बढ़े महा
प्रलय कम्पन शीघ्र हुआ करे
विधि विधान समेत न कार्य हों
पग प्रपीड़ित हो नर पंगुला ॥२९॥

इसलिये प्रभु नीच उधारते
जगत की गति क्यों प्रतिकूल हो
प्रकृति का मल धो सच्ची कृपा
छन गया जल जो, अति शुद्ध हो ॥३०॥

कर चुका करता बहु पाप मैं
प्रकृति सम्मुख चूक करूँ सदा
सकल कर्म घिरे मन बाँधते
मलिनता जमती बढ़ती रही ॥३१॥

सरित नीर बढ़े बहु रेत ले
पर न पर्वत बोर सका कभी
मम कुकर्म कड़े पवि से महा
सहज नष्ट न हो सकते कभी ॥३२॥

चरित चारु कृपा निधि आपका
सपदि नाश करे सब कर्म को
प्रसव जो करता करुणा महा
सतत .पर्वत निर्झर ज्यों झरें ॥३३॥

पग—प्रदीप—प्रकाश विना प्रभो
निकट जा सकता उसके नहीं
प्रभु दयालु दया दयिता१ मुदा२
मम मनोरथ सिद्ध करें सभी ॥३४॥
मुनि मुनीन्द्र सभी गुण नाथ का
सतत गाकर वे सुख शान्ति हों
बस, सुसेतु यही भव—सिन्धु का
सहज पार सके कर जीव है ॥३५॥
विषय में रत बुद्धि सनी हुई
सतत निद्रित जाग्रत मग्न हूं
प्रकृति से परमेश परे रहो
शुचि चरित्र न वर्णन हो सके ॥३६॥
जब न रेंग सके थल कीट जो
वह कहाँ नभ में उड़ता फिरे
चढ़ गया जब वायु—विमान में
विपुल क्रोश३ उड़े दिन एक में ॥३७॥
प्रभु—कृपा मुझ पै यदि हो कहीं
जगत—जाल न रोक सके कभी
जग—रहस्य खुलें द्रुत दास पै
लख पड़े सब, द्वार खुला जभी ॥३८॥

---

१ चाही हुई, अभिलषित २ प्रसन्नता ३ कोस

सगुण—रूप—सुमेर अनन्त का
बन प्रधान सके गुण—गान का
प्रकृति की परिखा जन लांघता
सहज साधन भक्ति—प्रभाव से ॥३९॥
प्रकृति की नस की नस खींचता
नर स्वरूप बना नरता हरे
विषय की विपता सब नाशता
विष हरे विष पूरित—औषधी ॥४०॥
सगुणता नर को निज कर्म से
गुरु—गिरा उपदेश दिया करे
सकल साधन के गुण आ—मिलें,
जगत—ज्ञान सिखे शिशु खेलता ॥४१॥
सहज में भव—सागर पार हो
सगुण—ध्यान करे गुण गान में
बढ़ चले रघुनाथ समीप को
पुल बना जल भीतर से बहे ॥४२॥

* वंशस्थ छंद *

मनुष्य देही, प्रभु-देहवान हों
विमुक्त माया-पथ जीव होरहे
लगा अभी चित्र सुरेन्द्र-पाद में
बना विमोही जग जाल में पड़ा ॥४३॥

समाधि योगी तन-ज्ञान हो नहीं
हुआ विदेही, जब देह में रहे
अदेह की हो जब ध्यान कल्पना
खिंचे हुए श्रीपति आ विराजते ॥४४॥

विचार जैसे मन में विकाश हो
क्रिया करातीं अनुरूप इन्द्रियाँ
मनोज जागे जग काम वासना
करे वही बालक—जन्म को यहाँ ॥४५

मिला दिया श्वेत सुकृष्ण रंग में
हुआ पिंडोरी रँग रूप और हो
उसे बढ़ाते जितना चले चलो
विशुद्धता श्वेत विशेष ही दिखे ॥४६॥

वहाँ न माया करती प्रकाश है
तमांध कैसे रवि साथ में रहे
सुभक्त, योगी बनता सुप्रेम से
सुबीज से ज्यों फल फूल हों बड़े ॥४७॥

सुगंध फैली बहु दूर वायु ले
सुइत्र की गंध विभिन्न फूल की
सुबीज में वे गुण वर्तमान थे
विकाश पाया जब प्रौढ़ता हुई ॥४८॥

सदेह को, भाव-अदेह ले मिला
अनित्य को नित्य प्रभाव में करे
अदेह, देही बनता सगोत्र सा
धरा जहां ध्यान सदेह-रामका ॥४६॥

हुआ अनामी जब नाम रूप का
पयान हो देह-विचार-मोह के
सप्रेम से माधव को बुला लिया
सदा सुस्वामी कहके पुकारता ॥५०॥

मिले न ऐसा सुख योग ज्ञान में
न यज्ञ योगानल ध्यान दान में
करें क्रियाएँ विपरीत ही सभी
विमुक्तताचाह प्रधान चित्त हो ॥५१॥

वहाँ न माया निज स्वार्थ त्यागती
विमुक्त जिज्ञासु स्वओर खींचती
अनंत फँसी यदि वस्तु है गई
सशक्ति आकर्पित भूमि ने किया ॥५२॥

न सिद्ध होता तप ज्ञान योग है
अनेक बाधा विपयादि घेरतीं
करें वही जो उनको सदा रुचे
पयोधि तैरे न तरंग से बचे ॥५३॥

कृशानु कैसे जल संग में रहे
पयोधि साथी मरु-भूमि हो कहाँ
निदाघ को शीत भली नहीं लगे
प्रमत्त-माया किसको न फांसती ॥५४॥

कृपा करो नाथ, अनाथ हूँ प्रभो
महान माया वश हीन शक्ति हूँ
अनेक जन्मों तक संग में फिरा
सदा डुबाये दुख में रही मुझे ॥५५॥

कृपा करो नाथ सनाथ हो रहूं
दयालु दीनों पर की सदा दया
स्वभाव मेरा करुणाभिलाषी
सदा सँभालो मम योग क्षेम को ॥५६॥

उपेन्द्र वज्रा छन्द

प्रभो पड़ा हूं पग-पद्म आके
दया दिखाओ जग पार होऊं
पयोधि से वस्तु पड़े मही पै
प्रचंड झंझा-बल ही बहाता ॥५७॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव

! प्रथम सर्ग समाप्त :

द्वितीय सर्गः

* द्रुत विलंबित छंद *

अवधनगर वर्णन

अवधि अंत हुई दुख की जभी
अवध में तिलकोत्सव—राम था
निशि व्यतीत हुई रवि-रश्मि ज्यों
द्युति--प्रकाश करें दिशि पूर्व में ॥१॥

छवि-छटा पुर की कह को सके
सब गली पथ धाम सजे हुए
पुरट१—वंदन वार बँधे जहाँ
मणि लगीं जिसमें बहु रंग की ॥२॥

सुख-अभ्यूह बना सुर-मोह का
निकल क्या सकते सनकादि भी
मन-मुनीन्द्र रमे अवलोक के
अवध-सुन्दर, मन्दर२ से कहीं ॥३॥

---

१ स्वर्ण २ स्वर्ग

धवल-धाम पुते सित-रंग के
चमकती जिनकी शिखरोच्चता
मिट गई बहु-काल-मलीनता
सरुज—अंग, हुआ रुज-हीन ज्यों ॥४॥

विविध-रंग रँगे गृह भूप के
सदन-सौध सजे बहु भाँति से
निवसते सुकृती जन हैं जहाँ
अमर ज्यों बसते अमरापुरी ॥५॥

सज गये अवरोधन१--धाम भी
प्रवण२ देहलि तोरण३ वेदिका
अजिर गोपुर४ औ अधिरोहिणी५
नव शृङ्गार किये पति—आगता ॥६॥

विपिणि६, आपण७शिल्पि८निशान्त जे
विपथ भी पथिकावलि मोहते
कलश कोपल-आम्र सुद्वार में
रचित चौक धरे शुभ-सूचना ॥७॥

सकल मन्दिर--देव प्रसादना९
विधि विधान करें सुर अर्चना
अवध--आनन्द बाढ़ बढ़ी नई
नगर को बिजली--घर, दीप्ति दे ॥८॥

---

१ अन्त:पुर, २ दहलीज, ३ घर के बाहर का फाटक, ४ नगर के बाहर [का] फाटक, ५ काठ की सीढ़ी, ६ जहां बाजार न हो, ७ बाजार, ८ कारीगरों [के] मकान, ९ सेना

अवध द्वादश-योजन का बना
नगर निर्मित था युत विज्ञता
शतपथी--सुदिशा प्रति ओर थीं
कुल-वधू--नगरी, कबरी१ गली ॥९॥

प्रति निकेतन-द्वार सुमार्ग थे
सुलभता वश वाहन जा सकें
यम-दिशा पुनि पश्चिम पूर्व में
पुर बसा त्रय--षोडश-क्रोश का ॥१०॥

सरित उत्तर में सरयू बहे
सुपथ दक्षिण था तट भी सजा
फिर बने बहु मन्दिर-देव थे
शुचि सभा, सतसंग—निकेत थे ॥११॥

मठ जनाश्रय थे हित अन्य के
सदन—विप्र बने उस पृष्ठ पे
अजिर स्वच्छ सजी सुमनावली
हृदय—निर्मल उच्च विचार हों ॥१२॥

१, गुथी हुई चोटी.

★ ब्राह्मण ★

शुचि-महाकुल१, श्रोत्रियर२,थे गृही
मुनि, यती, षटकर्मिन३, औ तपी
नियमशील४, सुदांत५, उपासकी
कवि, सुधी, गुरु, दीक्षित६, सोमपा७ ॥१३॥

कृतिन८, ऋत्विज९, होतृ१०, समावृती११
यम१२, तपस्विन, छन्दस१३, जापकी
सब सतोगुण के गुणगान में
निरत थे, सरि ज्यों जलपूर्ण हो ॥१४॥

हविष१४, होम, सुयज्ञिय१५ दान में
द्विज परीष्टि१६ गृहागत१७, पूजते
पितर तुष्ट रहें उनसे सदा
शिव यथा अनुकूल सुभक्त से ॥१५॥

---

१ सज्जन २ वेदपाठी ३ अध्यन, दान, याजन, अध्यापन, प्रतिग्र इन षट्कर्मों से युत विप्र ४ शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान इन आगन्तु कर्म साधन का नाम नियम है । ५ तपस्या के कष्टों का सह करने वाला, उदार । ६,सोमयज्ञ.का यजमान, ७ सोमवल्ली का रस पी वाला, ८ विद्वान, ९ जिनका यज्ञ में वरण किया जाय । १० ऋगवेदी ११ गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम,में प्रवेश करने वाला । १२ अहिंसादि १३ गायत्री, १४ साकल्य, १५ यज्ञ योग्य वस्तु, १६ श्राद्ध में ब्राह्मणों क भक्ति और सेवा, १७ अतिथि ।

सतत वर्ष चले द्विज जा रहे
सहित भूप प्रजा-जन संग ले
गमन-शक्ति लिये तप की भली
जुड़ चलीं इव इन्जिन गाड़ियां १६

अपर-लोक बनें, इस लोक से
निगम,-कर्म-धरा कहते इसे
इत किया उत क्यों मिलता महा
शतहृदा चमकी महि दीखती १७

मति-विशुद्ध दिखे त्रय-काल में
भुवन-चौदह को अवलोकती
कब कहां जन क्या कर हैं रहे
प्रकट ज्यों मुख दर्पण स्वच्छ में १८

इसलिये नृप ने अगुआ किया
द्विज-महाकुल ज्ञान--समुद्र है
सँग लगे उनके जन पार हों
शकट बैठ चले पथ पंगु ज्यों १६

अमित-कर्म प्रदायक भ्रान्त के
घिर रहे नृप को जनता तथा
किधर दें पग अग्र कहां पड़े

शरण गोविंद जा, निज कर्म को
निखिल दग्ध किया अप्रयास ही
रवि-रमेश जहां, रजनी नहीं
सत, प्रकाश विकाश करे सदा २१

नृप करें जन शासन लोक में
प्रकृति शासित विप्र-समाज से
हरि बसें हृद में विजयी बने
मणि समूह रहे न दरिद्रता २२

विशद शासन-पद्धति-विप्र की
रचित, भूप प्रजा-हित एक हो
उभय त्याग करें निज स्वार्थ, का
युगुल आनँद-मूर्ति बनें तभी २३

निरत-शासन स्वार्थ-विहीन जो
नृपति, स्वर्ग, धरा विजयी बना
कर रहा तब भूपति-संयमी
द्विज, सुमार्ग दिखा नृप को दिया २४

लख कभी सुख भूल न लोक के
दुख दिखें सुरनाथ—निकेत में
समुद—भूप करें तिन अर्चना
फनद—पारस साथ रहे सुखी २५

वाटिका

यम-दिशा उनके बहु वाटिका
विलसती अलि मोद प्रदायिनी
विकच१, कोरक२, जालक३, हैं कली
कुसुम, केशर से सब हैं लदे २६

उलप ४—बेल चढ़ी तरु—डार में
प्रिय प्रिया कर बंधन ज्यों बँधा
युगुल शोभित हो यक साथ में
सुख विभाजित हो न जहां कभी २७

गुड़हरी—गुण—गौरव—लालिमा
मृदुल—अंग सजे गुलमेहँदी
सुमन रंग सुरंग हुए वृथा
जब सुगंध, नहीं न दया यथा २८

महँक, मत्त—मिलिंद, गुलाब में
नव—कली न खिली कुछ भी नहीं
पर, लसी मधुपावलि द्वार में
नव-नतागि, न नायक खोजती २९

दुपहरी हरती गुण गुच्छ का
प्रखरता तन औं सुकुमारता
कब सुगंध बिना सुख वायु को
गलित—यौवन—वाम न मोहती ३०

१फूली हुई, २बिना फूली कली,कली ३खिली हुई नई कली, ४बड़ी लम्बी लता

अति सुगंधित-फूल सु-केतकी
पँखुरियां—सित—पुष्प पराग लों
हरित—पत्र छिपी रहतीं सदा
नव—वधू मुख को कब खोलती ३१

तरु—विशाल सकंटक पूर्ण हैं
पर भुजंग—प्रमत्त सुगंध में
शयित१—शीन२ समान न डोलता
मदन मन्त्रित३—मोह न ज्ञान हो ३२

मृदुलता, लतिकामय मालती
सुघरता घिरती रहती जिसे
सित सुपुष्प सुगंध समीर को
मुदित दे इव कामिनि कंत को ३३

कल—कली—कुल कोरक—मल्लिका
अति सुगंध घनी बहु अकुला
विकचता४ कब हो अलि को मिले
नव, अनंग अनंदिन, कामिनी ३४

हर सिंगार शृंगार किये हुए
सुमन श्वेत सुरंग मिले भले
तरु तले महि फूल बिछे जहाँ
जननि पुत्र करे बहु अर्चना ३५

---

१ लेटा हुआ, २ अजगर, ३ नशीला ४ खिलाना,

कुसुम सेवित थीं फुलवारियां
मधुप हो मद—माधुर१—माधुरी२
विहरते रमते सुमनावली
मुदित ज्यों सँग नायक नायिका ३६

क्षत्रिय

सदन दक्षिण थे उसके वहां
निवसते शुचि क्षत्रिय—वीर थे
शत—छटा—गृह—सुन्दर—हेम के
बहु कलामय कौशल पूर्ण थे ३७

गृह—गवाक्ष३ अनेक चतुर्दिशा
रचित थे अति आयत४ लम्ब जो
कर सके उनके बहु—भाग भी
जब चहें जितना सुख वे सकें ३८

निशि, प्रदीप्त प्रकाशित धाम हों
शशिमुखी सम शोभित वे सभी
सदन—सुन्दरता इनमें बढ़ी
सुमति ज्यों करती हृद-शुद्धता ३९

प्रति निकेतन चारु चतुर्दिशा
विविध-पुष्प सुगंध बहा रहे
इक कुबेर मिला रथचैत्र५ है
अवध में सबके सुर—वाटिका ४०

---

१ बेला व फूल, २ मिठास ३ खिड़की, ४ चौड़ा, ५ चैत्ररथ वाटिका

बल--तरंग उठे तन-सिन्धु में
पर, रहे निज चित्त बँधे हुए
निपुण थे सब युद्ध-कला महा
विजय ली जग की रघुवंश ने ॥४१॥

शर-समूह प्रहार हुआ जहाँ
शमन थे करते क्षण एक में
निज-निषंग--विषांग चला दिया
अमर-लोक गया अरि सबही ॥४२॥

बल-बली, न मलीन हुए कभी
समर—शूर करें जय--घोष वे
मरण कौतुक सा समझे रहें
सुख—प्रदा सबको रण-मृत्यु है ॥४३॥

कवच-शीर्षक१ अंग धरे हुए
कर शरासन बाण समूह ले
समर में उतरे जब वे जहाँ
अरि डरें इव भेक, भुजंग को ॥४४॥

दिव,२ अनंत,३ रसातल भूमि में
अरि प्रकोपित हो ललकारते
सतत शब्द--सधे शर छोड़ते
घन-मघा बरसे बरसात ज्यों ॥४५॥

---

१ टोप २ स्वर्ग ३ प्रकाश

तुमुल-युद्ध प्रचारक थे बड़े
परम--धीर धरे रण धैर्य थे
रण पलायन शत्रु हुआ जहाँ
वध न थे करते अरि को कभी ॥४६॥

समर में अरि को अरि मानते
हृदय से मिलते घर जो गया
कपट-चाल चले जब शत्रु है
अरि अचानक घेर प्रचारते ॥४७॥

जगत में परलोक बना सकें
सतत कर्म करें शुचि लोक में
निरत मोह, न, बोध सदा रहे
शरण शत्रु हुआ तब मित्र हैं ॥४८॥

समर में दुख को सुख मानते
सहन-शक्ति सदा उनके रहे
सह सके जन कष्ट नहीं जहाँ
विहँसते रहते रण-शूर थे ॥४९॥

असुर औ सुर किन्नर नाग भी
नर--नरेश सुरेश बली बड़े
सब चहें रघुवंश सहायता
जगत धाक बँधी जिनकी महा ॥५०॥

सतत दीन दया करते रहें
जब पुकार सुनी उनकी, उठे
हर लिया दुख, और सुख भी दिया
घन भरें सर, धान हरे करें ॥५१॥

नय-परायण धर्य--धुरीण थे
सहनशील वृतो--शुचि—सत्य के
जगत--नश्वरता समझें भले
विपय से विमुखी रहते सदा ॥५२॥

पतिव्रता सब थीं ललना वहां
पुरुप भी वनिता व्रत थे सभी
युगुल--मूर्ति बँधी रस--प्रेम में
सदन--खंभ खड़े इव लोह लें ॥५३॥

वैश्य

निकट दक्षिण वैश्य बसे हुए
सदन सौध समान सजे हुए
विविध पण्य[1] भरीं बहु वस्तु से
जन—कुबेर, पुरी—अलकापुरी ५४

कुशलमुख्य[2] वर वैश्य महोद्यमी[3]
विविध वृत्ति[4] उपार्जक द्रव्य के
निपुण थे गुण भिन्न विभेद में
वणिकता, पशु—पालन, औ कृषी ५५

जिस प्रकार मिले धन धान्य है
तदनुसार करें बहु यत्न हैं
मनस औ तन ताप सहें सदा
धन, धरा, हित थे अति वे श्रमी ५६

धनद हो धन दें, मन मोल लें
रजत हाटक, हाट भरे हुए
मणि प्रवाल सुमौक्तिक हार थे
सकल पण्य भरीं बहु रत्न से ५७

निरत थे सब सत्य सुधर्म में
विनय शील, बड़े मृदु-बोल, थे
पर धनादि छलें छल से नहीं
हित प्रधान किये पर-लोक का ५८

---

१ दुकान, २ चतुर, ३ बहुत उद्यम करने वाले, ४ जीविका।

अमित-दान सुद्रव्य धनादि का
सतत दें यश कीर्ति कमा रहे
मन, सुबुद्धि सुधार किये हुए
अमर—लोक पदादिक पा चुके ५९

नर, विदेश बसा गृह द्रव्य दे
इव स्वअर्जित—द्रव्य सुदान दे
अमर लोक हितार्थ संचित थे
अमरता नर—लोक बुला लिया ६०

इक कुशीदक१ था न, पुरी कहीं
कुशलता धन की न कुशीद२ से
दुख बढ़े यदि व्याज दरिद्र दे
विष भरा कब और सुखी करे ६१

सधन धान्य धरे धरणी बने
अति उदार चमा चमते महा
मन लगा उपकार सदा रहे
कब रमा न बने अचला यहाँ ६२

अवध-सिन्धु उठें धन-द्रव्य के
बरसते सब देश विदेश में
तृण-सुसम्पत्ति की नव—वृद्धि हो
तब निदाघ—दरिद्र दिखे कहां ६३

१ व्याज खाने वाला, २ व्याज ।

विपुल द्रव्य भरे वर—वैश्य थे
सुघन—बाष्प उठे, झरना झरें
सतत दे द्विज क्षत्रिय शूद्र को
सर सुतृप्त करे किसको नहीं ६४

वृक्षावली

फलद१—वृक्ष लगे यम की दिशा
तरु—रसाल—विशाल अनेक थे
सुपथ—छांह रुकी पथिकावली
गृह—उदार निवास गुणी करें ६५

पनस२ यूप३ प्रियाल४ सुक्षीरिका५,
लिकुचह६, मोचक७, शेलु८, सुअमृता९,
बकुल१०,वजुल११,जम्भल१२, जाम्बवी१३,
विवध रंग लगे सहकार१४ थे ६६

द्रुप१५, शिवा१६, मलयू१७, गिरिमल्लिका१८,
सरल१९, मालक२०, औ गणिकारिका२१,
सघन—सिन्दुक२२, दाड़िम२३, मेहँदी
कदर२४, रोचन२५, शल्य२६, सुअम्लिका

---

१ फल देने वाला, २ कटहल, ३ शहतूत, ४ चिरौंजी, ५ खिन्नी, ६ बड़हर, ७ सहजना, ८ लसोड़ा, ९ आंवला, १० मौलसिरी, ११ अशोक १२ जमीरी नींबू, १३ जामुन, १४ सुगन्धित आम, १५ बहेड़ा, १६ हर्र, १७ कट्टमर, १८ कोरिआ, १९ चीड़, २० नीम, २१ अरणी, २२ सँभालू, २३ अनार, २४ सफेद खैर, २५ सेमर २६ मैनफल ।

वट विशाल कपित्थ अखोट थे
अमलतास मधूक उदुम्बरा१
गुणफलीर२, कचनार अनार भी
सुतरु फेनिल३, तेंदु लगे हुए ६८

शूद्र

विगत वृत्त बने शुचि धाम थे
विमलता रमती प्रति द्वार थी
वसन—निर्मल नारि निचोल को
अँग धरे निकलें नव—अंगना ६९

नर निमेष न आलस को करें
सब कला कुल कौशल अग्रणी
निपुण थे रचते रथ—यन्त्र वे
नवल निर्मिति४, में सब अग्रणी ७०

अरर५, अर्गल६, औ अधिरोहिणी
रचित पक्ष७, द्वार सुदारु के
चपल कांच लखें जन काष्ट को
कुशल थे कल कौशल की कला ७१

---

१ गूलर, २ पीलू, ३ रीठा ४ कारीगरी की वस्तु ५ केवाड़ ६ सिटि-किनी ७ काठ की सीढ़ी ८ दरवाजे की बगल की खिड़की ।

सुघर मन्दिर मंदर से बने
सुर सराहित देख विचित्रता
निपुण शिल्पिन थे गृह शिल्प से
विशद शिल्पकला सुप्रवीण थे ७२

शिर भुजा वश हैं पग के सदा
कर सके चल वे, अवलंब में
दुख सहें पथ, अन्य सुखी करें
कुल-प्रधान करें, कुल अर्चना ७३

रथ-समाज धुरी—शुचि-शूद्र हैं
सकल भार धरे सबरा रहें
दुख स्वय सहके सुख अन्य दें
तपन-ताप तपे तरु ज्यों सदा ।।७४।।

शिखर सूक्ष्म—हिमोपल वज्र भी
गिर दिएँ दुख वायु—प्रचण्डता
अचल का पद-आयत है बड़ा
सुदृढ़-मूल बिना तरु भी निरे

शिखर में तरु फूल फलादि हैं
सहज मूल्य मिलें सब काल में
निकलते गिरि के तल रत्न हैं
हृद—गँभीर महान विवेक दे ।।७६।।

सु-रथ चक्र बिना चलता कहां
मलिन हो यदि कर्दम में पड़ा
सुखद-शूद्र, समाज सुखी करे
सुदृढ़-नीव करे दृढ़ धाम ज्यों। ७७

सतत याचक हैं द्विज, शूद्र के
कब न दें सुख-दान किसे नहीं
मुख दिखे उनका सब कार्य में
हरित घास करे पशु ज्यों सुखी। ७८

कब न त्याग किया निज स्वार्थ का
अशन उत्तम, वस्त्र-सुपाट के
द्विज दिया, निज अंग लँगोट है
सुजन कष्ट सहें उपकार में। ७९

उठ प्रशाख गई नभ ओर को
जड़ जमी महि के तल-गर्त में
रस सदा रसदा-जड़ दे रही
विहँग ज्यों शिशु चोंच चुनावते। ८०

रजत, कंचन, खानि पदार्थ हैं
विमल कर्म किये शुचिता मिली
द्विज बने शुचि कर्म किये हुये
जल-मलीन मिला इव गंग में। ८१

प्रसवती यह आकर-रत्न है
निकलते इससे बहु लाल हैं
श्वपच, आदि-कवीन्द्र रहे कभी
वह मुनीन्द्र हुये तप सत्य से। ८१

उपज रत्न न बादर खानि के
द्विज न शूद्र बिना मिलते कहीं
सर बिना उपजे कब कंज हैं
सुझरना झरता, बल-स्रोत के। ८३

द्विज-समाज विभिन्न न शूद्र हैं
पर मिले सब आपस में रहें
सब न ब्रह्म विवेक-विचार हो
सरज-नीर बहा गँदला हुआ। ८४

पृथक शूद्र नहीं जिस जाति में
स-मूल-भाव उठे मन में सदा
विमलता मति में कब आ सके
लहर बीच पड़ा तृण डोलता। ८५

तम तथा रज-रंग रँगे रहें
विषम-मत्त-समाज सदा रहे
निरत स्वार्थ-महा जनता सभी
सब१ पड़ा अहि२, सिन्धु न जानता ८६

१ मेढ़क २ कुआं

प्रकृति - शूद्र - रसातल - वासिनी
विमन उर्ध्व उठे रुठती रहे
स-कण-औषधि-बोतल के तले
जम गये, हिल ऊपर को चढ़ें। ८७

वणिक क्षत्रिय के अगुआ बने
चढ़ गये जब आसन उच्च में
पर, परे उसके कब जा सके
जल-तड़ाग न बाहर को बहे। ८८

ठहरते, हिलते जब लों रहें
जब हिलें न, गिरें तल में पड़ें
जन-समाज न शांति लहे कभी
सलिल-मार्ग हुआ मटमैल ही। ८९

द्विज-सुवर्ण न शांति लहें कभी
अधः उर्ध्व पड़े उलझे रहें
बढ़ सके न कभी सतमार्ग में
घन-घटा सँग चन्द्र-प्रभा नहीं। ९०

जब कभी चलते सतमार्ग में
रज-तमिस्र लिये बढ़के मिले
विपथ हो पड़ भोग-विलास में
विषय-तृप्ति किया किसने कभी। ९१

मिल न शांति सके इनको कभी
प्रदिश ऊर्ध्व न वे चल ही सकें
सतत भोग विलास पगे रहें
कब न ले झपकी अहिफेन खा ॥९२॥

जब दिया अवकाश सुशूद्र को
घर चले द्विज जन्म भविष्य में
सतत विप्र बने अगुआ रहें
शुचि-समाज बढ़े हरि ओर को ॥९३॥

जब खिचे भभका रस औषधी
युगुल-पात्र विभेदक नालिका
बह प्रलंविनि खींचत दूर से
सुरस-आसव रूप तभी बने ॥९४॥

उदधि-शूद्र तरंग श्रमादि से
लवण, रत्न सदा द्विज—भूमि दें
जब मिले रहते उसमें सभी
तब न लोक सुखी कर वे सकें ॥९५॥

विमल विप्र बढ़े जग अग्र ज्यों
अछल-छत्रिय भी बल से बढ़ें
वणिक ले धन धान्य बढ़े रहें
कब न शूद्र बढ़े कर अर्चना ॥९६॥

विहित वर्ण विभेद किये भला
जब मिला अवकाश प्रवृद्धि का
जन न लौट सके बढ़ता चले
सरित धार बहे इव सिन्धु को ॥९७॥

यदि मिले सब एक समान हों
तब सभी भिड़ते अड़ते रहें
पग न एक सकें धर अग्र में
रहँट ज्यों इत से उत घूमता ॥९८॥

विहित वर्ण बढ़ा चलता चले
निकट केन्द्र स्वयं पहुँचे सदा
मिल, अभिन्न रहें द्विज शूद्र यों
गज चढ़ा नृप सेवक साथ हैं ॥९९॥

सुपथ, दक्षिण थे उसके बड़े
विविध ओर बढ़े बहु स्वच्छ थे
विशद दीपक-खंभ लगे हुए
तम—अमा न समा सकता जहां ॥१००॥

गजावली

द्विरद के दल दक्षिण थे बँधे
बहुत यूथप१-नाग—मदान्ध थे
कलभ२ कौतुक थे कर३ से करें
समद४ निर्मद५ था गजता६ महा॥१०१॥

---

१ सरदार हाथी, २ हाथी का बच्चा, ३ सूंड, ४ मद युक्त, ५ बिना मद, ६ हाथियों का समूह ।

करिणि१ कुंजर२ केलि कला करें
कर परस्पर प्रेरत प्रेम से
सुखद प्रीति सनेह प्रकाशते
सकल चेतन हैं वश काम के ॥१०२॥

समद—गण्ड भ्रमें भ्रमरावली
उभय कर्ण करें तिन तर्जना
मन-मिलिंद उसे कब मानता
कब न स्वार्थि सहे अपमान को ॥१०३॥

वमथु३ फेंक रहा गज जोर से
सतत अंकुश उन्नत कुंभ से
नयन - स्वल्प बड़े वपु में हुए
क्षुन्टप ध्यान न गौरव मान को ॥१०४॥

निगड़४ बद्ध बँधे गज झूमते
विपद धैर्य धरे मतिवान ज्यों
रण प्रमत्त अड़े अरि मारते
समर—शूर, हने निज शत्रु को ॥१०५॥

अश्वादि

तुरग तीव्र तने शिर को रहें
अति विनीत५ सवार सँभालते
विविध देश तुरंग बँधे हुए
ययुद६ जहाँ गणना कम थी नहीं ॥१०६॥

---

१ हथिनी, २ हाथी, ३ हाथी की सूंड से पानी निकलना, ४ बेड़ी, ५ शिक्षित, ६ अश्वमेध यज्ञ का श्यामकर्ण घोड़ा ।

हिनहिनात करें बहु गर्जना
तुरग तीव्र शताग१ नेह हुए
शफर२ सफा धरते महि में नहीं
अनल सा लगती उनको धरा ॥१०७॥

शिर धरें अरि के निज टाप को
समर शूर सहायक वीर से
तड़पते तड़िता इव युद्ध में
विजय कारण वाजि दिगंत में ॥१०८॥

यवन३ शीघ्र चलें पथ-पृष्ठ पै
पवन—वेग तुरंगम नांघते
थिर रहे क्षण भी न सजे जहाँ
चमकती चपला घन दूर हो ॥१०९॥

रथ रथांग अनेक प्रकार के
सब सजे बहु पश्चिम ओर में
चतुर सूत उन्हें बहु रक्षते
कुशल सेवक बालक बोध दें ॥११०॥

बहु महांग४ अनेक प्रकार के
मरु--मही मथते मथनी मनो
पथ चलें अति भार लिए हुए
गुण विशेष सभी जन मान दें ॥१११॥

---

१ युद्ध का रथ, २ टाप, ३ शीघ्र चलने वाला घोड़ा, ४ ऊंट,

शकट शाकट१ हलकर२ धुर्य३ हैं
वृषभ गोपति४ दम्य५ अनेक थे
शिवक६—बंधन संग बँधे हुए
शय करे मनको वश बुद्धि के ॥११२॥

सेना

विविध-दुर्ग बने बहु अत में
सहज-शूर रहें उनमें सदा
सुध्वजिनी७ धमनी८ सम धावतीं
प्रकट वैभव भूप प्रभाव हो ॥११३॥

सब उपासन९ कार्य लगे रहें
विशिख१० के गुण भेद बखानते
निपुण शस्त्र सुअस्त्र कला बड़े
अरर११ रक्षत अन्तर धाम को ॥११४॥

परिघ१२ मुद्गर१३ चर्मन१४ छूरिका
परशु तोमर१५ कुन्त१६ कृपाण भी
धनुष धारण धैर्य धरे रहें
प्रवर—वीर बड़े रघुवंश के ॥११५॥

---

१ गाड़ी में चलने वाला बैल, २ हल में चलने वाला बैल, ३ बोझा ढोने वाला बैल, ४ सांड ५ जो बछड़ा जवान हो रहा हो, ६ खूंटा जिसमें बैल बाधे जाते हैं, ७ सेना, ८ नाड़ी ९ बाण चलाने की शिक्षा, १० बाण, ११ किवांड़ा। १२ लोहे से मढा लट्ठ, १३ गदा, १४ ढाल, १५ बरछी, १६ भाला,

समर में अरि सन्मुख शूरता
प्रकटते लड़ते, बलवान थे
नृप—भुजा बन शासन साधते
धन, धनी, सुख कारण, है सदा ॥११६॥

सबल थे बल वैभव के बड़े
'निबल के वर-वीर सहाय थे
प्रबल पौरुष पीन पराक्रमी
सुरसरी—जल-पावन -औषधी ॥११७॥

कर लिये निज प्राण—सचान[१] को
पकड़ते अरि-प्राण-लवा वहां
अनल हो, तृण—शत्रु विनाशते
वन न सिंह रखे पर-सिंह को ॥११८॥

वध करें सुन शब्द महारथी
त्वरित बाण हने लघुहस्त थे
जन—सहस्र वधें शतघातिनी
सफल दुर्ग वहाँ प्रति कोण में ॥११९॥

सरयू

सरित थी सरयू द्रुत-गामिनी
तरणि थीं तरतीं बहु रूप की
जल—विहार करें नर नारियां
सुखद—जंगम—धाम बने वहां ॥१२०॥

---

१ बाज पक्षी,

जल—विहंग-विहार करें जहां
स—रस थे, तल में डुबकी लगा
विटप बैठ उड़े सरि पैठते
विमुख, उन्मुख जीव प्रमाद के ॥१२१॥

सुखद थी सरिता जल—दायिका
सहज शोभित सो नगरी किया
सलिल—मग्न, मनुष्य अप्राण हों
सुख मिले जिससे दुख भी मिले ॥१२२॥

जल सुपेय सदा जन प्राणदा
तरल है गति भी तल—तीर की
पर मदांध, अगाध हुए हुआ
मिल गया अधिकार सगर्व हो ॥१२३॥

तरलता तरती पर ऊर्मि हैं
भँवर भीम भयानक फांसते
उठ तरंग उताल अनंत को
सघन हो पहँचान न आप को ॥१२४॥

सरल है गति नीरद—नीर की
जब प्रवेग प्रवाह प्रवेश हो
मकर नाक-निकेत बना तभी
जग बढ़े बढ़ते बहु दोष हैं ॥१२५॥

विपुल—बाढ़ चढ़ी सरि वारि ले
मिल न थाह रही, उमड़ी महा
जल न थाम सके कुछ भार भी
स-अधिकार सभीत असाहसी ॥१२६॥

तरणि-काष्ट चले शिर-नीर के
सलिल-सींच किया तरु-रूप में
प्रबलता जल की हर नाव ले
मधुर को दुख निष्ठुर दें सगे ॥१२७॥

सुतट कर्दम पूर्ण किया नदी
निकट नीच रहे दुखही मिले
जल हरे रज, औ रज, नीर को
सतत स्वार्थ करे प्रतिद्वन्दता ॥१२८॥

सुघर घाट बने बहु दूर लौं
सुपथ-राक्ष विशाल विशेष थे
नर नरी हित वे सब भिन्न थे
प्रकृति के अनकुल विभाजना ॥१२९॥

इन्द्र वज्रा छन्द

धारा प्रवेगी, तट में नहीं है
संकोच कीन्हे बहती वहां है
हो भेंट जो शत्रु समान हारे
मानो मिले मान समेत मानी ॥१३०॥

रेती पड़ी मध्य दुकूल में है
पानी बहाता बल खोवता है
पै रेत भी बीच पड़ा विनाशे
पाते कहाँ शांति विरोधता से ॥१३१॥

सोपान थे सुन्दर रक्त रंगी
जो घाट घटा-पथ में जड़े थे
रानी रमें आ सरयू किनारे
मानो सहेली उनकी बनी थी ॥१३२॥

थे श्वेत नीले बहु रक्त रंगी
मुक्ता जड़े थे घट चीकनी थी
वामा—वरागी फिसलें नहातीं
हा हा हँसे औ सखियाँ हँसावें ॥१३३॥

क्रीड़ा करें योपित केशिनी१ थीं
कालाप२ छोड़े सरि तैरती थीं
कूदें कुदावें सखियां सहेली
आनद ब्रीड़ा३ कब पास रक्खे ॥१३४॥

धारा धँसी आलुत४ अगना थी
भेंटें नदी को कर—अम्बुजों से
मदोदरी से सरयू मिली यों
कान्ता, सखी से मिलती प्रसन्ना ॥१३५॥

---

१ सुन्दर वेणी वाली स्त्री, २ शिर के बाल, ३ लज्जा, ४ नहाना।

घंटा पथ

घटा-पथों को बहु—मार्ग घेरे
प्राची, प्रतीची, यम की दिशा से
थे स्वच्छ सारे, न मलीनता थी
आचार ही पावन चित्त घेते ॥१३६॥
पृथ्वी-तले से मलमूत्र जाता
नाली बनीं थीं बहतीं सदा वे
यन्त्रों सहारे सब खाद होता
संसार की वस्तु सभी भली हैं ॥१३७॥
थीं औषधी नित्य प्रयोग की वे
जो वायु को शुद्ध करें प्रवाही
थी स्वच्छता मार्ग निकेत—नाली
जो नीच हो, नेक बने भला हो ॥१३८॥
जो पत्र भी मार्ग गिरें कहीं से
तत्काल वे किंकर सो उठाते
घंटापथों में बहु भीड़ होती
सन्ध्या सवेरे निशि वाहनों की ॥१३९॥
देखे सदा निर्मल मार्ग जाते
सींचे गये थे जल—यन्त्र द्वारा
पाता यहां धूल न ढूंढ कोई
भागी बुराई शुभ—सूचना से ॥१४०॥

अतिथि आलय

आतिथ्य-प्रासाद विभिन्न रूपी
प्राची दिशा में पुर के बने थे
देशानुसारी व्यवहार होता
था अन्न वस्त्रादि प्रबंध वैसा ॥१४१॥

श्रीराम आये जबसे अयोध्या
आता सदा था अलकापुरी से
आकाश – गामी-रथ-दिव्य-रूपी
श्रीनाथ सेवार्थ विमान जो था ॥१४२॥

था आथितेयादि[1] प्रबंध अच्छा
चारों दिशायें यश गूंजती थीं
श्रीराम आगंतुक दें बड़ाई
लेके उन्हें व्योम विहार जाते ॥१४३॥

उपेन्द्र वज्रा छंद

न स्वर्ग, वैकुंठ सजा, पुरी ज्यों
न देवता थे सम औधवासी
निवास श्रीराम किया जहां था
वसंत आये नव-वृक्ष शाखा ॥१४४॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव

: द्वितीय सर्ग समाप्त :

---

१ मेहमानदारी

-: अथ तृतीय सर्गः :-

अवध का गोकुल

००००००००

* इन्द्रवज्रा छंद *

कान्तार था घोर दिशा उदीची
गायें—सहस्रों सरि पार में थीं
कोई सदुग्धा कुछ गर्भिणी थीं
कोई सवत्सा, प्रसवा, अदुग्धा ॥१॥
भूपेश का गोकुल कामदा था
फैला वहां था दश योजनों में
दूर्वा--बड़ी गोचर में चराते
गोपेश बाटे बहु—भाग में थे ॥२॥
गायें चराते दिश एक में थे
दूर्वा बढ़ी भिन्न विभाग में थी
जाते जहा थे ऋतु साम्य होता
आते यथा राजन शैल से हैं ॥३॥

गायें वहां थीं जनता लिए भी
था दुग्ध जाता उनके घरों में।
कोई न था जो न सुदुग्ध पाता
राजा प्रजा का धन एक ही है ॥४॥

गोपेश लाते नवनीत नामी
खाते प्रजा भूप प्रमोद पाते
घी दूध की स्वल्प न न्यूनता थी
थी स्वस्थ सारी जनता इसी से ॥५॥

थीं नैचकी१ औ शबरी२ सुकृष्णा३
धाना घरे थीं धवला४ अनेकों
श्यामा सुगौरी वर-पीत, रक्ता
विभिन्न रंगांकित सौम्य शृंगा ॥६॥

काल्योपसर्जा५ सुकरा६ त्रवर्षा७
थीं द्रोण८-दुग्धा मन९-मान-दुग्धा
दुग्ध-प्रदात्री नव१० सूतिका थीं
गव्यां११ अनेकों बहु-सूति भी थीं ॥७॥

पीनोध्नि१३ थीं ये प्रतिवर्ष१४ वत्सा
आपीन१५ -पीना सुव्रता१६ सुभद्रा१७
सर्वांगिनी वत्स-महेंद्र पाली
थीं निर्झरी सी शुचि दुग्ध की वे ॥८॥

---

१ वत्तम गौ, २ चितकबरी गौ ३ काली, ४ श्वेत, ५ बरधने के योग्य, सीधी गाय, ७ तीन वर्ष की गाय, ८ बारह सेर दूध देने वाली गाय, एक मन दूध देने वाली, १० नया ब्यायी गाय, ११ गायों का झुंड, कई बेर की ब्याया गाय, १३ मोटे थन वाली, १४ हर साल ब्याने ली गाय, १५ बहुत बड़े मोटे थन वाली गाय, १६ सहज दुही जाने ली, १७ सुन्दरी गाय।

थीं संधिनी१ वेहत२ सद्य-गर्भा
प्रष्टोहि३ एकाब्द४ समांसमीना५
जातोथ६ औ तर्णक७ साथ लीन्हे
कान्तार घूमें समजानुयायी८ ॥६॥

कोई बुभुक्षी९ न कृशा न रोगी
कोई नहीं थी दृग अश्रु धारे
औ थी न कोई मृग-वत्स दोषी
होता नहीं दोष कुलीन-कन्या ॥१०॥

दूर्वा-हरी औ तृण अन्य खातीं
पीती नदी-नीर सुअंग-पीना
विश्राम लेती तरु-पुञ्ज-छाया
गीर्वार्ण१०-गायें सम शोभती थी ॥११॥

संगी बने गोपति११ यूथ घूमें
आनंद देते सब धेनुओं, को
चाटें चटावें प्रिय प्रेमिनी से
पतिंवरा१२ प्रीतम प्रेम पागी ॥१२॥

---

१ मैल के साथ लगी हुई गाय, २ सांढ़ के संसर्ग से गर्भ गिराने वाली गाय, ३ वचपन में ही गर्भिणी होने वाली गाय, ४ एक वर्ष की गाय,

सन्ध्या हुई गोप पुकारते थे
हुंकारती थीं सुन, धेनु धातीं
आनंद में गोधन गोष्ठ आता
लोटें विदेशी गृह हर्ष में ज्यों ॥१३॥

पूंछें उठाये सब भागती थीं
देखी नई—वस्तु जहां अनोखी
लौटीं खड़ी कान बटेर देखें
आश्चर्य सभी भय-भूरि होता ॥१४॥

आनंद में वे शुचि शृंग जोड़े
थीं मोद पातीं मृदुता सँभाले
सोमा उलथे तन कष्ट भोगीं
मीठे न हों शब्द कुव्यंग साने ॥१५॥

चारों थनों था पय पूर्ण मात्रा
बाढ़ा महा—दुग्ध न खींच पाते
हाहा करें दोहक हांफते थे
दानी-धनी, द्रव्य न न्यून होता ॥१६॥

वे दुग्ध औ तक्र नदी बहाती
खाते खवाते सब औधवासी
ऊबें सुने "गोरस शुद्ध लीजे"
भाग्योदयी को सुख घेरता है ॥१७॥

चारा चरें चारु कछार में वे
विश्राम पातीं तरु तीर-छाया
आनदपूर्णा, सुख भोगती थीं
भाग्योदयी को कब अर्थ चिन्ता ॥१८॥
थे खंभ गाड़े सब ओर में थे
सिंहादि क्या आ सकते वहा थे
थे रक्षकी रक्षण के लिए भी
पाके बड़ा आश्रय चिंतना क्यों ॥१९॥
फैली लता थीं बहु भाति लम्बी
छोटे बड़े पत्र हरे दिखाते
फूली फली औ कलियाँ लगीं थीं
छोटे सुखी हों सुकृती सहारे ॥२०॥
दूर्वादि लम्बी लघु औ हरी थी
थीं औषधी भी उपजी विभिन्ना
गायें चरें जो बहु दुग्ध दात्री
सौभाग्य सेवा करती यशी की ॥२१॥
चित्रा१ वयस्था२ कबरी३ निकुम्भा४
मोस्ता५ समङ्गा६ शुचि श्वेत दूर्वा
था शष्प७ औ वीरण८ पौर९ पोई
रास्ना तथा इक्षु सुमापपर्णी१० ॥२२॥

---

१ गोमा, २ ब्राह्मी, ३ वनतुलसी, ४ छोटीदत्ती, ५ मोथा, ६ लाजवती, ७ मुलायम घास, ८ गाडर, ९ विशेष घास, १० जंगली उरद,

पद्माट१ शोषन्न२ विनुन्न३ पण्या४
थीं वायसी५ काश कुशा गुडूची६
इन्दीवरी७ क्षीतकन्द८ वृक्षरुहा९
चौराइ चाङ्गेरि१० तथा कलम्बी११ ॥२३॥
जाती यहाँ औ तृण सूँघती थीं
वे त्याग देतीं पुनि अग्र जातीं
ढूँढ़े नवीनांकुर घास के वे
पातीं जहां तो भर पेट खातीं ॥२४॥
आगे न देतीं चरने किसी को
धक्का दियें औ उसको हटावें
भूखी हुईं तो चरतीं स्वयं हैं
स्वार्थी बने जो, धनहीन होता ॥२५॥
जाम्बू जँभीरी महुआ लसोढ़ा
थे विल्व औ पाकर आम्र रीठा
कैमा तथा पीपल साल सीधे
छाया घनी किंशुक बैठती थीं ॥२६॥
कोई लगी वृक्ष खड़ी खुजावें
कोई उठाये शिर और शाखा
पत्रादि अर्थी लपकें प्रसन्ना
आमोद सूझे सुख संग हो जो ॥२७॥

---

१ चकवड़, २ गदापुन्ना, ३ चौपतिया, ४ मालकांगनी, ५ मकोय, ६ गुरच, ७ सतावर, ८ मुलैठी, ९ चन्दाल, १० अम्लानिया, ११ केरमुआ

धावें भरे दुग्ध न दौड़ पातीं
वत्साभिगामी थन—भार—भारी
हुंकार से प्रेम प्रकाशती हैं
मन्दोदरी यौवन जोर मंदा ॥२८॥

थे वत्स पीते पय फेन चूता
जो खेत काटे कुछ अन्न खोता
दें जोर धक्का थन धेनु के वे
माता न जाने सुत की बुराई ॥२९॥

चाटें खड़ी धेनु स्ववत्स को वे
जन्मा जिसे कष्ट अनेक पाये
पीड़ा हरें और दुलारती हैं
हो पुत्र आके प्रति रूप आत्मा ॥३०॥

गायें जहां थीं महिषी अनेको
थीं वे विदेशी करिणी समाना
काली तथा खैर सुरंग, धाली
आपीन-वद्धा चलतीं सुमन्दा ॥३१॥

पानी पड़ी थीं थलगामिनी वे
उष्मा सहें क्यों मृदु-चर्म वाली
जन्मी मही पै जल में निमग्ना
विज्ञानवादी प्ररलोक सेवें ॥३२॥

बैठी वरें पागुर वृक्ष नीचे
आँखें खुली भी झपकी लगातीं
आनन्द देते तरु-पत्र-छाया
ज्यों है लगी भीड़ उदार द्वारे ॥३३॥

मध्याह्न पश्चात् सुनीर पीके
चारा लगीं वे चरने प्रसन्ना
भूली बँधाती निज यूथ आतीं
जो लोक चाहे सुसमाज सेवे ॥३४॥

जो मस्तु[१] दण्डाहत[२] तक्र होता
खाते खवाते बच शेष जाता
तो भैंस गायें सब दौड़ पीतीं
अष्टांश का शेष विशेष होता ॥३५॥

ऊष्मा तथा शीत प्रवात वर्षा
से वे सदा रक्षित थीं निशा में
आभीरपल्ली[३] तट गोष्ट भी थे
थे स्वच्छ वे गोबर पंक से भी ॥३६॥

साकेत था दक्षिण की दिशा में
विस्तार में गोकुल था उदीची
धारा प्रवेगी सरि मध्य में थी
कान्तार, शोभा पुर की बढ़ाता ॥३७॥

---

१ दही का पानी, २ छाछ-माठा, ३ अहीरों का गांव ।

गोपाल गोपी गण दुग्ध को ले
दे अग्नि को ताप दही जमाते
लेके मथानी कर द्रप्स[1] रूपी
सारांश गाढ़ा नवनीत लेते ॥३८॥
संघर्ष ही से फल प्राप्त होता
संसार द्वन्दी प्रतिद्वन्द चाहें
कोई न पाता सुख शान्ति सीधे
खोदे बिना खानि न प्राप्त हीरा ॥३९॥

* उपेन्द्रवज्रा छंद *

दिनांत गो-गोष्ट समोद आतीं
विशुद्ध चारा सह अन्न खातीं
अचिन्त्य विश्राम करें निशा में
प्रजा सुखी हो यदि भूप न्यायी ॥४०॥

इति श्री रामतिलकोत्सव
तृतीय सर्ग समाप्त :

---

१ पतला दही।

—: अथ चतुर्थ सर्ग :—

तिलकोत्सव

* द्रुत विलंबित छंद *

दिवस आ पहुंचा सुख का बड़ा
तिलक—उत्सव था रघुनाथ का
जन...समूह भरा, रव घोर था
उदधि ज्यों लहरें उठती महा ॥१॥

जन—निकेतन द्वार सजे सभी
हरित—बंदनवार बँधे वहां
सघट चौक पुरी कदली लगी
प्रघण१ शोभित सूचक हर्ष के ॥२॥

विशिखर२ चत्वर३ औ पुर—द्वार जे
सुपथ सुन्दर साज सजे हुए
विशद—पाट बनीं उपकारिका४
नगर—गौरव गोष्पति५ गीर्गिद६ दें ॥३॥

---

१ दरवाजा का चबूतरा, २ गली, ३ आंगन, ४ कपड़े का राज-गृह, ५ बृहस्पति, ६ बड़ाई ।

पुर विभिन्न प्रकार सजा हुआ
भुवन—चौदह चारु—विचित्रता
अवध में निज रूप दिखा रही
जगत नाथ—नरेश हुए जहां ॥४॥

नगर, ग्राम, विदेश, स्वदेश के
नर, नरी, शुचि सुन्दर वेश में
सब निमंत्रण पाकर आ रहीं
नद, नदी, गमनें जल—सिन्धु ज्यों ।.५॥

परम हर्षित नागर नागरी
अतिथि स्वागत आदर से करें
मिल रहे सब से इव हैं सगे,
निज निकेतन सादर ले चलें ॥ ६ ॥

अतिथि विस्मित हर्षित हैं महा
अति उदार-प्रजा, अवधेश हैं
समुद भेंट करें बहु मान दें
मलिन-नीर, पवित्र त्रिसोत१ से ॥ ७ ॥

अतिथि-स्वागत वर्णन क्या करें
समुद-भूपति, सेवक हो रहे
भरत आदि खड़े कर-जोड़ के
कह रहे कुछ वस्तु मँगाइये ॥ ८ ॥

---

१ गंगा

अतिथि एक, खड़े जन पांच हैं
सकल भौंह निहार रहे जहां
निफलता मुख शब्द नहीं भले
विविध-वस्तु लिये सब हैं खड़े ॥ ९ ॥

नृपति देश-विदेश - विभिन्न के
अतिथि थे रघुनाथ – महीप के
सदन सुन्दर – मन्दर१ से बने
निवसते उनमें इव शक्र हैं ॥ १० ॥

शयन, भोजन, के अतिरिक्त में
प्रति-घड़ी शुचि-उत्सव हो रहे
हय-पलायन, गायन, गा रहे
वुध कहीं, वर-ब्रह्म निरूपते ॥ ११ ॥

कवि कहीं कविता-रचना करें
रुचिर-शब्द सुभूषण में सजे
नव – विभाव - प्रभाव बखानते
मति - नटी नटती इनके कहे । १२ ।

बल-बली बहु-मल्ल लड़े कहीं
रथ-समूह - रथी सँग दौड़ते
जल विहार – वहार लखें कहीं
सुख-स्वरूप धरे सुख लूटता । १३ ।

---

१ स्वर्ग, २ इन्द्र

निरत नर्तन नर्तक नर्तकी
बहु विदूषक, भूप हँसा रहे
पथ – प्रदर्शक पूर्ण प्रदर्शनी
विविध–भांति खुली जन-हेत में । १४ ।

विविध कौतुक केलि कला करें
गगन में उछलें सुकपोत से
रव करें जन खेल प्रमोद है
अवध आनँद–सिन्धु हिलोरता । १५ ।

मुदित-बालक - वृन्द कहँ भले
तिलक – उत्सव राम नरेश का
लख विलम्ब बिना, त्वरता किये
सुख-समाज सुखी करता सभी । १६ ।

युवति - यूथ - सँगीत - प्रवीणता
सुन रहे नर, गान सुध्यान दे
मधुर कोकिल के स्वर गा रहीं
नभ दिखे घन, मोर प्रसन्न हों । १७ ।

सहज-शील-सती-शुचि - सुन्दरी
सब शृङ्गार सजें सुकुमारियां
समधिका१ - सुमुखी–शशि शंकदा
समुद संग समान सहोदरा । १८ ।

---

१ बहुत अधिक

निकलतीं पथ, राह, गली थली
अति प्रसन्न चलीं नृप-धाम को
मुदित हो हँसतीं कहतीं सभी
सुख - दिवाकर - राम प्रकाशते ।१९।

यदि सहे दुख तो सुख आ मिले
जगत-दृश्य सभी बदलें यहां
तिलक-उत्सव साज दिखो। सखी
तम-निशा-गत सूर्य प्रकाशता। २०।

मधुर-गान करें कुल—कामिनी
सुर विमोहित हो नर को गने
स्वर तथा लय एक मिली हुई
सलिल,—क्षीर यथा युग, एक हों ।।२१।।

विहँसती विनयी वन रानियां
मिल रहीं सबसे कर जोड के
असन, आसन दें मृदु-वाक्य में
वचन वे वदतीं दृग—अश्रु हैं ।।२२।।

घर भरे धन से धनहीन का
सरित—नीर—विहीन, प्रवाह हो
चिर-प्रवासित ज्यों सखिया मिलें
द्रुत दया सजनी तुमने किया ।।२३।।

सुन सखी सब आनंद पारहीं
विनय, शील, विचार, सराहतीं
सुख, प्रमोद, विनोद, मना रहीं
लहर पै लहरें मिलतीं यथा ॥२४॥

* उपेन्द्र वज्रा छंद *

सवार सेना सब साज साजे
सुपंक्ति बांधे पथ रखतो हैं
तुरग—तीखे थमते नहीं हैं
अजस्र—टापें महि खोदते हैं ॥२५॥

सवार थे शूर तुरंग साथी
बढ़े न उत्साह, कमी कहो क्या
बचा न बैरी जिनसे भगे भी
प्रवीर जन्में रघुवंश में थे ॥२६॥

पदाति की पंक्ति सहस्र लाखों
गिने न आती बहु कोटि संख्या
महान त्यागी रण रंग चोखे
सदैव प्राणाहुति में सयाने ॥२७॥

दुकान औ धाम सभी सजे थे
न स्वर्ग शोभा उससे बड़ी थी
अनंत छूतीं फहरें पताकें
मनो बुलातीं सुर—वृन्द को वे ॥२८॥

सुरेन्द्र मोहें लख मंदिरों को
न की बड़ाई कवि—वृन्द जाती
मुनीन्द्र आश्चर्य महान में ये
विराग में राग सुचित्त आता ॥२६॥

समस्त—माया प्रकटी दिखाती
प्रकाशता केवल ब्रह्म भासे
सुवस्त्र धारे सब अंग नारी
मुखाभ खोले दिखती सुशोभा ॥३०॥

न सांख्य, औ योग न न्याय-दर्शी
न वेद वैशेषिक औ मिमांसी
कभी न पाया सुख, शांति शोभा
यथा मिली थी लख राम—राजा ॥३१॥

सुरंग-कौशेय१ सुहावने थे
सुवस्त्र-पत्रोर्ण२ जरी जड़े थे
कला दिखातीं जिनमें अनोखी
वितान३ ताने बहु दूर लों थे ॥३२॥

जहां विराजे जन-कोटि-संख्या
बना बड़ा मंडप था अनोखा
धरा सुसिंहासन—रत्न का था
मनो वही स्वर्ग—सुरेन्द्र का था ॥३३॥

---

१ रेशम, २ धुले हुए रेशमी कपड़े, ३ तम्बू

तुरंग - सीखे - सब - सयमी थे
सदा चलें चालक के चलाये
सुअंग के पीन बड़े बली थे
युवा यथा इन्द्रिय—जीत होता ॥४४॥

गजावली भी रथ राम पीछे
सजे चढ़े थे रघुवंश योधा
न हर्ष सीमा मिलती किसी को
अगाध-पानी सुख मीन पाती ॥४५॥

लगीं सयानी शुभ गीत गाने
सुस्वस्ति बोले द्विज वृन्द आगे
पयोधि भारी उमड़ा नरों का
समद-गामी - रथ - राम का था ॥४६॥

सुमार्ग से मंडप में पधारे
बिछे सुपाटाम्बर थे मही पे
यही वहां था जयघोष छाया
"सदा सुखी राम रहें हमारे" ॥४७॥

तरंग - उत्तुङ्ग प्रसन्नता वाढ़ी
सभी जनों के हृद-सिन्धु में थी
उमंग में अंग नहीं सँभाले
हिमांशु—श्रीराम विलोकते थे ॥४८॥

* वाणी छंद *

श्रीराम सिंहासन साथ सीता
विराजते थे मघवा मनो वे
शोभा कहे को, कवि कौन ऐसा
वाणी सकी थी न बखान गाथा ॥४६॥

गंभीर - वाणी सुवशिष्ट बोले
मुहूर्त आया अभिषेक का है
आज्ञा प्रजा, भूप, मुनीन्द्र कीजे
श्री राम की हो अभिषेक—अर्चा ॥५०॥

चारों दिशायें रव - घोर - पूर्णा
विलंब क्यों हो अभिषेक कीजे
आगे बढ़े श्री गुरु. विप्र लेके
श्रीराम के सम्मुख जा खड़े थे ॥५१॥

चारों दिशाये जय - घोष गूंजे
विभिन्न बाजा बजते वहां थे
ओंकार की गूंज उठी बड़ी थी
जाके गुरू ने अभिषेक कीन्हा ॥५२॥

देने लगीं दान अमूल्य रानी
प्रजा लुटाती धन जो जहाँ थी
सुस्वस्ति बोले वर - विप्र वाणी
आनन्द में देह नहीं सँभाले ॥५३॥

आनन्द - आशी - वर विप्र देते
गीर्वाण से गीर्पि परेश - प्रेमी
लोकेश जीते तप - तेज धारे
थी सिद्धि वाणी - शुचि तत्वदर्शी ॥५४॥

आनन्द-दायी-कवि-काव्य कर्त्ता
सूक्ष्मातिसूक्ष्मी नव-युक्ति योगी
आके सुनाते रचना रसीली
रत्नावली – सागर से निकाला ॥५५॥

पाथोधि थे दर्शन - शास्त्र के जे
वीची स्ववाणी सँग रत्न लाते
श्रीराम को भेंट सहर्ष देते
जीमूत वर्षे जल शैल पै ज्यों ॥५६॥

योगी यती सिद्ध महा - तपस्वी
आचार्य औ वेद विधान बोधी
प्रेमानुयायी हरि - पाद - प्रेमी
कल्याण - वाणी सब बोलते थे ॥५७॥

क्षत्री-क्षमा-क्षान्तु[१], क्षितीश क्षेमी
क्षीराब्धिजा[२]पूर्ण अक्षुण्ण[३]भौमी
संग्राम सेवी कर खड्ग लेके
श्रीराम को शीश नवा रहे थे ॥५८॥

---

१ क्षमा करने वाला, २ लक्ष्मी, ३ न जीता गया ।

मृपाल नाना नत-शीश होके
देशानुसारी, निज—भेंट देते
स्वाधीनता, राम अधीनता थी
सर्वस्व पाता सुत, पितृ पूजे ॥५६॥

थे वैश्य—वित्तेश—उदार—दानी
सर्वस्व सौंपा रघुनाथ को था
आनन्द आदान[१] हुआ न थोड़ा
ज्यों द्रव्य देके क्रय रत्न लेते ॥६०॥

था शूद्र का सिन्धु-तरंग-तोयी
आनंद का अम्बु उछालता था
गंभीर क्या गाध[२] कभी कहाता
कोई भला अन्त अनन्त पाता ॥६१॥

की फूल—वर्षा अमरावली ने
आकाश बाजे बजने लगे थे
त्रैलोक में हर्ष नहीं समाता
था केन्द्र—साकेत—प्रमोददायी ॥६२॥

---

१ ग्रहण, २ जिसका तल छू जा सके ।

* द्रुत विलंबित छंद *

भरत का राज्य सौंपना

भरत आ कर—जोड़ खड़े हुए
नमत राम कहें मृदु—वाक्य में
प्रभु—शिरोमणि आप अकाम हैं
जगत—रंजन के हित भूप हैं ॥६३॥

अब कृपा कर राज्य सँभालिये
सब प्रकार प्रजा सुख भोगती
अनृण—राष्ट्र सुकोष भरा हुआ
न अरि - वृद्धि हुई अबलों कहीं ॥६४॥

अकर ५ विप्र किया सब राज्य में
स्वकुल गौरव से ललना दर्पी
पति - सनेह सनी - सघवा सभी
कुल, कुलीन बने इनसे सदा ॥६५॥

यदि बनी ललना कुल—पालिनी
सरसता-शुचि-संतति को बढ़े
सुयश लोक तथा परलोक हो
विमल वंश बने इनसे सदा ॥६६॥

पुरुष प्राप्त प्रताप किया जहां
कुल - वधू यश - कारण वंश की
जनक मातृ स्वभाव प्रकाशतीं
पति—निकेत करें गुण वृद्धि वे ॥६७॥
यदि वधू कुल—द्वार रखा खुला
अनिल—वेग बहा वश वासना
विषय—धूल लगी मन - वस्त्र में
मलिनता - रज - काम बढ़ा वहां ॥६८॥
व्यसनता बढ़ती तन की बड़ी
सुमति अन्तर में कम हो चली
सरित - धार भरी जब रेत में
तब अगाध न नीर दिखें तहां ॥६९॥
कुल रही न किरीट१ - कुलीनता
सत - विचार - विवेक न चित्त में
प्रबलता खड - वर्ग बढ़ी तहां
कलह काम कलंक विशेषता ॥७०॥
न बचता तब वंश विनाश से
जड़ - वधू, कुल - वृक्ष न पालतीं
जल - प्रसार न गहे तरु वश है
रस–रसा वश, है यह बाह्य में ॥७१॥

---

१ श्रेष्ठ कुलीनता, २ लज्जा।

इसलिये ललना कुल रक्षणी
शुचि सलज्ज वधू वश वंश के
जब घिरी रहती वर वाटिका
तब बचे फल फूल सुगंध भी ॥७२॥

विमल - वर्ण न ह्रास हुआ कहीं
जब बढ़े द्विज, शूद्र बढ़े चलें
क्रम अभंग हुए बहु वृद्धि हो
पहुंचते सब विष्णु समीप में ॥७३॥

क्रम सभंग हुए विधि नष्ट हो
सु – कुल – विप्र बने तब शूद्र हैं
अधन हों सब, वैश्य क्रिया करें
धन रहे तब तापस - शूद्र हैं ॥७४॥

चढ़ मशा न सके नभ दूर लों
पवि न नीर तले गुरु--भार ले
तुरग रासभ की, न समानता
त्रिविध विहीन न शूद्र, सुविप्र हैं ॥७५॥

शिखर–शैल गिरे महि, भंग हो
कर घना पग, तो पशु रूप है
स्वचल रा जल, भूमि सरेत है
द्विज - मलीन बने, खल शूद्र सा ॥७६॥

न पग, शीश - क्रिया करही सके
न शिरही बनता पग रूप है
सफलता उनको न बने मिले
दुख लहे उलटी करके क्रिया ॥७७॥

सब प्रजा सुख-सूत्र बँधी हुई
विधि विधान प्रबंध सुमानती
सरि दुकूल सुमध्य बहे भला
विनशाते बहती तट छोड़ के ॥७८॥

सघन हो इतनी न प्रजा कभी
नृपति रूप धरे वह आप ही
नृप विरोध करे खुल के तभी
अधिक हों फल, शाख गिरे धरा ॥७९॥

अधनता, न प्रजा सुख दे कभी
नृपति भी उससे दुख ही लहे
स-मित द्रव्य प्रजा घर में रखे
सर न दे सब नीर नदी कभी ॥८०॥

यदि समाज न शासित, भूप से
कुल कुलीन रहें न प्रबंध में
अध ऊर्ध्व, अधोगति ऊर्ध्व की
सपदि हो, [illegible] ॥८१॥

रघु - कुलोद्भव हैं नर जो यहां
स्वजनता उनमें कम की नहीं
धन, धरा, जन, दे अपना लिया
जड़ सदा रस दे तरु शाख को ॥८२॥

निरत धर्म सभी जन शांत हैं
वचन - सत्य प्रजा शुचि बोलती
सतत बुद्धि रहे उपकार में
सुपथ, कंटक विघ्न, विहीन है ॥८३॥

प्रिय उन्हें उपकार सदा लगे
सब परस्पर प्रेम प्रजा करें
मुदित वे रहते सुख मग्न हैं
जल अगाध बसी इव मीन हैं ॥८४॥

भजन हैं करते भगवान का
विषय भोग प्रभाव विहीन हैं
वर विवेक विचार करें सदा
वसन भीग सके कब नाव में ॥८५॥

विविध - कार्य करे जनता सभी
विगत आलस हैं करतव्य में
श्रम करें सुख से रहते सदा
विमलता बसती जल जो बहे ॥८६॥

बढ़ गयी बहु कौशल औ कला
सकल वस्तु बने निज देश में
सब पदार्थ मिलें अब हैं यहा
विविध सम्पत्ति उदा घर में भरी ॥८७॥

क्रय करें बहु वस्तु विदेशि भी
नव - असिद्ध - पदार्थ बिकें यहा
कर सुसिद्ध स्वदेश उन्हें सभी
फिर बिकें सब जा परदेश में ॥८८॥

वणिकता बढ़ देश गयी यहा
मुदित वैश्य - समाज - सयान हैं
सब - श्रमी - जन भी धनवान हैं
सर - नदी भरते बरसे मघा ॥८९॥

सब प्रकार प्रसन्न समाज है
मुदित हैं जननी अरु भ्रात भी
अब कृपा करिये इस दीन पै
यह तभी जन भी सुख पा सके ॥९०॥

भरत जा शिर नाय खड़े हुए
निकट राम सप्रेम बिठा लिया
भरत योग्य बड़े, युवराज हो
सकल कार्य करो निज राज्य के ॥९१॥

तुम बिना कब शासन राज्य का
कर सकूं क्षण एक न मैं कभी
अब बनो युवराज सुखी करो
नृप - बली बहु भार लिये चले ॥९२॥

विनय की रघुनाथ वशिष्ठ से
भरत को युवराज बनाइये
मुनि सहर्ष सभा कर घोषणा
प्रकट की रघुनाथ उदारता ॥९३॥

सुन प्रजा जय—घोष किया महा
मुदित हो रघुवीर सराहते
जनक आदि महीप प्रसन्न हैं
जग उदार न राम समान हैं ॥९४॥

विविध—वाद्य बजे सुख सूचना
हँस रहीं जननी बहु दान दें
दुखित को भगवान सुखी किया
यह कृपा गुरु की हम पै हुई ॥९५॥

मुनि बसें वन, ब्रह्म - विचार में
असन आसन वस्तु अनेक दीं
द्विज - गृहस्थ दिया मणि रत्न भी
विविध-वस्त्र सुधेनु प्रदान कीं ॥९६॥

विविध आदर दें निज वश को
नृप स्वदेश विदेश विशेष जे
बहु प्रकार किया सनमान था
घन घिरे बरसे जल भूमि में ॥९७॥

भरत दान अनेक प्रकार दे
तब कहा सब बंदि विमुक्त हों
पर पड़ा गृह—बंदि विशून्य था
रुज न हो दुख - देह मिले किसे ॥९८॥

अवध में सुख - सिन्धु तरग ले
मुनि, प्रजा, नृप—मीन सुखी बड़े
सुर सराह रहे जन - भाग्य को
कर सुकर्म बनें हमसे बड़े ॥९९॥

* मालिनी छंद *

सकल अवधवासी पुण्यराशी बड़े थे
रघुवर रुख देखे. भौंह वे भी निहारें
जनपति, जन, अन्योन्याश्रयी थे विवेकी
दृग, पग मिल दोनों देहको ज्यों सँभाले ॥१००॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव

: चतुर्थ सर्ग समाप्त :

—: अथ पंचम सर्गः :—

देव—स्तुति

००००००००

* द्रुत विलंबित छंद *

तिलक - उत्सव - राम हुआ महा
अवध - केन्द्र बना त्रय-लोक का
सुख समृद्धि प्रवृद्धि प्रसन्नता
वह रही वर—वायु दशों—दिशा ॥१॥

अमर आतुरता त्वरता किये
अवध ओर चले अति - हर्ष में
शिव शिवादि रमादि रमापते
विधि विधेय१विधिरसवर२ कोलिये ॥२॥

शुचि—सुरत्व प्रदानित राम को
कर निहीन३ बने नर वे मनो
भुजॅग - केंचुल त्याग प्रसन्न हो
कह रहीं उनके मन की दशा ॥३॥

---

१ विनम्र, २ विचार, ३ भाव।

जगत जन्यु१ जहानकर२ योग है
दुखित - जीव जलें निज कर्म से
विपद से अवकाश मिला जभी
सुख कहे उसको जन - भाग्य का ॥४॥

ज्वर गया, तन दुर्बलता रही
त्रिदिन अंतर दे फिर आ गया
तब कहा मुख में सुख – सारता
दिवस भ्रान्त वलाहक हैं किये ॥५॥

अकथनीय - प्रमोद - अमंदता
अवध में सब के मन छा रही
परम – पावन – पुण्य प्रकाशता
जब दिखे अवनीतल राम को ॥६॥

अमित - लोक अधीश्वरता जहा
वदन – अम्बुज में प्रकटी भली
प्रकृति-आकृति ज्यों मुख में दिखे
विषय - मूलक अन्त. वृत्तियां ॥७॥

सुर सयान अयान रहें सदा
मन - मनोरथ है सुख का महा
अमर स्वर्ग परे कब जा सकें
फलद-शाख झुकी महि ओर को ॥८॥

---

१ उत्पात, २ प्रलय ।

सदल पल्लव-पंक्ति नहीं जहां
फल तहां उसमें मिलते कहां ?
शिखर शाख फलो जब है नहीं
गगन ओर दिखे अनिवार[१] लों ॥६॥

विधि लिया चरणोदक चाव से
सतत शंकर ध्यान धरे जिसे
शुचि - अगम्य-अगोचर जो सदा
सहज सन्मुख राम विराजते ॥१०॥

उदधि ओर प्रवाह कबन्धर[२] का
बह रहा सरि धार धरे सदा
अवध में जन - जोर त्रिलोक का
रव बढा इव ऊर्मि पयोधि में ॥११॥

जन रसातल के सुख पा सके
अवध आकर भोग भुला दिया
गिरि - हिमालय तुल्य लगे नहीं
रज - रखा[३] वह व्योम विराजती ॥१२॥

समुद हो नर नारि मना रहीं
दिवस हो सुर - वासर आज का
सलिल राम, विसार[४]—मनुष्य हैं
उन बिना न उन्हें क्षण चैन हो ॥१३॥

---

१ हमेशा, २ पानी, ३ पृथ्वी की धूल ४ मछली,

शुचि धरातल, औध धरा हुई
जगत–नाथ सनाथ किया जिसे
अध: ऊर्ध विभेद रहा नहीं
सब समान अय,न सयान हैं ॥१४॥

रवि प्रकाशित रश्मि दिखे जहां
फिर कहां तम-तोम-तमिस्रता१
सतत वारिद बूंद गिरे जभी
कब किसान अलाक जला सके ॥१५॥

सघन—मेघ घिरे नभ में महा
प्रबल—वायु बहे सब दूर हो
मिलन—राघव नित्य सुखी करे
कुशल हैं सुत, अंक—पिता लिये ॥१६॥

इन्द्र स्तुति

जब हुआ शुचि ज्ञान सुरेश को
विनय की रघुनाथ—कृपालु की
मद—मनोज नहीं मन त्यागता
निबल बुद्धि—प्रभाव पड़े नहीं ॥१७॥

---

१ रात्रि

पहुँच नाथ समीप न हो सके
दिन प्रकाश उलूक दिखे नहीं
निशि, निशाचर को सुखदा बड़ी
विषय त्यों मुझको प्रिय है महा ॥१८॥

विगत रोग हुआ तन-शुद्ध ज्यों
सुखद—दर्शन पाकर हूँ सुखी
खुल गये दृग, नाथ—समीप हैं
अब न हों विषयी - मन भूल से ॥१९॥

प्रभु हरो मन की अब कल्पना
जगत जाल पड़ा दुख पा रहा
सुख, सदा दुख - अग्रज हो रहे
फिर कहा सुख में सुख—वासना ॥२०॥

प्रभु - प्रभाव पड़ा जग नाचता
चरण–धोवन शीश धरे हुए
वह रहा चिति-भूमि[१] इकान्त में
भुजग प्रेत पिशाच लिये वहां ॥२३॥

तदपि मोह गया लख मोहिनी
न उपचार सके कुछ रोक ही
न जड़ चेतन भेद विभिन्नता
सब बहैं द्रुत—धार नदी पड़े ॥२४॥

तदपि नाथ–नरोत्तम–रूप में
प्रकृति को यश - गौरव दे रहे
गिरि गिरे कब निर्झर के वहे
सलिल - राशि भरी उसमें महा ॥२५॥

प्रकृति शंकित आज हुई महा
लख ललाम – स्वरूप – अनूपता
रस, न तत्व, न इन्द्रिय की कथा
प्रकटती कब रूप - प्रशांत में ॥२६॥

विशद - ब्रह्म विकाश स्वरूप हो
कर रहा सबको निज रूप में
प्रकृति की जड़ता - जड़ खो चुकी
उड़ गया रँग तापन[२] - ताप में ॥२८॥

---
१ श्मशान, २ सूर्य ।

पहुँच नाथ समीप न हो सके
दिन - प्रकाश उलूक दिखे नहीं
निशि, निशाचर को सुखदा बड़ी
विषय त्यों मुझको प्रिय है महा ॥१८॥

विगत रोग हुआ तन-शुद्ध ज्यों
सुखद—दर्शन पाकर हूँ सुखी
खुल गये दृग, नाथ—समीप हूँ
अब न हों विषयी - मन भूल से ॥१९॥

प्रभु हरो मन की अब कल्पना
जगत - जाल पड़ा दुख पा रहा
सुख, सदा दुख - अग्रज हो रहे
फिर कहां सुख में सुख—वासना ॥२०॥

जगत-जाल पड़ा नत-नाचता
यह विचार नहीं दृढ़ - चित्त में
मन अहं वश हो दुख में पड़े
जड़ यही जग - रोग भयाविनी ॥२१॥

शिव- स्तुति

शिव समेत शिवा कर जोड़ के
विनय की रघुनाथ समीप में
विष, सुधा सँग हो समता कहा
प्रकृति गौढ़ सदैव नचावतीं ॥२२॥

प्रभु - प्रभाव पड़ा जग नाचता
चरण-धोवन शीश धरे हुए
बस रहा चिति-भूमि[१] इकान्त में
भुजग प्रेत पिशाच लिये वहां ॥२३॥

तदपि मोह गया लख मोहिनी
न उपचार सके कुछ रोक ही
न जड़ चेतन भेद विभिन्नता
सब बहें द्रुत—धार नदी पड़े ॥२४॥

तदपि नाथ-नरोत्तम-रूप में
प्रकृति को यश - गौरव दे रहे
गिरि गिरे कब निर्झर के बहे
सलिल - राशि भरी उसमें महा ॥२५॥

प्रकृति शंकित आज हुई महा
लख ललाम – स्वरूप – अनूपता
रस, न तत्व, न इन्द्रिय की कथा
प्रकटती कब रूप - प्रशांत में ॥२६॥

विशद - ब्रह्म विकाश स्वरूप हो
कर रहा सबको निज रूप में
प्रकृति की जड़ता - जड़ खो चुकी
उड़ गया रँग तापनर[२] - ताप में ॥२८॥

१ श्मशान, २ सूर्य।

तरलता रहती न तुपार में
सरसता रस की कब अग्नि में
गगन में अवकाश न ठोस है
जगत - जाल न सम्मुख ब्रह्म के ॥२८॥

विटप का प्रतिबिम्ब परे पड़े
तपन१—ताप न क्लान्तर करे वहां
प्रकृति-पीठ लगी प्रभु-छाप है
तपस२, लूक लगा सकता कहां ॥२९॥

प्रकृति ले वर - ब्रह्म - विशेषता
छवि-छटा—जग की कुछ और हो
निरसता न रहे भव में तभी
मधुर - स्वाद करे जल शर्करा ॥३०॥

प्रकृति - पाथ कहां अनकूल है
विपय का मल - दोप भरा पड़ा
प्रभु-कृपा--बल -निर्मल--नीर हो
मलिनता - पडवर्ग विनाश हो ॥३१॥

प्रलय के तट था जग जा रहा
सब तमोगुण के वश जीव हो
जगत - स्वार्थ प्रबद्ध अचेत थे
प्रभु - कृपालु प्रशांत किया उसे ॥३२॥

---

१ सूर्य, २ गरना, अग्नि होना, ३ माघ मास।

ब्रह्मा–स्तुति

विधि-विधातृ१-विधान बँधा हुआ
जगत-नश्वर२ की गति में गुथा
चकित-चक्र चलाकर नित्य ही
कृति३-कुलाल४ करूं कृत५ कर्म मैं ॥३३॥

प्रकट मैं भव आदि न अंत है
अहि६-अहं अपकार करे महा
जग - कुटुम्ब – पितामह मैं बना
प्रकृति का अगुआ अति उच्च हूँ ॥३४॥

अब हुआ मुझको अभिमान है
निखिल-सृष्टि रचूं क्षण एक में
गत – वियोग सँयोग पड़ा रहूं
जग - परे मुझसे अब कौन है ॥३५॥

तब हुआ मन है वश वासना
गिर गया अब संयम – शैल से
सहज – जीव समान व्यथी बना
पतति उच्च—शिला इव गर्त में ॥३६॥

प्रभु-कृपा जब की इस दास पै
विगत मोह हुआ क्षण एक में
अध ऊर्ध अधोगति ऊर्ध की
कर सकें करुणानिधि आप ही ॥३७॥

---

१ सृष्टि-कर्ता, २ नाशवान, ३ पुरुष का प्रयत्न, ४ कुम्हार, ५ पूरा, ६नीच

तव—स्वरूप अनूप परे प्रभो
प्रकृति की प्रतिभा परिकीर्ण[१] से
मिलन से गत - मोह हुआ महा
विगत, औषधि ज्यों, ज्वर को करे ॥३८॥

प्रकृति आज महा सुख में सनी
गुण—प्रधान—सतोगुण से सजी
तव-स्वरूप-प्रदीप्त किये उसे
विकच कज हुए, नलिनी सुखी ॥३९॥

कठिनता अवरुद्ध, न स्वार्थता
हृदय को पवि सा करती नहीं
निरतता मन इन्द्रिय में नहीं
विषय-भोग-विलास वियोग भी ॥४०॥

लपक - लूक, - जलाक—लबारता
अनृतता[२] अनुकी[३] अनुदारता[४]
कमनता[५] न रही पर – कामिनी
सहज - द्वेष नहीं जग—चित्त में ॥४१॥

सरलता, शुचिता, सहचारता[६],
विमलता—मन बुद्धि – विवेकता
विनय-वृत्ति विचार उदारता
सहज—शील सनी उपकारिता ॥४२॥

---

१ फैलाव, घिराव, २ झूंठ, ३ इन्द्रिय-दास, ४ संकीर्णता, ५ विषयीपना, ६ अनकूलता,

परम - प्रेम - प्रतीति प्रसाधना
कुशल - धर्म - धुरीण धरे धुरी
विगत - काम अकाम अदोषता
सुमति शौर्य, सदा मन में बसा ॥४३॥
जड़ प्रभावित चेतनता मनो
विषमता गत तत्व हुए सभी
स्वगत१ के गुण भी प्रकटे स्वयं
नभस२ ज्यों घन-घोर-घटा घिरी ।४८॥
रवि-प्रकाश, तमिस्र विनाशता
प्रभु - प्रताप प्रभावित हो जहा
गमन केन्द्र - दिशा करते सभी
शरद में द्विज ज्यो सर सेवहीं ॥४५॥
तमस - राजस - राज उजाड़ है
दिवस नींद गयी ध्रुव नेत्र से
अब कभी मम बुद्धि न भ्रान्त हो
परख पारस का फल पा चुका ॥४६॥

नारद-स्तुति

सुयश राघव नारद गा रहे
निरत नित्य रमेश - रजाय में
जयति जै रघुनायक श्रीपते
अवध - मगल - मूर्त्ति - महीपते ॥४७॥

---

१ आत्मत्व, २ श्रावण मास ।

अज अनादि अगोचर ब्रह्म जो
जगत विस्तृत रूप विराट है
हृदय में बसता सु१—याम जो
अवध का अवनी - पति है बना ॥४८॥

वदत वेद जिसे सब नेति हैं
मुनि मुनीन्द्र धरें ध्रुव ध्यान हैं
जिस लिये जप योग यती करें
नृपति—वेष धरे जय हो प्रभो ॥४९॥

तरल-वाष्प विहायस२ व्याप्त है
वह हुआ घन, घोर घटा घिरी
पवन—तौल तुला तब हो सके
भर गई तकिया गरुई हुई ॥५०॥

गणित शून्य रहे जब वाम में
न गणना कर अंक सके कभी
जब हुआ वह दक्षिण-भाग में
बढ़ गई तब लब्धि कई गुणा ॥५१॥

सगुण रूप हुआ वर ब्रह्म है
प्रलय लक्षण थे जब हो रहे
अघ स-भार भरी महि पूर्ण थी
सतत थी कँपती अति मेदिनी ॥५२॥

---

१ आठो पहर, २ आकाश,

बदल भाव गये त्रय—लोक के
श्रमित—ताप हुये जन शांत हैं
सुख - समीर - प्रवाह चतुर्दिशा
घन हरे दुख-जेठ - जलाक के ॥५३॥

विषय - धूल चढ़ी नभ - चित्त में
दब गई जल—शांति तले वही
यवस१—सत्य जमी बहु, मेदिनी
बढ़ रहा सुख आनंद—लोक में ॥५४॥

प्रभु—समीप न जांचक जांचते
सहज ही मिलती मन—कामना
जन सुगंधि—दुकान गया अहा
अतर—गंध मिले व्यय के बिना ॥५५॥

बहु युगों तक भक्ति प्रसाद से
सुजन ध्यान धरें इस रूप का
सहज में भव—सागर पार हो
अमर हो जग—मुक्ति मिले उन्हें ॥५६॥

तप करें तपसी बहु काल से
जपत जापक जन्म बिता दिया
सफल सिद्धि हुई सब साधना
मिल सके प्रभु से न कभी कहीं ॥५७॥

---

१ घास,

उदित भाग्य हुई उनकी अभी
निवसते जन दूर विदेश में
सुख लहें रघुनाथ—प्रभाव से
पवन दूर सुगंध बहे यथा ॥५८॥

जब प्रकाश हुआ नभ चन्द्र का
सहज भूमि प्रकाशित हो गई
अवध में अवतार हुआ यहां
सकल - लोक विमुक्त विपत्ति से ॥५९॥

तुम पुकार सुनो निज दास की
अधम नीच नराधम हो चहे
अघ नशें प्रभु - नाम प्रभाव से
जल गया तृण, अग्नि लगी जहां ॥६०॥

अघ इकत्र हुए दश - शीश में
सलिल ज्यों सर में थिर हो रहे
अब सुखी सब लोक महा हुए
निशि, निशापति के कर चूमती ॥६१॥

सहज ध्यान धरे इस रूप का
हृद प्रकाशित हो सब दीन का
कर लगे जलती बिजली—विभा
चरण दीप्ति प्रभा जन चित्त ज्यों ॥६२॥

प्रभु सुने, जन नाम लिया जभी
निकट लाकर नीच किया कृपा
मिलन पारस लोह सुवर्ण हो
जल गई जड़ है जड़ता कहां ॥६३॥

जब हुआ तब—प्रेम कृपानिधे
बनगये जन रक्षक आपही
तब सुधार करो उसका महा
प्रकृति की चलती कुछ भी नहीं ॥६४॥

प्रकृति खींच रही निज ओर को
"विषय-भोग भले" कहती सदा
प्रभु-प्रभाव न भक्त फँसा सके
निशि, दिवाकर का कब साथ हो ॥६५॥

प्रभु-अधीश्वर हैं त्रय लोक के
विधि शिवादि न भेद बता सके
स्वजन के सुख-साधक नित्य हो
प्रभु-नरोत्तम --राम – कृपानिधे ॥६६॥

जन फँसा विषयादिक —वासना
कर मनोरथ पूर्ण उबारते
विष न व्याप्त हुआ विष खा चुका
अमृत-प्रेम दिया जब आप का ॥६७॥

जगत-सागर पार न जासके
सगुण-रूप हुआ भव-भाग्य है
सकल--लोक-अलोक सुखी किया
शुचि-प्रदीप निकेत प्रकाशता ॥६८॥

सुलभ इन्द्र शिवादिक के लिये
प्रभु हुए इस रूप-प्रकाश में
कठिन-योग विराग न पासके
शुचि - पता तव-ब्रह्म-स्वरूप का ॥६९॥

अवध श्रेष्ट हुआ सुर-लोक से
अवतरे प्रभु आप कृपानिधे
महत्-लोक--अधीश्वर आगये
उतरते गिरि से इव भूमि में ॥७०॥

पाताल वासी

तल--रसातल जीव प्रसन्न हो
विनय शील कहैं कर जोड़ के
सुमति, शब्द, नहीं मम पास हैं
हृदय—भाव न मूक बता सके ॥७१॥

जड़, महा-जडता-गुरुता दवे
नव—कुकर्म करें पर—पीड़ के
पर, यहा हम आकर शात हैं
दृग प्रकाश मिले इव अंध को ॥७२॥

तृण-सबीज उड़ा गिरि पै गया
जम गया बहु अंकुर भी हुए
पवन प्रेरित वृक्ष बड़ा हुआ
जन सनाथ किया प्रभु आपने ॥७३॥

श्री वशिष्ट जी का प्रवचन

मुनि-वशिष्ट उठे हँसते हुए
अधः ऊर्ध मिले सँग मध्य के
सुदृढ़ता तिसकी अति होगई
पथ, चतुष्पथ से गुरुता लहै ॥७४॥

मनुज-लोक प्रशंसित हो गया
अतिथि हों जिसके शिव इन्द्र भी
परख माणिक[1] आज मणीन्द्र[2] को
यश मिला लख राम प्रताप को ॥७५॥

अमर, आमरणान्तिक[3] को कहें
शुचि सुभाग्य जगी नर-लोक की
सुरस-समीर सुगंध बहा रहा
मधुप धाय रहे अब ओंध को ॥७६॥

---

१ जौहरी, २ उत्तम मणि ३ मृत्यु तक जीने वाला,

सहज में रज में मणि आ गया
अगुण को गुण - गौरव ज्ञान हो
शयित१ को कर–कज जगा दिया
कषर२, सुकचन को परखा भला ॥७७॥

सतत साथ रहा रघुनाथ का
पर न जान सका सुर - मान्य हैं
बसत पास सदा मृग—नाभि है
मृग उसे तनु बाहर ढूंढ़ता ७८॥

जगत - कारण तारण ब्रह्म हो
पर हमें उससे कब काम है
शुचि सनेह सने प्रिय राम के
त्रिपथगा सम क्या मरु - मद है ॥७९॥

मणि लिये जन खानि खने सदा
पर न हाथ लगे श्रम व्यर्थ हो
अति विशुद्ध मणीन्द्र मिला यहा
सकल लोक - समूह प्रमोद दे ॥८०॥

न मिलता अय—लोक छिपा रहे
सतत साधक साधत साधना
न बसता अनुमान, प्रमाण में
पकड़ में कब ब्रह्म मिला कहा ॥८१॥

---

१ सोता हुआ, २ कसौटी

अमर, क्यों हम ब्रह्म पुकारहीं
अतनु तो तनुवान दिखे नहीं
सगुण हो सबको सुख दे रहे
किरण-चन्द्र मही सित ज्यों करे ॥८२॥

नर न शोभित हो जब नग्न है
वसन से शुचि सुन्दर अंग हो
सगुण कर्म विदग्ध करे सभी
अनल ज्यों तृण भस्म करे यथा ॥८३॥

हम - सदेह, अदेह न देखते
जल नहीं सर, जीव तृषी रहे
सुलभ राम हुए सबके लिये
विष हरे विष—औषधि रूप में ॥८४॥

तरल रूप रहा अज - ब्रह्म का
स - घन - राम-स्वरूप-अखंड है
प्रकृति—सेवकिनी बन सेवती
सुर, सभाग दिखो रघुनाथ को ॥८५॥

जब तमोगुण है हृद में बसा
मुनि मुनीन्द्र सभी अकुला उठे
तब सतोगुण को तम दाबता
नभस[1]—दर्श समान सुपूर्णिमा ॥८६॥

---

[1] श्रावण महीने की अमावस,

जड़-पशुत्व बढ़ा अति, लोक में
चलद कोल१ करें कुल - कूटकी२
विमति३ स्वार्थि अनर्थ सने हुये
बहु बढ़े जल-ग्राह धुनी४ धरा ॥८७॥

कुल—कुलीन मलीन हुए सभी
मनुज में न रही निज मान्यता
तनय औ तनया विषयी बने
तरुणता वश पाप करें सदा ॥८८॥

पलित वृद्ध हुए बल भी घटा
विषय को मन त्याग नहीं सका
सुत सुता ममता मत में रहे
सपदि काल कलेवर हो गये ॥८९॥

उतरते सत से सब आ गये
धरणि ध्वान्त भरा सब ओर था
जन टटोल रहे सुख है कहां
शशि दिखे न कभी निशि-दर्श में ॥९०॥

दुरित दोष दुरोदरता५ बढ़ी
द्विपद६ दुष्कृनि७-दिग्ध८ चला रहे
स्वकुल में नर काम-कला करें
मन-विचार-रखें न स्ववंश का ॥९१॥

---

१ नीच जाति, २ छना, ३ मूर्ख, ४ नदी, ५ जुआ, ६ मनुष्य, ७ बुरे काम ८ विष से लिपटा हुआ बाण,

जनक औ जननी सुत भ्रातजे
धन लिये सबको सब त्यागते
बन गये जन स्वार्थ-भुजिष्य१ थे
स-द्दग भी न दिखे निशि दर्श में ॥९२॥

अघ पात हुआ सबका तभी
शुचि विवेक-विचार गये जभी
प्रकृति-पूर्ण -पराजित थे हुये
नमत ईश नहीं मतिमान थे ॥९३॥

प्रकृति - नीर, नदी-नद-चित्त का
बह चला निधि–नास्तिकता-दिशा
गच गली वन बाग—सुवेप में
कपट-पंक फँसे सब जीव थे ॥९४॥

बढ़गया दुख तत्व समीप था
विषमता विष सी उगलें सभी
महि प्रकंपित देश विनाश हों
कलह भूप प्रजा करती महा ॥९५॥

जल यदा न हुआ शुद्ध अन्न था
विकल थी जनता दुख में सभी
अति प्रचंड भयानक वायु था
अचल का चलना मन सोचता ॥९६॥

---
१ दास,

प्रकृति थी बहु मोहित कांपती
प्रलय लक्षण थे अनुमान से
तब लिया अवतार महाप्रभो
दुख दवाग्नि दबे क्षण एक में ॥६७॥
सुख-सुरूप दिखो अवधेश का
सकल कर्म विनाश प्रतत्त हों
विषय-लेश रही न प्रवासना
रवि-मयूख हरे तम-तोम को ॥६८॥

श्री रामचन्द्र जी का इन्द्र को उत्तर

विधि महेश सुरेश अमर्त्य[१] जे
मति-उदार प्रशंसित हैं महा
विनय-शील बने पति-लोक हो
सधन ज्यों धन-हीन दया करें ॥६६॥
जगत में अधिकार प्रतत्त हैं
अखिल तत्व, त्रिवर्ग[२], त्रिताप[३] जे
अधिक, न्यून सुरेश किया करें
सुर-प्रभाव पड़े नर पै सदा ॥१००॥
अबल को बलवान सहाय दे
सतत प्रेरत सो सुख ओर को
वह सुखी बनता निज कर्म से
सुर करें उपकार बड़े बने ॥१०१॥

---

१ देवता, २ सत, रज तमोगुण, ३ दैविक दैहिक भौतिक क्लेश,

यदि परार्थ करे जन जो सदा
सुख स्वयं बढ़ता उस ओर को
सब मनोरथ पूर्ण हुए घरे
शिखर-शैल सुशोभित वृक्ष से ॥१०२॥
तुम करो उपकार अनेक का
सुख प्रदायक नायक-लोक के
सकल जीव करें तव-अर्चना
जब हुआ हित, तो अनुराग हो ॥१०३॥
जगत-सात्विक के शिरमौर हो
सतत सत्य समीप सुखी रहो
बसत धर्म वहां धनदा१ बसे
सुख सदा बसता शुचि-चित्त में ॥१०४॥
अवध आकर की तुमने कृपा
हम हुए कृतकृत्य२ सभी यहां
नव-लता लपकी तरु-ओर जो
सुघर रूप दिया उसको महा ॥१०५॥

श्री ब्रह्मा को उत्तर

प्रकृति-अन्तर में सब स्टष्ठि है
जगत-जीव रँगे उस रंग में
गुण-विधान बँधे सब प्राणि हैं
गणक हो गणना करते रहो ॥१०६॥

---

१ लक्ष्मी, २ जिसने अपना मनोरथ सिद्धकर लिया हो ।

तप करो बहु विस्तृत विश्व हो
पर-हितार्थ सदा करतव्य है
सब प्रकार किया जब त्याग है
बन गये सबसे अति श्रेष्ठ हो ॥१०७॥

शिव जी को उत्तर

दुख, दिखे भव नाश स्वयं हुए
शिव उदार सुधार दुखी करें
यदि कहे "हर" तो हर कष्ट लें
वणिक—वृत्य महेश रुचे नहीं ॥१०८॥

नगन अन्तर बाह्य सदा रहें
लगन - ध्यान लगी शुचि ब्रह्म में
प्रकृति प्रेरित वायु लगे नहीं
अनिल—वेग न ठूठ हिला सके ॥१०९॥

प्रकृति पीठ दिखा शिव को दिया
सरसता रस की बसती नहीं
सुख न दुख कभी अनभूति हो
मरु - मही फग में कर्म

प्रकृति ले तम आश्रय दौड़ के
विफलता जनता बढ़ती तब
द्रवित हो लगते नग -

जगत - कर्म - बँधे - नर रो रहे
द्रवित – शम्भु सुखी करते तिन्हें
तप – सवितृ१ हरे तम - कर्म का
सघन दे घन, दुःख हरें दुखी ॥११२॥

श्री नारद जी को उत्तर

मुनि लिया अधिकार न लोक का
विरति प्रेम पगे हरि ध्यान में
सतत गोविंद के गुण—गान में
जगत ओर न दी सुख दृष्टि है ॥११३॥

प्रकृति—पाश न पास कभी दिखे
सतत सत्य सतोगुण को लिये
चरित श्रीयश गान करें सदा
कब तुषार कँपा सकता शिखा ॥११४॥

प्रवृत्ति—कर्म उठे मन में नहीं
सतत नाम जपें हरि—ध्यान में
भव - पयोधि अगस्त - मुनीन्द्र हैं
शरद में नभ मेघ रहें नहीं ॥११५॥

---

१ सूर्य

चरित गाकर श्री हरि का सुखी
प्रकृति-ध्वान्त न सन्मुख आ सके
यदपि सागर - ऊर्मि उलोलता
तदपि पोत न अन्तर जा सके ॥११६॥

सहज त्याग किया जग का सदा
असितता मन में न रही कभी
दुखित देख दया करते फिरें
निरत साधन में उपकारिता ॥११७॥

नृपति शासन शासित हैं सभी
पर न दण्ड मिले शिशु को कभी
वह पिता शरणागत में पड़ा
हरि स्वयं दुख से जन रखते ॥११८॥

जग—प्रलोभन-पूर्ण-प्रभाव में
पड़ न ध्यान कभी हरि त्यागते
वह उन्हे ततकाल निकालते
शुचि-सुधा, दुख-मृत्यु विनाशती ॥११९॥

जग-वितान-तले रहते हुए
न मन को उस ओर किया कभी
लगन लाग रही प्रभु-पाद में
घन-घिरे-रवि को जन अर्घ दें ॥१२०॥

प्रकृति है प्रबला प्रतिरूपिणी१
विषय-वारि निशा दिन वर्षिणी
अधः पात , प्रतापन२ प्रेक्षिता३
प्रसरता४ प्रवरा५ अनुरंजिका६ ॥१२१॥

विधि-विभावित७-वाम विलासिनी
नव-नरी नव-नाच नचा रही
नरक-नाक८ निकेतन नैष्ठिकी९
कुसुम-आयुध१०-आसव-पात्रिका११ ॥१२२॥

अति-अचेतन-चेतन-सृष्टि की
विशदता बहु मानव को दिया
पर प्रलोभ नताङ्गि१२ विफंद में
फँस रहा रस में अनुरक्त है ।१२३॥

हरि फिरें इनके सँग नित्य ही
कलुष-वायु न उष्ण लगे कभी
परम-प्रेम करें मुनि से सदा
कब पिता, सुत स्नेह न मग्न हो ॥१२४॥

---

१ संग्रह करने वली, २ कुम्भीपाक नर्क, ३ देखने वाली, ४ चौड़ापना, ५ श्रेष्ट, ६ प्रसन्नता देने वाली, ७ जानी हुई, ८ स्वर्ग ९ पूर्णतया परिचित, १० कामदेव, ११ पात्र । १२ जो स्त्री कुचों के भार से झुक जाय,

मुनि कृपा बहु की रघुवंश पै
अवध में मुझको अपना लिया
सफल कार्य हुए सब सद्य ही
शुचि-समीर सुगंध प्रदायिनी ॥१२५॥

पाताल लोक वासियों को उत्तर

जन-रसातल-लोक पधार के
अवध को अति आनंद है दिया
नद नदी बहतीं दिश-सिन्धु को
सलिल-सागर गौरव प्राप्त हो ॥१२६॥
पथ, गली, घर, आंगन से बहा
तब हुआ जल सागर रूप है
लहर लोल उठे उसमें महा
अति महान बना मल त्याग के ॥१२७॥
जन-रसातल भी नर-लोक में
अवध में सुर इन्द्र महेश से
मिल सके कृतकृत्य हुए सभी
त्रिपथगा यमुना सँग ज्यों बहें ॥१२८॥
कर कृपा बहु आदर है दिया
अवध दूर रसातल से महा
समझिये इसको निज धाम ही
शरद खंजन देख पड़े यथा ॥१२९॥

मालिनी छंद

मधुर-वचन जाके चित्त को चेतना दे
प्रमुदित सुर औ पाताल वासी सभी थे
प्रकृति-नव कली फूली प्रभा राम पाके
जलनिधि-मव भी आनंद वीची बढ़ाता ॥१३०॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव महाकाव्य

: पंचम सर्ग समाप्त :

—: अथ षट सर्गः :—

राजाओं को उत्तर

-ooOOOOOoo

* द्रुत विलंबित छंद *

नृप-समूह कृपा करके यहाँ
सकल कष्ट सहे पुर में महा
पर मुझे निधि आदर की मिली
जल मिले इव चातक हो सुखी,॥१॥

तुम शिरोमणि हो जनता-विषे
रथ-समाज रथी अगुआ बने
जिधर से चलते जन भी चलें
करिणि ज्यों गज की अनुगामिनी ॥२॥

नृप-प्रमत्त बने विषयी जभी
सब समाज गिरे तल- गर्त में
पर चले जब ऊर्ध्व लिये सभी
शुचि-प्रजा जन सात्वकि हो महा ॥३॥

नृपति स्वारथ लीन हुआ जहाँ
मति- विमत्त हुई तिसकी तभी
सरित— धार बहे तट ओर को
तब पड़े सिकता सरि मध्य में॥४॥

नृप बने जब निंदित लोक में
लघु करें अपमान खुले सभी
उतरते सरि को जन पैठ के
जल हुआ कम लोग प्रवेश हों ॥५॥

परम-प्रीत- प्रभाव-प्रगाढ़ता
प्रकट की बहु भांति पधार के
शिखर-धाम-शिला अति उच्च है
चपल कन्य धरे शिर पै वसे॥६॥

मिलन प्रीत प्रवद्धि बड़ी करे
विपद यादर दूर भगें सभी
अरि प्रकोपित मित्र बने सदा
द्रुम समूह समीप रहे यथा ॥७॥

नृप नृपोचित कार्य न जो किया
सहज-श्रेणि-समाज समा गया
जन न सादर शीश नवावहीं
नभस वारि विहीन अकाल हो ॥८॥

तम तथा रज बुद्धि नरेश की
यह चले जनता दिश ओर को
सतत स्वार्थ सनी मति हो रहे
सहज सींचत पुण्यक लोह को ॥५०॥

नृप—यथा मति, बुद्धि प्रजा तथा
नृपति-स्रोत, प्रजा जल धार है
सतत रक्षण—भूप प्रधान है
गड़ हरी तब पल्लव हैं हरे ॥५१॥

इसलिये नृप रक्षण श्रेय है
विरव हो न सके यह मार्ग से
सचिव का सुधी कर मन्त्रणा
नृपति मन्त्रित मन्त्र सदा रहें ॥५२॥

यदि करे नर स्वार्थ न चिंतना
पर-हितार्थ सहे दुख वेदना
सुर सुरेश धरें शिर पाद में
प्रकृति-पाश न पास, विमुक्त है

कुँवर—अंगद बीर महा बली
वर—विवेक विचार प्रवीणता
हृदय में बसती मति शुद्ध है
सहित प्रीत इसे सुत मानता ॥१५॥

अवधनाथ सभा-जन से कहें
सुर मुनीन्द्र नरेश प्रजा सुनो
पवन-नदन श्री हनुमान ये
मम किया उपकार सप्रीत से ॥१६॥

गुण विशिष्ट वलिष्ठ प्रधान हैं
विनय बुद्धिविवेक विशाल हैं
निगम आगम और पुराण जो
प्रसर पूर्ण सदा, रसनाम में

कुशल काव्य कला फल कोमला
विशद भाव अलंकृत व्यञ्जना
गुणिनर—गौरव अर्थ विभिन्नता
न—पुत्र पवित्र मनीषि में ॥१८॥

जगत— कार्य करे नृप न्याय से
परम—पावन मुक्ति मिले उसे
इक सधे सब साधनता सधे
गरम, चूल्हि१ चढ़ा परपात्र२ हो ॥९॥

नृपति-नेन्द्र, प्रजा वर व्यास का
निरत शासन-सूत्र प्रभाव में
नृप प्रजा सुख सग वटोरती
किरण जा छिटके शशि से मही ॥१०॥

सरि बिना जल, द्रव्य बिना गृही
तप बिना तपसी, तरु फूल के
धव बिना सधवा सुखहीन है
नृपति दण्ड बिना उपहास हो ॥११

नृप, प्रजा-मन रंजन जो करे
सुख समाज सुसंग मिले उसे
निरत नित्य रहे वह लाभ में
उदधि को सरिता जल नित्य दें ॥१२

नृप—विभीषण औ दशग्रीव के
सतगुणादि कहे रघुनाथ ने
उऋण होसकता इनसे कहां
मम हितार्थ किया बलि स्वार्थ की॥१३॥

---

१ चूल्हा, २बटलोई के ऊपर कटोरा आदि वर्तन ।

यदि करे नर स्वार्थ न चिंतना
पर-हितार्थ सहे दुख वेदना
सुर सुरेश धरें शिर पाद में
प्रकृति-पाश न पास, विमुक्त है

कुँवर—अंगद बीर महा बली
वर—विवेक विचार प्रवीणता
हृदय में बसती मति शुद्ध है
सहित प्रीत इसे सुत मानता ॥१५॥

अवधनाथ सभा-जन से कहें
सुर मुनीन्द्र नरेश प्रजा सुनो
पवन-नंदन श्री हनुमान ये
मम किया उपकार सप्रीत से ॥१६॥

गुण विशिष्ट वलिष्ट प्रधान हैं
विनय बुद्धिविवेक विशाल हैं
निगम आगम और पुराण जो
प्रखर पूर्ण सदा, रसनाग्र में

कुशल काव्य कला कल कोमला
विशद भाव अलंकृत व्यञ्जना
गुणिन१—गौरव अर्थ विभिन्नता
पवन—पुत्र पवित्र मनीषि में ॥१८॥

---

१ उत्कृष्ट,

कपि समूह स्वदेस विदेश के
मम सहाय किया जय हेतु में
सब प्रसन्न रहें सब काल में
त्रिविध ताप न तापित हों कभी ॥२४॥

सुन हुआ जय —घोष महा वहाँ
विजय—वाद्य बजे सुख सूचना
अमित—हर्ष हुआ सबको सभा
गरज—मेघ मयूर सुने यथा ॥२५॥

मन-प्रजा घिरके मम—वित्त को
वश किया निज मोद प्रमोद में
सुख समीप प्रदीप प्रकाशता
कर—पिता पकड़े सुत ज्यों चले॥२७॥

नगर-नन्दन१—नागर नागरी
दल—सरोज—मरंद सँवारती
मधुप—पाद धरे निज शीश पे
मधुरता—मधु दें उपकारिणी ॥२८॥

शिखर, आश्रित आश्रय पाद के
यदि ढहा यह, तो वह भी गिरे
नृप प्रजा न विभिन्न कभी रहें
गगन औ अवकाश न भेद है ॥२६॥

आनंद देने वाला

अचिर औ चिर तत्सम तद्भवी
विषम देशज शब्द समूह जे
नवल - भाव सुअर्थ लिये सजे
सफल-साधक—शब्द सुधी महा ॥१९॥

बचन बोलत बुद्धि बँधे हुए
मधुरता रस चू तिनसे रहा
वदन की मुसकान मनीषिका१
द्रव - दशा कर द्रावर कठोरता ॥२०॥

मम समीप सदैव रहें यहाँ
सतत सादर पूजित हो महा
परम पावन भक्ति—सुखाब्धि जो
मिल सके हनुमान प्रसाद—से ॥२१॥

जगत में बहु पूजित हो रहें
कर सकें विधि की विधि विघ्नता
मम समीप मनुष्य न जा सके
शुचि निदेश बिना हनुमान के ॥२२॥

प्रथकता न रखो क्षण मात्र को
सतत ध्यान पदांग किये रहें
मिल गये मुझ में हनुमान हैं
लवण नीर मिला जिस भाँति से ॥२३॥

---

१ क न विपलाना

कपि समूह स्वदेस विदेश के
मम सहाय किया जय हेतु मे
सब प्रसन्न रहें सब काल में
त्रिविध ताप न तापित हों कभी ॥२४॥

सुन हुआ जय —घोष महा वहाँ
विजय—वाद्य बजे सुख सूचना
अमित—हर्ष हुआ सबको सभा
गरज—मेघ मयूर सुने यथा ॥२५॥

मन-प्रजा घिरके मम—चित्त को
वश किया निज मोद प्रमोद में
सुख समीप प्रदीप प्रकाशता
कर—पिता पकड़े सुत ज्यों चले॥२७॥

नगर-नन्दन१—नागर नागरो
दल—सरोज—मरंद सँवारती
मधुप—पाद धरे निज शीश पै
मधुरता—मधु दें उपकारिणी ॥२८॥

शिखर, आश्रित आश्रय पाद के
यदि ढहा यह, तो वह भी गिरे
नृप प्रजा न विभिन्न कभी रहें
गगन औ अवकाश न भेद है ॥२६॥

---

१ आनंद देने वाला

अवधि अंत हुई पद अन्य लें
विधि विधान विभिन्न प्रभावि हों
इक देश दृढ़ता रहती महा
विविध शासक देश हुआ करें ॥४०॥

अचल प्रेम प्रजा उनमें कहां
रहँट-सा चढ़ ऊपर से गिरें
सतत प्रीति सकें रख क्या प्रजा
जब स्वयं अधिकार विहीन हों ॥४१॥

जब प्रजा सब, भूप स्वरूप हों
तब न व्यक्ति-विचार स्वतन्त्र हों
सकल संपत्ति कोष स्वराष्ट्र का
विगत स्वत्व हुई रहती प्रजा ॥४२॥

जन उपार्जन द्रव्य करे जहां
व्यय विशेष करे धन को कमा
पर न दे सकते सुत आदि को
मरण अन्त हुआ सब राष्ट्र का ॥४३॥

सुत सुता सब संपदि राष्ट्र की
सहज प्रेम नहीं जननी-पिता
कुल कुलीन नहीं समता दिखे
सहज सौम्य असौम्य समान हैं ॥४४॥

नृपति अंश सभी जन हो रहे
इक प्रधान चुने पति राष्ट्र का
वह न व्यक्ति विचार सुने कभी
कठिन शासन शासक हो करे ॥४५॥

जनपदादि स्वयं अधिकारि हों
कठिन शासन देश करे महा
कर सके न विरोध सुखी वहां
यदपि न्याय-प्रकाश न हो जभी ॥४६॥

जब बना इक शासक देश का
वह चुने निज पार्षद राज्य में
नृप हुआ सब द्रव्य प्रजा हरे
धन धरा जन की न रखे वहां ॥४७॥

जब न व्यक्ति स्वतन्त्र विचार हो
तब कहां सुख शोभित है प्रजा
सकल किंकर सी जनता वहां
सतत शंकित शासन से रहे ॥४८॥

नृप जभी दुख दे जनता महा
तब विचार विरुद्ध प्रजा उठे
नृपति को पद भ्रष्ट करे तभी
गगन धूल चढ़े, पग थी पड़ी ॥४९॥

---

४६ रूस के लिए संकेत है।

तम तथा रज बुद्धि नरेश की
बढ़ चले जनता दिश ओर को
सतत स्वार्थ सनी मति हो रहे
सहज खींचत चुम्बक लोह को ॥५०॥

नृप—यथा मति, बुद्धि प्रजा तथा
नृपति-स्रोत, प्रजा जल धार है
सतत रक्षण—भूप प्रधान है
जड़ हरी तब पल्लव हैं हरे ॥५१॥

इसलिये नृप रक्षण श्रेय है
विपथ हो न सके वह सत्य से
सचिव सा सुधी कर मन्त्रणा
नृपति मन्त्रित मन्त्र सदा रखें ॥५२॥

धव बिना सधवा सुखहीन ज्यों
घन बिना नभ-सावन शून्य है
कवि सुधी पटु-वाक्य बिना सभा
सचिव, शूर, बिना नृप हेय है ॥५३॥

जड़ - प्रजा रस ले, नृप दे शिखा
सफल फूल दिखे तरु शाख में
नृप विनाश, प्रजा न विनाश हो
तरणि केवट अन्य सँभालता ॥५४॥

उजड़ती जब राज्य, प्रजा दुखी
तब नरेश – नराधम सा बने
इसलिये जन – रक्षण श्रेष्ट है
मति, नरेश प्रजा हित में रखे ॥५५॥

नृप-शिखा-तरु औ जड़ है प्रजा
तड़ित वायु - प्रवेग सहे शिखा
जड़ गई गहिरे तल भूमि में
सुखद पल्लव शाख बढ़े वहां ॥५६॥

प्रमुख भूप मनुष्य समाज का
सकल भार धरे सब वर्ग का
सहित धर्म चले पथ - सत्य पै
नृप समोद, प्रजा अनुसारिणी ॥५७॥

यदि कुलीन प्रजा अकलंक हैं
कब कलंकित हो जन निम्न जो
जन-समाज बँधे सब वर्ग हैं
पथ - प्रदर्शक मार्ग दिखा दिया ॥५८॥

यदि नरेश न सत्य सँभालता
दृढ़ विधान रहें कब राज्य में,
विधि प्रभाव दबी जनता नहीं
शिखर - शैल गिरा, तरु तोड़ता ॥५९॥

इसलिये नृप धार्मिक ही बने
सहज संयम पालन सो करे
शम दमादि प्रवीण बने स्वयं
अनुपथी१ बनती जनता सदा ॥६०॥

यदि स्वयं नृप संयमशील है
जनपदादि उसे अनुवर्तते२
वह बढ़ा चलता पथ ऊर्ध्व को
जन चलें संग, भास्कर रश्मि ज्यों ॥६१॥

यदि विनष्ट हुई नृपता जहां
तब प्रजा नृप रूप स्वयं बने
सुखद लोक तथा परलोक को
कर सके न, बढ़े प्रतिद्वंदता ॥६२॥

भ्रमित बुद्धि रहे जल भौंर - सी
गमन अग्र करे पुनि लौटता
सतत स्वार्थ सनी मति मंद है
वह सदा अधिकार सचित है ॥६३॥

सरित, सिन्धु - अगाध न हो सके
मधुरिका३ कब वृक्ष - विशाल हो
शवर, शिष्ट-सुधी-शुचिता कहां
जनपदी — नृपता दुखदारिणी ॥६४॥

---

१ अनुसरण करने वाली २ अनुगमनकरना, समर्थन करना, ३ सौंफ,

सलिल ऊपर को उठ वेग से
पर गिरे वह निम्न स्वपात्र में
फिर उठे गिरके उछले गिरे
गमन सीमित है बढ़ता नहीं ॥६५॥

रहँट - चक्र प्रजा - पति चाल है
न पद – राष्ट्र बना रहता सदा
तब रहे समता कब चित्त में
ऋतु यथा बदले अधिकार त्यों ॥६६॥

नृप-कुलोद्भव भूप न चिंतना
कि वह भी अधिकार न पा सके
मन न साधन स्वार्थ लगा रहे
उदधि ग्रीषम में कब सूखता ॥६७॥

नृपति-वंशज-भूप, हुआ जहां
सतत ध्यान प्रजा हित का रखे
मन लगा जनता दिश नित्य है
सरित धार बहे दिश-सिन्धु के ॥६८॥

सर नदी नद ताल अनेक हैं
मधुर-नीर सरोज समेत वे
उदधि की समता कर क्या सकें
जन-पदी-नृपता, न नरेश सी ॥६९॥

प्रकृति - पौरुषता – वर-बीज की
सुत-नरेश लिये वर वंश में
वह उदार सदा जनता रुचे
नृप, प्रजा, नग औ मुँदरी यथा ॥७०॥

सतत साधन-सत्य नरेश हो
निरत संयम, शील, सदा रहे
नियम धर्म धरे मन शौर्यता
सर इकत्र हुआ जल जोर से ॥७१॥

नृप-सुभाव सदा प्रतिरूपता
जन – पदी करती जग नित्य है
सुख प्रमोद प्रजा परिपूर्ण है
विशद-स्रोत करे सरि बाढ़ ज्यों ॥७२॥

स्वसुख-भोग-विलास न देखता
स्वजन सी प्रिय है जनता जिसे
वह अजेय नरेश सुरेश से
अनल छू कर कौन न भस्म हो ॥७३॥

प्रण करूं जन-सन्मुख आज मैं
सतत सेवक हो उनका रहूँ
सुख उन्हें, सुख है मुझको महा
दुखित हूँ दुख जो उनको हुआ ॥७४॥

नृप अधीन रहे जनता सदा
नृपति-गोपति१ श्रम, गवादि के
दुख तथा सुख दायक भूप हैं
घन घिरा बरसे, बरसे नहीं ॥७५॥

तदपि शासन - भूपति - ऊपरी
मन-स्वतन्त्र सभी जन का रहे
निकृत२ शासन बंधन तोड़ता
उचित दण्ड मिले, हित राष्ट्र के ॥७६॥

यदि न दण्ड विधानित भूप दे
जन उपद्रव देश करें सदा
विधि विधान सभी तब नष्ट हों
निकलते द्विज हैं पिंजरा खुला ॥७७॥

सहज-सत्य स्वधर्म-प्रधानता
दृढ़ धरे हृद में हित न्याय के
यदि करे जनता अवहेलना
उचित दण्ड दिये नृप हो सुखी ॥७८॥

नृप, प्रसाद तथा कर दण्ड ले
उचित - शासन जो करता सदा
सहज-संयम-शील-प्रजा बने
पशु - समूह लिए पशुनाथ३ ज्यों ॥७९॥

---

१ सांड़, २ नीच, ३ चरवाहा ।

अनुज हैं मम प्राण समान ये
भरत को युवराज प्रजा चुना
लषण लाल रहें मम संग में
पति—अनीक हुए लघु भ्रात हैं ॥८०॥

जनक वीर्य- विचार - प्रधानता
सहज - प्रीत — स्वभाव समानता
प्रकृति–आकृति भ्रात न भिन्न हो
फल–रसाल बड़े लघु–मिष्ठ ज्यों ॥८१॥

स्वकुल को यश गौरव कीर्ति दें
स्वगुण से बढती बहु धारणा१
सुत सुता सुख वैभव वृद्धि हो
तरु चतुर्दिश शाख फली फुलीं ॥८२॥

विपति भ्रात सहाय सदा करें
अरि सभीत भगें जब घेरते
जन दबें बल बधु विचारके
सघन-वृक्ष प्रकम्पनर रोकते ॥८३॥

सबल है बल-बन्धु मिला जिसे
यक जुटे यक गेरह हो गया
प्रबल वेग बढ़े जल बाढ़ से
बह चले गज धार पड़ा जहाँ ॥८४॥

१ मर्यादा, २ आंधी।

भरत लक्ष्मण औ लघु बन्धु जे
मम हुलास विलास बढा रहे
सुख - तड़ाग प्रफुल्ल सरोज से
तरु, प्रशाख - सपल्लव शोभते ॥८५॥

'जननि गर्भ धरे दुख भोगती
वमनता बढती, तन - पीतता
उदरिणी१ - उदराग - उदग्रता२
अरुचिता कृशता कम हो नहीं ॥८६॥

प्रसव काल प्रपीड़ित पीडिता
व्यथित गर्भिणि गर्भ - प्रवेदना
महत् कष्ट सहे सुत - जन्म में
रस–सुस्वाद - सभी–सुख त्यागती ॥८७॥

मलिनता–मल-मूत्र - स्वपुत्र की
स्वकर से करती सब शुद्ध है
शयन जाग्रत में सुत सौख्य दे
सतत प्राण समान सँभालती ॥८८॥

प्रकृति आकृति मिश्रण दपती
स्वरज रंजित रग विशेषता
सुत स्वरूप रचे जननी सदा
अमर रूप यथा जन स्वर्ग में ॥८९॥

१ जिसके शरीर में गर्भ हो, २ ऊँचाई।

स्वहृद-रूप रचे सुत रूप में
रस रसा तरु पल्लव दे यथा
जननि-प्रेम न स्वार्थ दिखे कभी
तृषित को जल-दान तड़ाग दे ॥९०॥

जननि जाग्रत सोवत सेवतीं
सुत-सनेह लिये दुख को दिखें
सुख-प्रसाद मिला इनसे मुझे
उऋण हो सकता इनसे कहां ॥९१॥

* मालिनी छद *

सुर असुर सभी ने पूर्ण आनन्द माना
अवधपुर बनाया कीर्ति-का-स्तम्भ भारी
नर-पति मुनि योगी विप्र लोकेश आये
रघुकुल यश शोभा की बड़ी वृद्धि कीन्ही ॥९२॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव महाकाव्य

: षट सर्ग समाप्त :

—: अथ सप्तम सर्गः :—

राम राज्य साधन

* वंशस्थ छंद *

अशान्त श्रीराम प्रशान्त चित्त को
विशेष एकाग्र किया विवेक से
विभिन्न हैं अन्तर्-वृत्तियां जहां
विचारते हैं गुण दोष द्वन्दता ॥१॥

करें यही नित्य स्वयं गवेषणा[1]
महान-कोलाहल चित्त हो रहा
प्रवाह वेगाकुल वृद्धि हो सदा
न शांति आती नर को कभी नहीं ॥२॥

स्वचक्षु से ज्यों जन मार्ग देखते
स्वचित्त में त्यों जग सृष्टि है भरी
उसे विलोके मन मत्त कल्पना
करे अनेकान्त[2] प्रमाद बाह्य में ॥३॥

---

१ खोजना, २ जिसके छोर का कुछ नियम न हो ।

स्वक्षेत्र में ज्यों तृण-शस्य साथ में
उगे वहां, तो उसको निकालते
प्रवृद्धि होती शुचि बीज की तभी
विरुद्ध हो तो बहु अन्न हो नहीं ॥४॥

जहाँ नदी के दृढ़ कूल हैं नहीं
प्रसार होता जल पार्श्व में वहाँ
प्रवाह का वेग न सिन्धु ओर हो
न ऊर्मि आवर्त गँभीरता कहीं ॥५॥

पयोधि का रूप तड़ाग का नहीं
मलीनता - मूर्ति सपंक तीर है
अपार काई तृण नीर में जमा
रहा न संबंध प्रवेग का जहां ॥६॥

पता रहा क्या जल का वहाँ तभी
तड़ाग सूखा मृदु पंक मृत्तिका
अहा दशा क्या जल वेग की हुई
कुपंथगामी नर नर्क भोगता ॥७॥

न इन्द्रियां संयम शील हों कभी
जहां झुका है मन भूरि भोग में
सुबुद्धि को भी यह संग खींचता
कुसंग पाके नर सावधान क्या ॥८॥

बढ़े जभी बाहर ओर चित्त जो
अनित्य-भोगों बश वासना बसी
उड़ा फिरे चंचल हो चवाव में
पतंग ज्यों दूर अनंत१ दीखता ॥९॥

विलासिता में सुख – चाहना करे
सुरा – प्रमादी गिर गर्त ज्यों हँसे
विभिन्नता वाह्य - प्रमादता बड़ी
प्रशाख-शाखें - वट में अनेक हों ॥१०॥

सहोदरा मातृ पिता सुबंधु भी
प्रणेयिर - पत्नी परिपूजती३ सदा
सुपुत्र पुत्री प्रिय पौत्र प्रीति में
वियोग संयोग दुखी सुखी रहें ॥११॥

धरा धनाशा धर चित्त चिंतना
अजस्र पाता अपमान दुःख है
निशा दिवा संग्रह त्यागता नहीं
कबंध, धारा पड़के कहाँ रुके ॥१२॥

करें सभी दौड़ मनुष्य संग में
लड़ें भिड़े वे धन कामिनी लिये
मरें मिटें, मान न मान का रहे
प्रमाद हो, तो सत-बुद्धि है कहाँ ॥१३॥

---

१ आकाश, २ अग्नि, ३ सेवा करती है, ४ पानी

स्वपक्ष का साधन झूंठ से करें
न हों सुखी अंतर-गर्त में गिरें
सुस्वाद से, हा, ज्वर साथ खा लिया
प्रकोप से रोग बढ़ा दुखी हुआ ॥१४॥

सगर्व हो गौरव ज्ञान का करें
परंतु है अन्तर शून्य बुद्धि जो
न मान पाता अपमान पात्र हो
कबंध आवर्त पड़ा भ्रमा करे ॥१५॥

जहां नहीं साधन स्वार्थ का हुआ
सरोष हो द्वेष करे स्वगोत्र में
कुवाक्य की अग्नि लगी, जला करे
कॅपावती अन्तर - शीत बाह्य में ॥१६॥

मनोज माने कब, जो हुआ युवा
घुमा दिया चित्त बिलोक कामिनी
लगा रहे स्वान समान संग में
प्रमाद होता मदिरा पिया जहां ॥१७॥

किसे नहीं लोभ नचा थका दिया
सगे सनेही सबको जुदा किया
स्वआत्म का भी सुख कौन पा सका
न शांत होता, तृण वायु - वेग से ॥१८॥

बना विमोही वश मोह पाश में
सगे सनेही सुत पौत्र कामिनी
फँसा इन्हीं के जन प्रेम में सदा
सुपंख, लासा-लस से न मुक्त हो ॥१९॥

प्रसार होता इक का अनेक हो
असंख्य होते फल बीज एक से
बढ़े बढ़ावे मन वासना बढ़ी
प्रवद्ध-माया-पथ में न कौन हो ॥२०॥

महान-माया मन को प्रचारती
चला चले चंचल वासना लिये
प्रसन्न होता सुख मान ले जहां
विशेष डूबा दुख द्वंद मे रहे ॥२१॥

बचा रहे जो इससे सयान है
मलीन-माया-पथ-कंटकी – बड़ा
निमग्न संसार – पयोधि में हुआ
सगा बना शत्रु समान संग है ॥२२॥

सुबुद्धि का मार्ग - प्रशांत दूसरा
जहां रहे शांति विवेक धर्म हैं
सुशीलता सत्य तथा सुचारुता
मिठास मिष्ठान्न सुस्वाद दे यथा ॥२३॥

लड़ें मरें वे समझें कभी नहीं
बिना विचारे कुविचार से वहीं
वि-द्वेष - संक्रामक-रोग है बड़ा
सकाश जाता जन बद्ध हो गया ॥२९॥

पड़ोस से ग्राम प्रभाव में करे
जवार को भी निज रंग में रँगे
प्रदेश औ देश वि-द्वेष ग्रास हो
बढ़े नहीं क्यों सरि-बाढ़-वेग में ॥३०॥

समाज - गोष्ठी न रहे वहाँ तभी
प्रभेदता व्यक्तिक - भाव की बढ़े
समूहता का बल ओज हो नहीं
न रेत में हो लस जोड़ जो सके ॥३१॥

अधीन हो देश, बिदेश के तभी
कठोरता - शासन की बढ़े महा
अनंत-लक्ष्मी बल-वेग से बड़ा
दरिद्रता का दुख देश को दिया ॥३२॥

दया -रखे लेश न, दीन के लिए
हँसी उड़ाते दिखवे दुखी जभी
न नारि सन्मान करें प्रमाद से
अखंड-गर्वी मति-मग्न हो नहीं ॥३३॥

अजस्र जाता मन बाह्य ओर को
सुबुद्धि तो अन्तर अंत ले सके
विशुद्ध आत्मा हृद में विराजती
महान – घंटापथ१ - ब्रह्म देव का ॥२४॥

विशेष गाथा षडवर्ग२ की बड़ी
मनुष्य नाचे इनके संकेत पै
सुनो उन्हीं के सब हाल आसुरी
प्रभाव माया-मन क्रोध काम वासना । २५॥

जले स्वय मानुष क्रोध के हुए
विवेक जाता जब, रोष - अग्नि हो
भला बुरा ज्ञान रहे नहीं तभी
तमिस्र में क्या दिन रात्रि भेद हो ॥२६॥

कृशानु ज्यों भस्म पदार्थ का करे
जगे जहां क्रोध वही स्वयं जले
प्रभाव में लेकर बुद्धि बांधता
कुसंग में कौन बुरा बने नहीं ॥२७॥

प्रदीप्त - ईर्षा मन में हुई जहाँ
सद्वेष हो भाव – बुरे जगे जभी
बना लिया शत्रु स्वयं मनुष्य ने
सभ्रान्त - पालू - पशु जंगली बने ॥२८॥

---

१ राजमार्ग, २ काम क्रोध मद लोभ और मत्सर

लड़ें मरें वे समझें कभी नहीं
बिना विचारे कुविचार से वहां
वि-द्वेष – संक्रामक–रोग है बड़ा
सकाश जाता जन बद्ध हो गया ॥२६॥

पड़ोस से ग्राम प्रभाव में करे
जवांर को भी निज रंग में रंगे
प्रदेश औ देश वि–द्वेष ग्रास हों
बढ़े नहीं क्यों सरि–बाढ़–वेग में ॥३०॥

समाज - गोष्ठी न रहे वहाँ तभी
प्रभेदता व्यक्तिक – भाव की बढ़े
समूहता का बल ओज हो नहीं
न रेत में हो लय जोड़ जो सके ॥३१॥

अधीन हो देश, विदेश के तभी
कठोरता – शासन की बढ़े महा
अनंत–लक्ष्मी बल–वेग से बड़ा
दरिद्रता का दुख देश को दिया ॥३२॥

दया रखे लेश न, दीन के लिए
हँसी उड़ाते दिखते दुखी जभी
न नारि सन्मान करें प्रमाद से
अखंडनार्थी मति–मन्त्र हो नहीं ॥३३॥

विलासिता - केन्द्र महान देश हो
मनुष्य – देशी अनुरूपता करें
विदेश के रंग रँगा स्वदेश जो
तहां न आधार विचार आत्मता ॥३४॥
पिपास से हा, सरि तीर में मरे
भरा-धरा अन्न न खा सकें वहाँ
अकाल के गाल पड़ें सुकाल में
विदेश - भुक्ती बनता स्वदेश है ॥३५॥
कही कथा है इक व्यक्ति क्रोध की
स्वदेश - सारा अनुरूपता करे
विपाक[१] होता उसका बड़ा बुरा
महा दुखी हो जनता जला करे ॥३६॥

काम

सुनो बड़ी काम-कथा-विलासिनी
युवा अवस्था मिलते युवा हुई
उमंग में अंग सुअंगना दिखे
विहाल होता नर नेत्र - वाण से ॥३७॥
मनोज का राज्य हुआ जहां कहीं
विलासिता अंतर बाह्य में जगी
सदा भुलाती निज धर्म कर्म को
प्रमत्तता हो मद – पान के किये ॥३८॥

---

१ फल,

बना प्रमादी प्रमदा प्रतारकी१
नवाङ्गिनी - नेत्र निपात नाचता
न ध्यान हो गौरव - वंश का उसे
हुआ जभी मानुष कामकूटकी२ ॥३६॥
कुरोग होते बहु कामअंकुशी३
महा दुखी हो कम-काम-शक्ति से
विरूपता अंग कुरूपता करे
तड़ाग सूखा, जल था जहां भरा ॥४०॥
कुदृष्टि देखे पर-नारि को जभी
कुबीज बोया निज नाश का तभी.
फँसा लिया कामिनि काम-लोलनी
हुआ वहां दम्पति - प्रेम नाश है ॥४१॥
विधायकी४ थी मरजाद, भंग की
कुइन्द्रियों ने मन को फँसा लिया
सुबुद्धि की ओर न जा सकी कभी
मनुष्यता का तब क्या पता रहे ॥४२॥
पशुत्व की ओर प्रमाद साथ में
बढ़ा कुकर्मी भव - मध्य की दिशा
गया वहां काल - अनंत के लिए
कुइन्द्रियों के तल - गर्त में गिरा ॥४३॥

---

१ धूर्त, वंचक, २ वेश्या प्रेमी, ३ जननेन्द्रिय, लिंग, ४ रची हुई,

विधान से दम्पति दैव के बँधे
विशुद्ध संतान प्रवृद्धि वंश हो
सुकर्म कल्याण करे सुखी रहे
स्वधर्म से ऊर्ध्व सुमार्ग में बढ़ा ॥ ४॥
सुपुत्र हो तो वर - वंश - वृद्धिहो
सुपंथ का अध्वग१ ऊर्ध्व ओर का
बढ़ा चले मुक्ति मिले प्रयत्न से
सुउच्च होता गिरि पै चढ़ा जभी ॥४५॥

मद

मदान्धता मान हितार्थ जो करे
न मान पाता, मन में प्रमादता
अमानता, मान, विभिन्न हो रहे
न भूमि आकाश समान हों कभी ॥४६॥
किया जहां मान, न मान का रहा
प्रमाण को भी जन मानता नहीं
स-मान हो जो अपमान को लहे
कुरोग होवे तन क्यों निरोग है ॥४७॥
विलोकता पर्वत, भूमि जो पड़ा
कहे कि है शैल सुशृंग पै चढ़ा
प्रबोधता बोध न दे सके उसे
अनेत्र को मार्ग दिखे कहीं नहीं ॥४८॥

---

१ मुसाफिर,

दिया गया मान, सवेग लौटता
न दी गयी वस्तु मिले कभी नहीं
बिना दिये जो जन मान मांगता
कहो भला मंगन - मूर्ति क्यों नहीं ॥४६॥

स-मान हो जो उसको कलङ्क है
दिया गया शोभित अन्य को करे
सुधेनु व्यायी अति भाद्र की बुरी।
न दूसरे को दुख दे प्रदान में ॥५०॥

दिये, बढ़े मान, न दे कलंक हो
प्रमाण से पात्र सुपात्र बांट दे
रखे सड़े, बीज, बढ़े सुखेत में
न धूम शोभा करता सुधाम की ॥५१॥

अमानता निर्मल नीर सी भली
जहां रहे शोभित स्वच्छता करे
महान सन्मान मिले सदा उसे
रहे अमानी मन मूढता नहीं ॥५२॥

अमानता का वल, मान से बड़ा
सवेग खींचे निज ओर को उसे
कठोरता मान, न राखही सके
गयंद धारा पड़के न क्यों बहे ॥५३॥

अमानता संगम उच्च नीच का
प्रमत्तता - मान अशांति में रहे
अमान के संग सदा सुखी यथा
प्रयाग में गंग मिले कलिंदि से ॥५४॥
अमोघ है अस्त्र अमान का बड़ा
प्रमाण से मर्दन मान का करे
सहर्ष मानी मन मोद मानता
जहां हुआ संग अमान का उसे ॥५५॥

लोभ

विचित्र-संसार-अनित्य-चक्र ले
चला करे जो जस-तेल-लोभ से
प्रलोभता की प्रभुता - महान है
प्रधानता है जग की मिली इसे ॥५६॥
सप्रेम सम्बन्ध रखे कहीं नहीं
पिता सुभ्राता सुत नारि जो सगे
करे बिराने क्षण एक में उन्हें
तुषार की शीत कँपावती सभी ॥५७॥
सुवर्ण चांदी मणि रत्न कोप में
भरे पड़े हैं गणना सुकोटि की
कभी न संतोप हुआ हुए धनी
रहे दरिद्री धन से कुबेर भी ॥५८॥

सदा नचाता जिसको न लोभ है
प्रवेग आशा दिन रात्रि नोचती
कुटुम्ब औ राष्ट्र तथा सुव्यक्ति भी
जरे मरें द्रव्य हितार्थ नित्य है ॥५९॥

कभी न संतोष हुआ दरिद्र को
धनी बना, लाख-अनेक कोष में
सदा कमाता, कम है कहा करे
न स्रोत-आशा जल लोभ रोकती ॥६०॥

न एक-पैसा जिसको कभी मिला
सहस्र-मुद्रा घर स्वर्ण के भरे
सुचित्तता-चित्त न आसकी कभी
अजस्र धारा बहती नदी रहे ॥६१॥

स्वकोष है पूर्ण, न पूर्ण मानता
अपूर्णता – चित्त बसी सदा रहे
प्रवास-वासी भ्रमता महान्त१ लों
घरे गया क्या शिर हेम हर्म्य भी ॥६२॥

न लोभ होता जन जो सतोगुणी
न राग का रंग लगे सुचित्त में
विवेक – वातायन बुद्धि–वायु से
सुतुष्टि की शीतलता दिया करे ॥६३॥

---

१ मृत्यु।

रजोगुणी तामस रूप लोभ है
जहां रहे ये, वह भी वहीं बसे
अभिन्न है, भिन्न न हो सके कभी
अमा–निशा ज्यों तम को न त्यागती ॥६४॥

प्रलोभ से पाप-पहाड़ प्राप्त हो
प्रमत्त–लोभी वध गोत्र का करे
सगा सताता धन धाम के लिये
भवाटवी––वैभव-तीव्र–लोभ है ॥६५॥

मोह

सनेह-सानी मति, मोह में फँसी
विचारती प्रीति सदा बनी रहे
पिता प्रिया पुत्र सुता सहोदरा
न भिन्न होंगी इमसे सगी बड़ी ॥६६॥

विचार में मग्न सदैव ही रहे
सुवस्त्र-औ–भोजन चिंतना लिये
प्रवास वासी इनके हितार्थ हैं
न पेट खाता परिवार मोह में ॥६७॥

अजस्र––सेवा वह नीच की करे
न सत्य बोले सुख सौख्य के लिये
सदा सगों से अपमान भी सहे
न मानता मूढ़ वृथा जरे मरे ॥६८॥

विमोह का जाल बिछा भवाटवी
विहग चारा न चुनें, चुना रहे
स्ववत्स को धेनु सप्रेम सेवती
प्रमत्त है मादक मोह को पिये ॥६६॥

वियोग होता तब भी न ज्ञान हो
विमोहता - गाठ न छूटती कभी
महान्त पश्चात चले सुनाम हैं
न भीत - बालू रहती प्रवाह में ॥७०॥

विदेश औ देश न एक रूप में
रहे कभी, आनँद दुःख भिन्नता
स्वदेश-सेवा करते विमोह से
विदेश-लक्ष्मी छल से बलात लें ॥७१॥

अनित्य-ससार सुचक्र-सत्य पै
चला करे चालक- सत्यकाम[१] है
यथार्थता को कब मोह मानता
न चक्ष-आकाश, दिखे रसातली ॥७२॥

स्वदेश के औ परिवार मोह में
करे अनेको अघ ओघ चाव से
बचा सके क्या तल-गर्त से उन्हें
पयोधि-खारी-जल अन्य का लिये ॥७३॥

---

१ सत्य में टिका,

न देह है नित्य स्वदेश नित्य क्यों
जिसे करो पूर्ण, अपूर्ण अन्य हो
स्वकर्म का ही फल भोगता सदा
मिले वही जन्म, दुखी जिसे किया ॥७४॥

न जाति, जोड़ी, परिवार, मित्रभी
स्वदेश औ चिन्ह प्रताप नाम के
रहे नहीं ज्यों समझे मनुष्य है
विमोह की पाश बँधा हुआ रहे ॥७५॥

मत्सर्य

महान मात्सर्य मदादि मत्त हो
सदा जलाता अपने निवास को
अवैर में वैर विमूढ़ मानते
अमा-निशा में तरु, प्रेत सा दिखे ॥७६॥

सदा जलाता हृद, अग्नि के बिना
पड़ोस आनन्द न देख जो सके
न दोष होता सरि का कभी कहीं
दुकूल-ऊँचे वसके न आर्द्र जो ॥७७॥

पयोधि-उत्ताल-तरंग तीर में
प्रसन्न धोवे सिकता समीप को
परंतु बालू - कण क्या कभी गलें
अभाग्यता, भाग्य न हो कदापि भी ॥७८॥

न अन्य की देख महानता सके
कुसंग है क्रोध वि-द्वेष का जहां
विचारहीना-मति – मूढ़ता-मढ़ी
मलीने-काई, जल दे मलीनता ॥७६॥

शरीर ने दी हृद को प्रधानता
तहां अहं औ मन बुद्धि जा बसी
सु चक्र से ज्यों रथ वेग से चले
प्रभाव के प्रेरक कर्म रूप ये ॥८०॥

विशाल–ऊँचे शुचि ऊर्ध्व सत्य है
सुपार्श्व में खडवर्ग - खड्ड हैं
सुमार्ग सा है हृद, देह - शैल में
शरीर – व्यापार करे यही सदा ॥८१॥

सुबुद्धि तो ले रथ ऊर्ध्व को चले
कुखड्ड में ही मन जा गिरे सदा
महान - मायामय गर्त है वहां
कुकर्म ही ये खड वर्ग खोदते ॥८२॥

शरीर - यात्रा यदि खड्ड ओर हो
दुखी गिरे तिर्यक - योनि जोर से
प्रवेग - आवर्त्त समान सा भ्रमे
निकास होना उससे कड़ा बड़ा ॥८३॥

इसीलिये शास्त्र सुसीख दें सदा
सचेत होके मन को न मान दो
सुबुद्धि को दर्शक - मार्ग जो करो
विशाल-ऊंचे-पथ-सत्य पै चढ़ो ॥८४॥

प्रमोदता - आत्म मिले सुखी रहे
अजस्र आनंद विवेक वृद्धि हो
प्रशक्ति होती मन मूढ़ता नशे
प्रवीण - प्रज्ञा प्रकटे अवामता ॥८५॥

विवेक से राम अनंत विघ्न जे
क्रिया बड़ा साधन आत्म ओर को
विकाश-विस्तार बड़ा विशेष हो
प्रताप-आदित्य दिखे निशान्त में ॥८६॥

वशिष्ट-शिक्षा रघुनाथ को मिली
स्वात्म - द्रष्टा विजयी बने तभी
दिखे सभी अन्तर-हृदय दोषता
विनाश कैसे उनका करें वहां ॥८७॥

कुमार्गगामी मन-मत्त हो रहा
सदा चढ़ाता जग ओर चाल है
विनाश होता चढ़के चला जहां
प्रवेग - धारा पड़के बहे वहां ॥८८॥

सुबुद्धि का है रुख सत्य ओर को
विवेक से हो बलवान, वृद्धिदा
मनुष्य - गंभीर - विचार लीन जो
अमंद होती मति मन्त्रणा लिये ॥८९॥
मनुष्य कल्याण निरोध चित्त से
सदैव होता, मति पुष्ट हो जभी
बने न ऐसा मन जो बली बना
निशान्त ही में रवि का प्रकाश हो ॥९०॥
उपाय कोई मन रोक का मिले
बचाव होता जग - जाल से तभी
मुकुंद का नाम उपाय श्रेष्ट है
न चित्त में चंचलता रहे जहां ॥९१॥
सप्रेम लेता यदि नाम ईश का
अवश्य देखें हरि, दास ओर को
विभा-प्रभा-दृष्टि रमेश की पड़ी
कुमार्गगामी मन-मंद हो तभी ॥९२॥
जहां पड़ा मंद, सुबुद्धि-शक्त[1] हो
विचार ऊँचे उठते मनुष्य में
विवेक की बाढ़ बढ़ी सुचित्त में
निदाघ - ऊष्मा, बरसात में नहीं ॥९३॥

---

1 शक्तिवाली,

समंद हो जो मन, मंद काम हो
प्रवासना वास सकाश हो नहीं
सुबुद्धि शोभा शुचि चित्त में बढ़े
सुराज में ज्यों सुख मग्न हो प्रजा ॥६४॥

उदारता, धर्म, परोपकारिता
विरागता, मानवता, अरोपता
विनीतता—वाक्य, विवेकता बढ़ी
सप्रेम सम्बन्ध रमेश जो हुआ ॥६५॥

विशुद्ध होता हृद-पूर्ण रूप से
विलोकता दर्पण सा बना हुआ
यथार्थता ले घटना 'घटी दिखे
न दूर दीखे त्रयकाल-दर्शिता ॥६६॥

विशेष विस्तार हुआ स्वदेश में
स्वजाति औ ग्राम स्वदेश राष्ट्र में
विचार की बाढ़ बढ़ी स्वकेन्द्र से
दिनेश दीप्तीकर फैलती यथा ॥६७॥

प्रकाश की वृद्धि हुई अनेक में
बढ़ी वहां सर्व मनुष्य जाति में
सुकेन्द्र-श्रीराम विचार के घने
तमांधता को रवि नाशते तथा ॥६८॥

हुआ प्रजा-चित्त सुचित्त-सात्वकी
बिना किये साधन साध्य शोध भी
दिखें सभी अन्त-प्रज्ञ-राम ज्यों
तड़ाग बाढ़े जल कूप भी बढ़े ॥६६॥
वलात आज्ञा न प्रजा कभी दिया
वही कहा जो अनुमोद भी हुआ
हिमांशु की दीप्ति जगे अनंत में
प्रकाश से पूर्ण विशेष मेदिनी ॥१००॥
विचार जो भी मन-राम के उठे
वही प्रजा भी निज चित्त चेतती
घिरी घटा वारिद व्योम श्यामलो
वसुंधरा वृक्ष समेत श्याम हैं ॥१०१॥
प्रसन्नता-बाढ़--प्रजा--पयोधि में
बढ़ी, बढ़े राम-हिमांशु-पूर्ण थे
सज्वारभाटा महि-सिन्धु में उठे
प्रभाव होता शशि सूर्य-शक्ति का ॥१०२॥
सुशीलता सत्य सुभाव शान्ति भी
विवेक विस्तार बढ़ा सुचित्त में
क्षमा दया दान सरोज से खिले
वसत में कोकिल बोलती सदा ॥१०३॥

१०२ नोट, समुद्र के पानी का ज्वार भाटा चढ़ाव बतौर आकाश स्थित सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण से होता है ।

धरा तुला-चित्त सुधर्म-भार है
अधर्म-पल्ला उठ क्यों गया वहां
अकामता सन्मुख कामना कहां
प्रकाश होते तम नाश हो सभी ॥१०४॥

अधर्म की भित्तिअनित्य पै खड़ी
विनाश होती दृढ़ता रहे नहीं
प्रवाह बाढ़े सरि रेत ज्यों बहे
सकाम स्वार्थी दबता सुत्याग से ॥१०५॥

विशुद्धता चित्त हुई बड़ी जहां
विवेक आचार विचार आगये
सुधर्म-धारा बहने लगी तभी
वसंत आता शिशिरांत के हुए ॥१०६॥

विवेक आचार सुधर्म को करें
अधर्म का अंश न चित्त में रहा
न काम औ क्रोध विमोह भी दिख
सुवृष्टि-बूंदें, विष-वाष्प को हरें ॥१०७॥

विवेक बाढ़ा बहु राम का महा
प्रजा मनाना रघुनाथ जानते
पयोधि-पानी कितना कहां भरा
सुयन्त्र से सागर नापते सुधी ॥१०८॥

---

१०७ मेघ जल अन्तरिक्ष की गैसों को जैसे निट्रोजन, कारबोलिक ऐसिड आदि को धोडालता है।

१०८ लुकस साउन्डिग मशीन द्वारा समुद्र की गहराई का पता लगाया जाता है।

प्रभाव था सत्य सुशीलतादि का
अधर्म के दोष न भूल से दिखें
पयोधि-पानी महि में बढ़े नहीं
धरां धरा सागर-शांत बीच में ॥१०६॥
प्रजा बनी है अनरूप राम के
करें वही जो रघुनाथ जी करें
अभिन्नता राम, प्रजा सुचित्त में
सुशील आकर्षण सिन्धु का करे ॥११०॥
अनीति की प्रीति प्रतीत थी नहीं
न झूंठ-झोरी रसना रखे कभी
न स्वार्थी-साथी जनता बनी तहां
सुकूप का नीर न वेग से बहे ॥१११॥
दिनेश सा न्याय निकेत-चित्त में
प्रकाश पाता प्रति व्यक्ति में वहाँ
सुमार्गगामी जन थे सुराज्य में
विमान में व्योम-विहार क्यों न हो ॥११२॥

---

१०६ प्रशांत महासागर और पृथ्वी के केन्द्र के बीच में कुछ पदार्थ पृथ्वी के ठोस भाग में अधिकतर हैं जो पानी को उसकी सीमा से आगे बढ़ने नहीं देते, अन्यथा समुद्र का जल पृथ्वी के दूसरे भागों में भी पहुँच जाता।

११० खुली पृथ्वी का आकर्षण खिंचाव, समुद्र-जल को उसके तट की ओर ले जाता है उदाहरणार्थ हिमालय के ऊचे शिखर के आकर्षण से भारत-समुद्र का पानी १५०० फीट नीचे की ओर हैं।

सुनीति-नेमी-नर नारि थे जहाँ
अरोग को रोग न घेरते कभी
अनीति-आकूत१ न एक व्यक्ति में
दिखी, स्रवन्ती२ मरु कौन बोरती ॥११३॥

विचार-ऊँचे उठते सुचित्त में
परोपकारी-मति के मनुष्य थे
सुखी वही होदुख अन्य का हरे
दुखी-दिशा को सुख देखता सदा ॥११४॥

सुन्याय से चक्र-सुचित्तका चले
सुशीलता सत्य विवेक धर्म ले
सुगंध से वायु-प्रवाह पूर्ण हो
रहे न दुर्गन्ध कदापि भी वहाँ ॥११५॥

समाज को थे रथ रूप मानते
सुशास्त्र-आज्ञा-युग-लोक अश्व थे
विवेक के सिन्धु-वशिष्ट सारथी
रथी बने थे द्विज शूद्र साथ वो ॥११६॥

स्ववर्ण सीमा न उलंघते कभी,
विभेद भारी निज धाम अन्य में
विचार आचार विभिन्न हैं सभी
न धूलि आकाश गई टिकी वहाँ ॥११७॥

---

१ इच्छा, २ नदी।

स्ववर्ण में हैं अनकूल वस्तुवें
अजस्र-प्रारब्ध विचार प्रेरती
स्वकर्म का कर्मठ१ तो बना नहीं
बुद्धारता द्वार न धाम स्वच्छ है ॥११८॥
लिया जहाँ जन्म विशेष कर्म से
उन्हें करें पूर्ण वहां प्रयत्न से
न जासके बाहर अन्य रूप हो
निवास भू-भीतर हो न नाकिनी ॥११६॥
स्वधर्म का पालन प्रेम पूर्ण हो
विचार ऐसा जनता सदा करे
बड़ा कहें वे निज वर्ण-धर्म को
स्वद्रव्य दे मोद,न कोप अन्य का ॥१२०॥
धरा धरे धर्म धरात्मजा२ जहां
धुरीण३ धर्मात्मन राम-धीमते४
सुधर्म से थे धवलाङ्कतो सभी
सधन्य धर्मासन५ धीर धारते ॥१२१॥
क्षमा दया दान सुशीलता लिये
विवेक आचार विराग धीरता
सुधर्म साथी शुचि सौम्य सौख्य थे
विभिन्नता-व्यंजन को सुस्वाद दे ॥१२२॥

१ क्रिया कुशल, २ श्री सीता जी, ३ श्रेष्ठ, ४ बुद्धिवान, ५ न्याय का स्थान।

सुधर्म घेरे परिखा समान था
सुशीलता सत्य दया-द्रुमावली
बड़ी फलीं थीं फल मुक्ति से लदी
वितान ताना तब ताप दूर हो ॥१२३॥

सुस्वर्ग का सौख्य विलोकता सदा
यशी प्रतापी बहु लोक में रहे
विचार-वीथी विहरे प्रबुद्धि में
स्वधर्म हो जो हृद में मनुष्य के ॥१२४॥

महान-माया-मत मौन था जहां
अनेक को एक समान दृष्टि से
दिखे, न दोषी दुख दैन्य का रहा
दुकाल क्यों हो, महि शस्य पूर्ण है ॥१२५॥

वधू सुरक्षा सुकुमारता लिये
सदा रहे वे पति पास प्रेम से
अभिन्न होके सधवा सुखी सभी
सपत्र शाखा न प्रकाण्ड१ त्यागती ॥१२६॥

सभी सुखों को पति-हाथ से गहे
प्रमोद पातीं प्रमदा-प्रसाधिकार
स्वतंत्र होते पति-प्रेम दूर हो
न पत्र पृथ्वी गिर शाख में लगे ॥१२७॥

---

१ वृक्ष का तना, २ सजी हुई।

स्वतन्त्रता को न लता निहारती
न शक्ति स्वाधारण की रही कभी
न फैल के भूमि बढ़ी फली फुली
हरी भरी हो तरु-अंग जो लगी ॥१२८॥
स्वतन्त्र-नारी भटके भवाटवी
न आत्म-आनंद मिले उसे कभी
न शांति पाती पति प्रेम हीन जो
अशांति धारा-जल में सदा रहे ॥१२९॥
न अन्य का ध्यान धरें वधू कभी
स्वकन्त-चिन्ता सब चिन्तना हरे
बड़ा सुभीता परलोक लोक का
स्व-स्थान खेदे पर-स्थान धाम से ॥१३०॥
कुमार विद्या-रत ब्रह्मचर्य थे
सप्रेम-पत्नी-व्रत कंत थे सभी
प्रवीण थे प्रौढ़ प्रबोध प्राप्ति में
वृषांक[१] के भक्त विशेष वृद्ध थे ॥१३१॥
स्वकर्म सेवी नर नैष्ठिकी[२] बड़े
विवेक था प्राकृत[३], पुण्य प्राज्ञ[४] थे
सदोष ढूंढ़े मिलता न व्यक्ति था
न रात्रि-राका[५] तम तोम पूर्ण हो ॥१३२॥

---

१ महादेव जी, २ निश्चल-स्थित में लगा हुआ, ३ स्वभाव सिद्ध, ४ बुद्धिवान-सज्जन; ५ पूर्णमासी।

अभेद था देव मनुष्य में यही
सुमुक्ति की प्राप्ति करें स्वकर्म से
विशुद्धता अन्तर चित्त में बड़ी
मलीनता दर्पण में न, स्वच्छ जो ॥१३३॥

विमुक्त चिन्ता, सद्भाव चित्त में
अभोग भोगी भगवान भक्त थे
विराग से रंजित, रत्नराशि थे
सरोज से वे अग-नीर में रहें ॥१३४॥

न कामना थी उनको सता सकी
न रोष दोषी-सत बुद्धिथी कभी
सुमूर्ति संतोष-सुशीलतादि के
महान शंका नर हैं कि देवता ॥१३५॥

न द्रव्य चिन्ता जनता रही कभी
स्वराष्ट्र ही चिंतित था प्रजा लिये
कमी हुई तो धन राज्य ने दिया
किसान सींचे निज खेत सूखता ॥१३६॥

विशेष थी आय अनेक मार्ग से
सु दृष्टि राखें व्यय नित्य न्यून हो
न सिन्धु को दे जल-गंग सूखती
सुवारि को संयम साथ भेंटती ॥१३७॥

बिना विचारे व्यय भूरि जो करे
दरिद्र होता पड़ता विपत्ति में
नदी पहाड़ी सब नीर को बहा
प्रतीर सूखा रज मध्य देखती ॥१३८॥

प्रजा करे अर्जन द्रव्य का सदा
सहाय देता नृप आय हेत में
न राज्य लेता धन वृद्धि जो हुई
नदी बढ़ी बाढ़ दुकूल छापती ॥१३९॥

धरा धरे धान्य सदैव थी जहां
भरे पुरे थे विविधान्न धाम में
न भिक्षु भिक्षार्थ दिखे कहीं वहां
पयोधि में नीर न न्यून हो कभी ॥१४०॥

विदेश जाता जब अन्न, देश में
सड़े गले, ठाम न धाम में मिले
न वस्तु जाती परदेश को कभी
धड़ा कड़ा राज्य-विधान था जहां ॥१४१

सभी घरों में घृत - पात्र थे भरे
अनेक हों व्यजन सिद्ध नित्य ही
न न्यूनता धाम पदार्थ की. रही
यही कमी थी न कहीं कमी दिखे ॥१४२॥

विवेक विज्ञान विचार हो जहा
न जीव जाता जग, ऊर्ध्व को बढ़े
नवीन – आनन्द मिले महा सुखी
कुबेर के कोप न न्यूनता रहे ॥१४३॥

पयान जो अन्तर ओर को करे
विभिन्न-आशा कम चित्त हों तभी
सगे पराये सब ही सगे बनें
न भेद देखे, शुचि–गंग–नीर बनो ॥१४४॥

गया जहा भेद, अभेदता हुई
न द्वेष का कारण हो कहीं दिखे
अजस्र - धारा जल-राशि पुंज है
बहे, बहाती यक दूसरी सदा ॥१४५॥

न राजसी औ तम की व्यथा रहे
प्रबोध से सात्त्विक ज्ञान हो वहा
ऋतभरा१ - बुद्धि प्रकाशती भले
प्रकाश फैले शशि के उदय हुए ॥१४६॥

न शब्द से औ अनुमान से कहीं
पदार्थ सूक्ष्माति–सुसूक्ष्म को दिखे
प्रकाशती सत्त्व - गुणावली जहा
ऋतभरा – बुद्धि उदय हुई वहां ॥१४७॥

---

१ जो सत्य को पा करती है

प्रकाश होता रवि प्रात में दिखे
अचेत औ चेतन पै प्रभाव हो
विराट – संसार प्रदीपिता लहे
अनेक को एक विकाश में करे ॥१४८॥

किया महा साधन पूर्ण राम ने
रहा नहीं अंश तमादि का कहीं
अचेत औ चेतन हो प्रभाव में
करें वही जो कुछ राम को रुचे ॥१४९॥

सुशील औ सात्विक थी प्रजा सभी
विमुग्ध होते सुर, वाक्य को सुने
सुशब्द-संयोजन था बड़ा भला
सुमन्त्र से थे सुनते प्रसन्न हो ॥१५०॥

प्रयोग भाषा करते सभी वही
सुराष्ट्र ने गौरव था जिसे दिया
सचेत थे साधन - शब्द के लिये
विभिन्न बोली पुर ग्राम एक हो ॥१५१॥

पुरी प्रदीप्ता, गिरि-ग्राम-खानि है
नवीन - निर्माण कला करें सदा
न ग्राम सम्बन्ध कदापि त्यागती
यहे न धारा जब स्रोत है नहीं ॥१५२॥

प्रसार - शिक्षा शुचि ग्राम को करे
समीप लाती पुर के उसे सदा
मिलाप अन्योन्य बढ़े न भेद हो
प्रवाह - गंगा मिलता कलिंदि से ॥१५३॥

क्रिया तथा कारक को न भूल के
सचेत हो लें न विदेश के कभी
स्वग्राम - बोली - रस रंजिता रहे
विदेश - भाषा शुचिता रखे नहीं ॥१५४॥

विदेशिता संस्कृती[१] बिगाड़ती
प्रभाव लाती अपने विचार का
स्वदेश - भाषा रुचती वहां नहीं
कुबुद्धि जैसे निज अर्थ त्यागती ॥१५५॥

रचें सदा शब्द नवीन कोश में
स्वग्राम बोली बुध लें सुशब्दकी[२]
प्रवृद्धि भाषा करते स्वग्राम से
गया तपाया गुड़, शर्करा बना ॥१५६॥

किया प्रजा का हृद शुद्ध-राम ने
विशुद्धता की अनुरूपता दिखे
सुकेन्द्र से व्यास-विकाश प्राप्त हो
सवितृ से लोक प्रकाशते यथा ॥१५७॥

---

१ संस्कृति- २ व्याकरण शास्त्र के जानने वाले ।

रजोगुणी तामस लीन थे नहीं
प्रदीप्ति फैली हृद सात्विकी-प्रभा
विशुद्धता अंतर की हुई जहां
प्रकाश होतारवि-रश्मि दीप्ति से ॥१५८॥

* द्रुतविलंबित छंद *

विगत काम अकाम, न धाम थे
निरत राम प्रणाम प्रकाम१ थे
सुयश नाम विराम न हो कभी
धनद-धाम भरे बहु दाम थे ॥१५९॥
यदत कोकर समान नहीं कभी
न दुख दे जन कोक३ क्रिया यथा
दरश कोक४ बने शशि-राम के
भजन कोक५ अशोक सदा करें ॥१६०॥

* मालिनी छंद *

अवधपुर बना वैकुंठ था क्या अनूठा
सुर सुरपति आते राम के दर्शनार्थी
नगर-नर-नरी को देव पूजे मनावें
रज, मणि बनती रामेन्द्र की ही कृपा से ॥१६१॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव महाकाव्य

: सप्तम सर्ग समाप्त :

---

१ इच्छा युक्त, २ मेंढक, ३ भेड़िया, ४ चकवा, ५ विष्णु ।

—: अथ अष्टम सर्गः :—

जनकपुर गमन

इन्द्रवज्रा छंद

आये जभी थे मिथिलेश न्योते
साकेत में थे कर जोड़ बोले
मेरे यहां भी करिये कृपा यों
क्या मेघ को व्योम विषाद देता ॥१॥

बोले सभी थे सुर, भूप, ज्ञानी
आनंद कोई न कभी भगता
की है कृपा जो मिथलेश जीने
आके स्वयं ही हमको बुलाया ॥२॥

न्योता पठाया वर-दूत द्वारा
श्रीराम आवें परिवार को ले
जामातृ कन्या सबही पधारे
शोभा मिले सिन्धु तरंग धाये ॥३॥

सीतादि चारों वधुएँ सुखी थीं
कादम्बिनी[1] देख मयूरनी ज्यों
आनंद के सिन्धु हिलोर लेती
जीमूत का वारि पयोधि जाता ॥४॥

हाथी तथा अश्व समूह को ले
बैठे रथी थे रथ पंक्ति बांधे
की थी प्रतीक्षा गुरु की सभी ने
आदित्य को पंकज प्राण माने ॥५॥

आये जहां थी गुरुदेव जैसे
तैसे चले थे सब साज साजे
बातें करें वे हँसते हँसावें
आनंद ही का घन हास्य साथी ॥६॥

सर वर्णन

जाते चले थे सर एक देखा
चारों दिशा में तरु पुंज लागे
शाखें झुकी थीं फल फूल को ले
वे भेंट देतीं शुचि आगतार्थी ॥७॥

शाखें बढ़ी पल्लव नीर छूतीं
जो थे घने वायु-प्रवाह साथी
लेते झकोरें-झुक वारि घोरे
माता-मही पै चँवरी डुलावे ॥८॥

---

1 मेघमाला ।

पत्ती प्रमोदातुर बोलते थे
थे झुंड के झुंड विभिन्न बैठे
शाखें प्रशाखें उड़के हिलाते
दौड़ें दुरे बाल सुगोद माता ॥९॥

हंसावाली निर्मल नीर तेरे
मोती कहां हैं सर बीच ढूंढ़े
पाते नहीं वे डुबकी लगाते
नंगा कहां दान सुवस्त्र का दे ॥१०॥

देखो वहीं ये वक घात लाये
मत्स्यादि के अर्थ खड़े किनारे
होता सदा संग भले बुरों का
पै कर्म होते सब भिन्न न्यारे ॥११॥

फूले जहां सारस१ थे अनेकों
रक्तांग२ धारे सित लाल थे वे
कोई कली बंद, प्रफुल्ल कोई
बूढ़े युवा बाल निकेत में ज्यों ॥१२॥

राजीव३ के पास द्विरेफ४ घूमे
काला कलूटा किस काम का है
पै क्यों इसे पंकज पास राखे
होते कभी उत्तम, नीच संगी ॥१३॥

---

१ कमल, २ केसर, ३ कमल, ४ भौंरा,

विश्राम पाती पथिकावली हैं
छाया घनी में सुख से किनारे
बोलें विहगावलि मंजु बोली
ज्यों दे गृही, मान गृहागती[१] को ॥१४॥

नारी - नताङ्गी - नवला नहाती
क्रीड़ा - कला में कुशला बड़ी वे
श्वेताङ्गिनी – पीन – पयोधरा थीं
अंगांग – शोभा - अमरी, नरी की ॥१५॥

वीची उठें तीर – तड़ाग आतीं
चाहें बढ़ें पै फिर लौट जाती
जो शांत हो पै उभड़े उभाड़े
हो क्यों न दोषी सँग में सदोषी ॥१६॥

कासार[२] था स्रोत विहीन, बाढ़ा
एकत्र था निर्मल नीर मीठा
पै सूखता ग्रीषम - काल में था
है स्वत्व की शक्ति न, नष्ट होता ॥१७॥

यों नीर था निर्मल शीतकारी
हो शांतदायी अनिलाग्नि आके
दुष्टादि भी सज्जन पास जाके
हों शांत गंभीर, प्रभाव ही से ॥१८॥

---

१ अतिथि, २ तालाव।

वृक्षावली में सर – मंजु – शोभा
होती बड़ी थी छदनांग – छाया
पै पत्र - सूखे गिरके सड़े यों
आनंद दे जो, वह दुःख भी दे ॥१९॥

मिट्टी दबी. मध्य – तड़ाग में थी
पै तीर में जोर न नीर का था
सो पंक रूपा तट को बिगाड़े
वैरी, मिले दांव, अवश्य नाशे ॥२०॥

पक्षी, पथी, औ पशु, नीर पीते
थी भौंर की भीड़ सरोज घेरे
वृक्षावली तीर विहंग गाते
शोभा दिये अन्य, सुद्रव्य विद्या ॥२१॥

ग्राम

आगे बढ़े आलय - ग्राम देखे
खोलें खड़ी थीं मुख ग्राम - बाला
ज्यों वाटिका औ अटवी हटी है
त्यों नागरी, ग्राम–वधू विभिन्ना ॥२२॥

शस्यादि से खेत हरे भरे थे.
सींची कियारी जल युक्त जातीं
कूपादि से नीर निकालते थे
ज्यों बुद्धि दे रत्न - विवेक लाके ॥२३॥

प्रासाद घंटापथ हीन थे वे
दुर्गन्ध से पूर्ण न मार्ग नाली
पूरी मिठाई बिकती नहीं थी
तो संयमी थे व्यय न्यून होता ॥२४॥

गायें अजा बैल कहीं बँधे थे
घी दूध दें भेंट गृहागती को
अन्नादि चारा घर में भरा था
आनंद होता सहयोग जोड़े ॥२५॥

सीधे सयाने जन धर्म धारे
थे भक्त भोले भगवान के वे
थे तो गृही पै तपसी लजाते
सन्यास, संसार विरक्ति देता ॥२६॥

जैसे नदी नीर पयोधि देती
थे ग्राम तैसे पुर के सहायी
जाते लदे भिन्न पदार्थ नाना
शोभा पुरी की उनसे बढ़ी थी ॥२७॥

ग्रामावली का पुर एक होता
जाते वहां थे जन वस्तु लेके
धान्यादि देते, धन धातु लेते
सम्बन्ध आदान – प्रदान का था ॥२८॥

झंझा झकोरे भगड़े द्रुमों से
जाने न पाता तरु रोक लेते
शाखें फटें शाल-विशाल की थीं
आघात – शोभा रण युद्ध की है ॥२६॥

गुंजा गले में पहने वधू ज्यों
हारावली शोभित नागरी ज्यों
ग्रामीण – वाक्यावलि बोलती थीं
हीरा चढ़ा सान न, मंद शोभा ॥३०॥

आगार मिट्टी तृण के बने थे
थी स्वच्छता गोबर से पुते थे
था ग्राम में मंदिर देवता का
श्रद्धा बड़ी थी जन पूज्य माने ॥३१॥

वेशन्त१ था ग्राम-गली किनारे
एकत्र होता मल मूत्र सारा
उत्पन्न काई सर ढांप। लेती
कैसे बचे दोष पड़ोस घेरे ॥३२॥

वन वर्णन

अरण्य आया पथ-कंटकी था
वृक्षावली भी इक में जुटी थीं
लंबी—लताएँ तरु पै चढ़ीं थीं
कांता मनो कंत सर्वांङ्ग भेंटे ॥३३॥

---

१ गड्ढा – गढ़ैया।

अश्वत्थ जम्बू वट निम्ब भारी
तेंदू बहेड़ा बहु आंवला थे
पीतद्रु१ सिन्नी महुआ लसोढ़ा
रीठा चिरोंजी सहकार भी थे ।।३४।।

ऊँचे उठाये शिर वीर से थे
वल्ली लताएँ जिन पै चढ़ीं थीं
तो भी विलोकें नभ ओर को वे
आसक्त होता कब संयमी है ।।३५।।

भालू भरे थे भय भूरि होता
भागें दिखें भील नराच ताने
जो मारता है वह मार खाता
आके तरंगे मिल अन्य दावें ।।३६।।

वाराह भारी बहु घूमते थे
पूंछे हिलाते महि खूंधते थे
द्वे दंत तीखे मुख पार्श्व में थे
अस्त्रांग होता तन—तामसी के ।।३७।।

दावा बढ़ा वायु प्रवेग पाके
भागें सभी जीव अज्वाल जागे
जो थे हरे वृक्ष सभी जले थे
सूखी नदी ग्रीषम ताप पाके ।।३८।।

---

१ चीड़ वृक्ष ।

थे भील भीमाकृति बाण धारे
देखे भगे व्याघ, भयङ्करांगी
आखेट में जीवन ही बिताते
ज्यों मीन का है जल ही सहारा ॥३६॥
थे श्याम पारावत वृक्ष बैठे
संघात१ संगी रहते सदा वे
उड्डीन २ संडीन३ प्रडीन,४ गामी
आकाश क्रीड़ा थल था बनाया ॥४०॥
था वृक्ष-शाखा कपि-व्यूह५ भारी
दौड़ें दुरें वे फल फूल खाते
थे दंत खोले भय भूरि देते
क्या काम का हो धमकी दिखाना ॥४१॥
हिंस्री नहीं थे मृग घास खाते
मारे विचारे वन बीच जाते
वाघा अहेरी अरु सिंह की थी
है जो बिना साहस दुख पाता ॥४२॥
लम्बी बढ़ी-घास कहीं खड़ी थी
मुंआटवी में वृक घूमते थे
था सर्प औ वृश्चिक का ठिकाना
कान्तार-कारा-जड़- योनि का है ॥४३॥

---

१ समूह, २ ऊपर की ओर उड़ना, ३ सीधे उड़ना, ४ तिरछे उड़ना, ५ झुण्ड ।

चौड़ी-कटीली तरु को लपेटे
शाखा प्रशाखा सब बद्ध सी थीं
है विज्ञ - विद्वान - अमंद - मेधा
चिंता दबाये परिवार की ज्यों ॥४४॥

छोटे बड़े थे तरु औ लता भी
शाखा-कँटीली सब भूमि छूतीं
जाने न देतीं पशु-अल्प को भी
है संघ में शक्ति मिले सभी जो ॥४५॥

थे भिल्ल- भोले बलवान काले
वे सिंह देखे ललकारते थे
आया जहां सन्मुख अस्त्र मारा
स्वच्छन्द कान्तार सदैव घूमें ॥४६॥

फूलादि फूले फल भी लगे थे
सूखे तले-वृक्ष पड़े अनेकों
मीठे घड़े थे कड़ुवे कहीं पे
ज्यों वंश में सज्जन दुष्ट होते ॥४७॥

सन्ध्या–वर्णन

कान्तार को पार किया जभी था
सन्ध्या हुई सूर्य गये प्रतीची
पक्षी बसेरा करने चले थे
होने अंधेरा महि में लगा था ॥४८॥

सन्ध्या सदा साथ दिनान्त आती
आई, गई क्यों क्षण भंगुरी सी
थी सगिनी संग गई पुनीता
जो है सती कत न त्यागती है ॥५४॥

संचार सन्ध्या तम का किया था
था जो प्रतापी रवि अस्त होता
बाढ़े कभी दुष्ट न न्याय सच्चा
ऐसा करे जो नृप - नीति कथा ॥५५॥

शौचादि से शुद्ध सभी हुए थे
ध्यानी घरे ध्यान दिनात आये
है पुण्य-शीला शुचि शांति दात्री
आई जहां श्रीपति ध्यान आता ॥५६॥

सन्ध्या त्रियामा सँग में सुहाती
पीछे हुई अम किया निशा को
देखी गई पास नहीं दिखाती
संसार संयोग वियोग लाता ॥५७॥

है प्राण-प्यारी-रवि की सयानी
आती इसे देख समंद होता
लाली प्रतीची नम में दिखाती
हो जो प्रतापी कुल रंग लाता ॥५८॥

सन्ध्या सदा दंपति को मिलाती
दूती बनी सो दिन रात्रि की है
आगन्तु का वैभव है बढ़ाती
प्रत्यूप[१] में वासर,[२] रात्रि को भी ॥४६॥

आदित्य अस्ताचल अस्त होता
देता इसे शासन; सो निशा दे
खोती प्रभा औ तम तोम लेती
काला किया हाथ बिना विचारे ॥५०॥

आके विहंगावलि लें बसेरा
दे त्याग चारा चुनना तभी वे
भूखे, भरे पेट, प्रमोद पाते
संतोष आनंद बलात लाता ॥५१॥

विश्राम-कांक्षी जन धाम आते
सन्ध्या करें औ रवि अर्घ देते
आते सभी जीव वनान्त सन्ध्या
आनन्द दात्री कुशला-किशोरी ॥५२॥

उद्यान में जा विहरें विलासी
चिन्ता न त्यागें उर में बसी है
पावें कहां वे सुख, शांति, सोचें
आशा नचाती मन को सदा है ॥५३॥

---

१ प्रभात, २ दिन ।

सन्ध्या सदा साथ दिनान्त आती
आई, गई क्यों क्षण भंगुरी सी
थी सगिनी संग गई पुनीता
जो है सती कत न त्यागती है ॥५४॥

संचार सन्ध्या तम का किया था
था जो प्रतापी रवि अस्त होता
बाढ़े कभी दुष्ट न न्याय सखा
ऐसा करे जो नृप-नीति कथा ॥५५॥

शौचादि से शुद्ध सभी हुए थे
ध्यानी धरें ध्यान दिनांत आये
है पुण्य-शीला शुचि शांति दात्री
आई जहां श्रीपति ध्यान आता ॥५६॥

सन्ध्या त्रियामा सँग में सुहाती
पीछे हुई अग्र किया निशा को
देखी गई पास नहीं दिखाती
संसार संयोग वियोग लाता ॥५७॥

है प्राण-प्यारी-रवि की सयानी
आती इसे देख समंद होता
लाली प्रतीची नभ में दिखाती
हो जो प्रतापी कुल रंग लाता ॥५८॥

आकाश आदित्य विहीन दीखे
श्वेतांश जाता नभ से भगा है
नीलाङ्ग - द्यो में तम शीघ्र आता
होती न संसार समानता है ॥५९॥
शोभा निराली तम, द्योत१ की है
था तीव्र कोई न, समंद दोनो
दो हों विरोधी मिलते हँसी ले
तो देखने में सुख शांति आती ॥६०॥
विश्राम देती श्रम से थके को
आते पुरी को पशु - वृन्द भी हैं
ले कान्त कान्ता वन ओर जातीं
सन्ध्या प्रमोदागम की सखी है ॥६१॥
आकाश पक्षी उड़ते अनेकों
जाते जहां हो निज जाति वाले
लेते बसेरा करते कलोलें
आनंद आता परिवार ही में ॥६२॥

रात्रि

श्रीराम से सौम्य - वशिष्ट बोले
कोई न है संग थका न जो हो
विश्राम कीजे निशि है अँधेरी
देखो त्रियामा तम - तोम लायी ॥६३॥

---

१ प्रकाश ।

विश्राम के साधना साथ में थे
आनद से वे निशि को बिताते
आंखें खुली भी तम में न दीखे
अज्ञान में ज्ञान-प्रदीप्ति हो क्या? ॥६४॥

थी भूमि श्वेताम्बर पूर्व ओढ़े
सो नीलिमा रंग रँगी रँगीली
जाती चली थीं अभिसारिकाएँ
कृष्णा कहाती शुचि कृष्ण - वस्त्रा ॥६५॥

ज्यों चोर चोरी करते निशा में
पाके तमिस्रा छिपते कहीं वे
हो ज्यों बुरा-कर्म बुरा सहायी
उत्साह पाता करता बुराई ॥६६॥

तारावली तो नभ में दिखाती
क्या शक्ति-हीना सफला कहीं हो
ये देखने को चमके प्रभा सी
द्वे - कामिनी-भोग न पुत्र पाता ॥६७॥

वृक्षावली के तल में अँधेरा
था घोर, दीखे न सकाश कोई
था ठूंठ पै हो मन प्रेत शंका
अज्ञान ही कारण दोष का है ॥६८॥

काले दिखे वृक्ष हरे बड़े जो
थे लाल पीले फल ध्वान्त धारे
थी कृष्ण सी वस्तु अकृष्ण जो थी
कालानुसारी मति भेद होता ॥६९॥

तारावली थी नभ में करोड़ों
थी दीप्ति दात्री तम तोम घेरे
क्या ध्वान्त को न्यून किया कहीं भी
लाखों करें क्या बल हीन होके ॥७०॥

कान्वार में घोर उलूक बोलें
आनंद पाते निज चित्त में वे
पै भीत भारी सुनके उसे हो
ज्यों शब्द-निंदा दुख अन्य कोई ।७१।

मेघावली घोर घटा घिरी थी
पै वायु आके घन को भगाया
संघर्ष – संसार प्रशक्ति का है
सो पूज्य होता विजयी बने जो ॥७२॥

सोते सभी, चातक बोलता है
लेता बसेरा निशि में न क्या सो
जागे, जगाता विरही जनों को
हा अर्थ-चिन्ता कब नींद लाती ॥७३॥

मीठी सुनाती पिक मंजु बोली
आनंद देती नर नारियों को
सकत सोती सुख सेज कान्ता
गाते सुलाते नृप ज्यों गवैये ॥७४॥
बोलें कहीं पै जल तीर पक्षी
आनंद के बोल महोत्स्व के थे
दीखे किसी को यदि सारसें हैं
चीखें, बड़े जोर सभीत होके ॥७५॥
है भ्रान्त छाया भ्रमते पथी हैं
पूछें, न पाते पथ, जानते जो
सज्ञान हैं मार्ग विशुद्ध भी है
अधेर ऐसी करता अँधेरा ॥७६॥
आखें खुली देख सकें न कोई
औ दृष्टि का दोष न न्यून भी है
पै रज्जु को सर्प सदाश माने
संसार-माया सम भ्रान्त भी है ॥७७॥

चन्द्रोदय वर्णन

देखो उजेला नभ में हुआ है
शुभ्रांशु-शोभा नभ में दिखाती
ध्वान्तापहारी कहते इसे हैं
है नाम जैसा गुणवान तैसा ॥७८॥

चन्द्रांग छाया छिपती नहीं है
शुभ्रांशु शोभा सितता नशाती
कामान्धता - कर्म बुरा बनाती
दीखें सभी उच्च, कलंक लागे ॥८४॥

था ध्वान्त घेरे विधुरा तमी१ थी
संयोग पाके पति चन्द्र चूमें
कामी सताते धव - हीन-जाया
भागे कुकर्मी सँग कन्त दीखे ॥८५॥

मार्तन्ड की ताप न रात्रि त्यागे
तिग्मोष्ण से व्याकुल जीव जे थे
शीतांशु ने शीत प्रसार कीन्हीं
है शक्तिकारी शशि संत ही सा ॥८६॥

शुभ्रांशु शोभा किरणें प्रकाशे
फैली धरा में धवली स्वरूपा
आनंद देतीं तन - तप्त को वे
ज्यों संत को हो पर-अर्थ-चिन्ता ॥८७॥

है तो निशानाथ अनाथ सा है
होता न संगी सब काल दोषा
त्यागे नहीं ध्वान्त, कभी त्रियामा
पत्नी प्रतिष्ठा कब दृष्टि कामी ॥८८॥

१ रात्रि

फूले सभी कैरव ताल में हैं
हैं चांदनी को दिखाती चकोरी
हो अब्धि, आनंद हिमांशु दीखे
मोरावली हर्षित मेघ घेरे ॥७९॥

शीतांशु है शीतल रश्मि-राशी
आदित्य, ऊष्मा महि की नशाता
अब्जी कहाता मन ईश का है
दैत्यारि संसर्ग उदारता दे ॥८०॥

देता सदा सागर हर्ष रांका
उत्ताल-वीची तट ओर वाढ़ीं
दे सिन्धु आकर्षण पूर्ण होके
पूजे पिता पुत्र-महान - आत्मा ॥८१॥

देता न दोषाकर१ दोष दोषा२
दोषाकरी ३ क्या न स्वयं कहाता
कान्ता तमी४ कन्त बना मृगाङ्की५
दोषाक्षरी कोर - प्रदोष दीखे ॥८२॥

दोषा - अदोषा अबतो दिखे सो
पाके निशा - नाथ हुई सनाथा
ध्वान्तान्धता ध्वस्त दिखे त्रियामा
सज्ञान होता सतसंग पाके ॥८३॥

---

१ चन्द्रमा, २ रात्रि, ३ दोषा का आश्रय, ४ रात्रि, ५ चन्द्रमा ।

चन्द्रांग-छाया छिपती नहीं है
शुभ्रांशु शोभा सितता नशाती
कामान्धता - कर्म बुरा बनाती
दीखें सभी उच्च, कलंक लागे ॥८४॥

था ध्वान्त घेरे बिधुरा तमी१ थी
संयोग पाके पति चन्द्र चूर्ने
कामी सताते धव - हीन-जाया
भागे कुकर्मी सँग कन्त दीखे ॥८५॥

मार्तन्ड की ताप न रात्रि त्यागे
तिग्मोष्ण से व्याकुल जीव जे थे
शीतांशु ने शीत प्रसार कीन्हीं
है शक्तिकारी शशि संत ही सा ॥८६॥

शुभ्रांशु शोभा किरणें प्रकाशीं
फैली धरा में धवली स्वरूपा
आनंद देतीं तन - तप्त को वे
ज्यों संत को हो पर-अर्थ-चिन्ता ॥८७॥

है तो निशानाथ अनाथ सा है
होता न संगी सब काल दोषा
त्यागे नहीं ध्वान्त, कभी त्रियामा
पत्नी प्रतिष्ठा कब दृष्टि कामी ॥८८॥

---

१ रात्रि

आकाश में चन्द्र प्रदीप सा है
पृथ्वी प्रकाशे गिरि गर्त गोष्टी
है दूर पै शीतलता - प्रदाता
कीर्त्यानुगा१ की जग कीर्ति फैले ॥८९॥

छाया छिपाया तरु ध्वान्त को है
घेरे बसे है सब ओर ज्योत्स्ना
फीका किया है तम तोम जाके
स्वल्पांश नीचे अधिकांश से हो ॥९०॥

आकाश छावें यदि मेघ आके
शुभ्रांशु शोभा महि से न जाती
छाई प्रभा भूमि हिमांशु की है
ज्यों कार्य में विघ्न विलंब लाता ॥९१॥

मेघावली घोर घटा घिरी,जो
ज्योत्स्ना न दीखे नभ में कहीं है
आकाश में पूर्ण तमिस्र छाया
दाबें सभी दुर्बल - भूप पाके ॥९२॥

प्रत्यूष२ के लक्षण हैं दिखाते
प्राची-दिशा हो तम त्यागती है
ऊषा उठाती सबको सबेरे
आचार्य शिक्षा शुचि शिष्य देता ॥९३॥

---

१ कीर्ति की सहचरी, २ प्रातःकाल

निद्रा नशा भी कम होचला है
निद्री उनींदे उठने लगे हैं
जाती पथों पै पथिकावली हैं
जो अग्रसोची सुख नित्य पाता ॥६४॥

घंटापथों पै रव वाहनों का
होने लगा है जन - श्रेष्ठ जाते
गाते गवैये उठके प्रभाती
अच्छा लगे जो अनुकूल होता ॥६५॥

काव्यानुरागी कविता करैं वे
भावादि ले शब्द यथेष्ट जोड़ें
आनद पाते प्रतिभा प्रकाशें
आती प्रभा - बुद्धि प्रभात में ही ॥६६॥

है ब्रह्म - वेला मन ब्रह्म लागे
सोके उठीं इन्द्रिय निर्मला हैं
प्रज्ञा - प्रदीपी प्रभु पास जाती
है धन्य प्राणी हरि को भजे जो ॥६७॥

संसार में लीन उठे सबेरे
व्योपार की वस्तु धरें उठावें
आमोदवादी पथ घूमते हैं
कोई मिलें मित्र सुमन्त्र साधे ॥६८॥

जागीं विहंगावलि पत्त झारें
कूजें . कलोलें कल-बोल बोलें
त्यागी न शाखा सुख को मनाती
आनद की सूचक चाह वाली ॥१०४॥

कार्यालयार्थी पथ कर्मचारी
जाते बढ़े व्यंजन हाथ ले के
कोई चढ़े वाहन - यन्त्र पै हैं
मेधा विभिन्ना नर शक्ति दे ज्यों ॥१०५॥

सोवें पड़े नागर नागरी हैं
कामादि क्रीड़ा श्रम से थकें जो
जागीं निशा में नव - प्रेम पोढ़ी
तैराक तैरें उलटे नदी ज्यों ॥१०६॥

था शीश नाया गुरु को सभी ने
आज्ञा दिया प्रात पयान कीजे
पाये सभी सेवक थे सवारी
निर्वाह होता जन जो सुखी हो ॥१०७॥

सरयू गंगा संगम

जाते चले थे सरयू किनारे
देखा तहां संगम जान्हवी का
लेतीं हिलोरें हलके लगातीं
मानो तटों को निज ओर खींचे ॥१०८॥

व्यायाम के हेतु मनुष्य घूमें
जाते चले दूर अदूर वे हैं
आनंद हो वायु प्रभात सेवें
हो रोग क्यों संयमशील है जो ॥९९॥

काकादि पक्षी अब बोलते है
त्यागे बसेरा उठके चले वे
जाता कहां कौन न जान कोई
है अर्थ – चिन्ता तब कौन साथी ॥१००॥

राजीव फूले कल की कली ले
सुगंध सोंधी सुख वायु देती
लाती बुलाके मधुपावली को
शोभा बड़ों की गुण ज्ञान से है ॥१०१॥

भागे उलूकादि दिनेश दीखे
शुभ्रांशु शोभा हत हो चुकी है
होता प्रतापी अधिकार पाये
पै हो अभागी निज स्वत्व खोके ॥१०२॥

ऊपान्त है औ तम-तुच्छ भी है
चण्डांशु१ की रश्मि प्रभा प्रचारें
आनंददा - संधि उमंग लाती
होते सुखी दंपति ज्यों मिले से ॥१०३॥

---

१ सूर्य ।

जागीं विहंगावलि पत्त झारें
कूजें कलोलें कल-बोल बोलें
त्यागी न शाखा सुख को मनाती
आनंद की सूचक चारु वाणी ॥१०४॥

कार्यालयार्थी पथ कर्मचारी
जाते चढ़े व्यंजन हाथ ले के
कोई चढ़े वाहन-यन्त्र पै हैं
मेधा विभिन्ना नर शक्ति है ज्यों ॥१०५॥

सोवें पड़े नागर नागरी हैं
कामादि क्रीड़ा श्रम से थकें जो
जागीं निशा में नव-प्रेम पोढ़ी
तैराक तैरें उलटे नदी ज्यों ॥१०६॥

था शीश नाया गुरु को सभी ने
आज्ञा दिया प्रात पयान कीजे
पाये सभी सेवक थे सवारी
निर्वाह होता जन जो सुखी हो ॥१०७॥

सरयू गंगा संगम

जाते चले थे सरयू किनारे
देखा तहां संगम जान्हवी का
लेतीं हिलोरें हलके लगातीं
मानो तटों को निज ओर खींचे ॥१०८॥

गंगा मिली है सरजू नदी से
ज्यों ब्रह्म में लीन, न नाम रूपी
गंगा कहाती वह भाग्यशीला
कन्या, वधू हो पति प्राप्ति पाये ॥१०९॥

नावें चलें जोर, प्रवेग धारा
थीं मीन नाकें सरि में सहस्रों
गंभीर – धारा बहती कहीं थी
उत्ताल – वीची उठती प्रवेगी ॥११०॥

है जोर कोलाहल आपगा में
सीधे बहें कच्छप वेग - धारा
आवर्त्तकारी जल था नदी का
ज्यों नर्तकी नृत्य कला दिखाती ॥१११॥

सीधी कहीं तो तिरछी कहीं थी
गंगा कहीं उत्तर - वाहिनी थी
प्रासाद छूती बहती पुरी में
जाती कहीं दुर्गम वन्य-भू में ॥११२॥

ऊँचे कहीं कूल, कहीं तराई
फैली कहीं संगम में बड़ी थी
नाली नदी से मिलती कहीं थी
सम्राट को भेंट प्रजा करे ज्यों ॥११३॥

थे कूल पै आश्रम साधुओं के
पुष्पादि वृक्षावलि भी वहां थी
शाखें झुकी थीं सुविहंग बोले
भाग्योदयी का सुख शांति साथी ॥११४॥

पोढ़ा कहीं था तट कंकडों से
गभीर था पंक कहीं क़िनारे
कोसों कहीं था सिकता समाया
मुंजाटवी कूल कहीं बड़ी थी ॥११५॥

भागीरथी भाग्य - प्रभाव लाती
भागे बचे पाप न, छाप लेती
है निर्मला निर्मल नीर लेके
श्री गध दे क्यों न सुगंध - वाहा ॥११६॥

मांझा कहीं था सरि बीच लम्बा
मुंजाटवी औ तृण घास भी थी
गोपाल ले गोधन को चराते
दुष्टादि को आश्रय दे, दुखी हो ॥११७॥

रेती पड़ी थी सरि बीच धारा
बालू गिरे, बाढ़ बढ़े, नदी में
जो नीच, 'संगी वन, संग त्यागे
सो अंत आता शरणागती में ॥११८॥

था नीर-गंगा-सित-शुद्ध-शोधा
श्री विष्णु के पाद-सरोज का था
श्री शम्भु के शीश तपा तपाया
आया मही पै नर मुक्ति देने ॥११९॥

है विश्व में कौन पदार्थ ऐसा
सम्बन्ध सीधा हरि से रखे जो
श्री विष्णु प्रक्षालित पाद से है
पापादि जाते जल जान्हवी से ॥१२०॥

धाई धरा पै शिव-शीश त्यागा
लोकार्थ गंगा हरने वहाया
दे शम्भु चारों-फल भी चसी को
लाके चढ़ाता जल-जान्हवी का ॥१२१॥

विश्वास गंगा-जल चित्त आता
पीता बसे बुद्धि विशुद्धि होती
संसार में सार न दृष्टि आता
श्रीनाथ की भक्ति सप्रेम होती ॥१२२॥

देखा जहाँ राम समीप आये
सम्बन्ध सीधा रघुवंश से है
ऊँची उठी तीर तरंग आती
भेंटा चहे श्री रघुनाथ गंगा ॥१२३॥

आत्मा, स्वआत्मा पृथकांग होती
सम्बन्ध पाये हृद प्रेम बाढ़े
प्रीत्यर्थ भेंटे निज वस्तु दोनों
ज्यों श्रोत पृथ्वी तल सिन्धु जोड़े ॥१२४

ज्यों वंश में पूर्वज, पुत्र होता
त्यों राम ने गंग प्रणाम कीन्हा
औ तीर जाके जल को पिया था
आनंद पाया पथ के थके थे ॥१२५॥

जाते चले थे लख राम बोले
मारा यहां था तब ताड़का को
था वन्य सा देश, हरा भरा है
जौलों रहे दुष्ट, न शांति आती ॥१२.॥

श्रीराम सिद्धाश्रम देख आगे
बोले यहीं वामन जन्म पाया
यज्ञाहुती कौशिक ने दिया था
हैं साधना साधत ये तपस्वी ॥१२७॥

* मन्द क्रान्ता छंद *

आती जाती निकट चलते, पुण्यशीला पुरी ज्यों
त्यों त्यों बाढ़ी जनकतनया, याद आनद की थी
भ्राता भाभी जनक जननी, जो सखी साथ खेलीं
देखूंगी जा परम मुदिता, मंजु मंदस्मिताएँ ॥१२७॥

आई होंगी श्वसुर-पुर से, क्यों न मेरी सहेली
भेजी पत्री अवधपुर से थी, पिता जी बुलावें
जो हो जैसे जनकपुर आवें, कृपा-कोर देखे
आती हूँ मैं सकल भगनी, साथ लेके प्रसन्ना ॥१२६

मेरी भाभी पथ निरखती, चिन्तिता चित्त होगी
देखूँ जा मैं कब वदन माता, श्यामूर्ति जो है
भ्राता मेरे मृदुल-मन के, पत्र आते सदा हैं
मैं जाके उत्सव-दरश, आनन्द का नित्य लूंगी ॥१३०॥

देखूँगी जा जनकपुर को, जन्म भूमी हमारी
खेलों का प्रागण मम बनी थी, यही जन्मदात्री
पाला पोपा पल पल रखा, ध्यान मेरा बड़ा था
कैसे भूलूं तरुवर बड़े, भूमि को अरू लाये ॥१३१

ज्योंही देखूँ सपदि जननी - गोद में जा पडूंगी
रोऊँगी मैं पकड़ उसको प्रेम की मूर्ति माता
भेजा तूने विलग कर क्यों, देख पाया न अम्मा
ऐसा वैसा कह ठुनक लूँगी सुना व्यग बोली ॥१३२

मैं कैसे जा जलनिधि,- पिता की तरंगावली को
पाऊँगी पार मन वच से ज्ञान की मूर्ति वे हैं
पै मेरा तो हृदय उनको मानता है पिता ही
भर्गों को बालक समझ थीभाय चूमें दुलारें ॥१३

देखो कैसे तरु-गण घने में गुच्छ लीची लगी हैं
छोटे कांटे पनस सम हैं, मंजु मीठी बड़ी ये
बाह्यांगाकृति निरख कर, प्रज्ञाधिकारी न भूलें
जाते हैं अन्तर, सरसता खोज लेते वहाँ वे ॥१३४॥

आमों के बाग बहु वन में, बोलती कोकिलायें
कोई ऐसा मधुर मिथिला देश के आम्र का है
देवे, लेते न धन, फल ये बाग- स्वामी सुदानी
सीधे सादे शुचि हृदय के ग्रामवासी बड़े ये ॥१३५॥

* मालिनी छंद *

जनकपुर पिता के नाम का जो बसा है
सब सतपथ-गामी हैं जहां के निवासी
अमर - नगर सा आनंद दाता सभी को
निपट निकट है ज्यों भाग्य के भाग्यशाली ॥१३६॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव
अष्टम सर्ग समाप्तम्

—: अथ नवम सर्गः :—

वसंत—वर्णन

द्रुत विलंबित छंद

हरित - पल्लव - फूल - फलादि से
सुतरु सूचित थे करते खड़े
निकट में बसती मिथिलापुरी ,
परख आकृति दे शुचि चित्त की ॥१॥

सहज सुन्दर है मिथिलापुरी
पहुँच अंचल में मकटी भली
सुपथ पंक्ति महीरुह मोहते
पथिक का श्रम मार्ग सदा हरें ॥२॥

प्रथम स्वागत आगत का करें
झुक रहे अभिवादन के लिये
सहज छत्र धरे पथ में रहें
स्वगृह में प्रिय प्रेम करे यथा ॥३॥

पवन पल्लव थो करते जहां
पथिक की गरमी हर लें वहां
सुमन भूमि पड़े पट – पांवड़े
मधुर गुच्छ गुथे फल भेंट दें ॥४॥
बन गया वह केन्द्र - वसंत का
रम रहा ऋतुराज जहां सदा
नव-कली विकली निकलीं नहीं
नव-वधू सकुची मुख मूंदती ॥५॥
सुमन – सौरभ१ सौरभ२ सोहते
शुचि समीर समीरण३ मोहते
मधुप माधव४ माधव५ में दिखे
कमल - कुंज निकुंज गुंजते ॥६॥
कमलिनी मलिनी न रहीं, बढ़ीं
नव – दला सजला सम मौक्तिकी
शुचि सभाग सुवाग सँवारतीं
युवति कंत सकेतुद मिले यथा ॥७॥
नव सरोज उरोज उमंग में
रसवती नवलीन, नवांगिनी७
कलश - कोष८ अदोष उपाश्रया९
सरस संग सुरंग रँगी रहे ॥८॥

१ सुगंधि, २ केशर, ३ पथिक, ४ वैसाख महीना, ५ वसंत ऋतु की शोभा, ६ सुखी, ७ नव अंगवाली स्त्री, ८ कली, ९ आधार,

अलि अलीक न, लीक लगे चले
नव-प्रसून न सून करें कभी
मधुर गुंजन कुंजन में करें
गुण उदार सुद्वार गुणी गने ॥९॥

मृग मृगी सजगी न भगी फिरें
रतिवती रमती रमणी यथा
सजग वाणिनि१ वाणिनि२ हो स्वयं
मदन-मंद, अमंद किया करें ॥१०॥

कल न कोकिल को पल भी नहीं
किलक कूजति पूजति बौर को
मधुर बोलत बोल बुलावती
परम-प्रीत प्रतीत प्रचारती ॥११॥

नलिनि नीर निकुंजनि-नायका
नचिर३ नीचकिनी४ नव-नालिका५
निचय६ नाडि७ निकेत नवांकुरी
नृपति-नाक-निभूत८ नियंत्रिणी९ ॥१२॥

---

१ नाचने वाली वेश्या, २ दूती ३ नया, ४सर्वान्त भाग, ५ कमल नाल, ६ ढेर ७ कमल का पोला भाग, ८ अत्यन्त भा।, ९ देखभाल करनेवाली,

ललित१ लोल२ ललाम३ ललाटिका४
लपित५ लज्जित लब्ध६ लली लला
लमक७ लखि ८ लेत सुलम्बुपी९
लल१० - लता ललकी लख लाङ्गली११ ॥१३॥

मधुप की अवली सुमनावली
रम रही विरही न बनी कभी
मधुरता मधु की सुध की जमी
उड़ चलें न अड़ें थल अन्य में ॥१४॥

वर – वसंत न सत समान है
विरहिणी दुख दे, रुख रूख हो
सधत स्वार्थ, न अर्थ परार्थ का
कर सके यश के वश भी नहीं ॥१५॥

नव - वसंत असंत न, शांत है
सुभग राग प्रसंग प्रमोद दे
रस-रसा१२-सरसा-सरसी१३ -सिता
कुमुदनी - वदनी वर वंदनी ॥१६॥

---

१ मनोहर, २ हिलने वाली, ३ सुंदर ४ माथेका आभूषण, ५ बोलना, ६ अवसर प्राप्त होना ७ अनुरागी, ८ लटकती हुई ९ सतताहीहार, १० कोशप्रिय ११ नारियल का वृक्ष १२ पृथ्वी, १३ झील,

अतिथि-पुष्प अपुष्प१ प्रचारते
वदन कोमल को मलते महा
नव नताङ्गि उतंगि न, अन्वित२
वल वली, अवली - दल दाबता ॥१७॥
नगर का मन है वन मोहता
कुसुम - केशर बेसर सी दिखें
फल फले अफले फलते जहां
महँक मत्त करे नर औ नरी ॥१८॥
नव - रसाल - विशाल लगीं लता
लपक लें ललना कलना पड़े
लद लदे फल दे वर वर्णिनी३
सुघर रूपवती युवती दिखे ॥१९॥
नव-कली कचनार अनार की
न खिलती मिलती मकरंद ले
युवति - योग४ सँयोग न कंत दे
मधु भरा भभरा मधुपातुरा ॥२०॥
सुम - द्रुमोत्पल५ उत्पल रंग के
विकचते लचते सँग वायु के
कुल न हो बक, हंस सुवंस सा
गुण प्रधान विधान विभिन्न हैं ॥२१॥

---

१ न खिला हुआ पुष्प, २ सम्बन्ध प्राप्त, ३ उत्तम स्त्री, ४ यु
५ कनेर,

लकुच[1] है सकुचे कुच क्यों कहें
रुज हरे अमृता[2] अमृता[3] मिले
यह पलाश तलाश किया करे
निकट किंशुक क्यों शुक आ सके ॥२२॥
द्विज कपोत कपोतन[4] शाख में
विहरते हरते दुख द्वंद[5] का
कलित कोरक[6] – कोर कहां दिखे
विकल ज्यों कलपे पिक काकली ॥२३॥
सतत वायस पायस को भखे
मधुरता - स्वरता पिक की कहां
प्रकृति प्राकृत - आकृत हो रहे
न घुलता चलता गिरि गर्त में ॥२४॥
नव - पराग परागत[7] भृङ्ग से
बकुल[8] आकुल है अलि वृन्द से
कब अशोक न शोक गये हरा
प्रिय मिले रमले रमणी यथा ॥२५॥
तरु - कदम्ब कदम्ब[9] न पुष्प है
शुचि – सती असती बनती नहीं
गुण न गूलर, फूल रहे कहां
कर न सून रसम - प्रदान की ॥२६॥

---

१ बड़हर, २ आंवला, ३ हर्र, ४ अम्बार, ५ जोड़ा, ६ बिना फूली कली, ७ घिरा हुआ, ८ मौलसिरी ९ वसंत ऋतु।

सफल शाल विशाल रसाल के
घन उदार सुढार धरे यथा
यह कहां गणिका१ गणिका२ यथा
पति-वसंत मिले रमणी मुदा ॥२७॥
गलतिका३ - कलिका-नव मल्लिका
सुमन कुंद मकुंद - सुदत से
वन बसी सुकुमारि कुमारिनी४
सहचरी कचरी न चरी गई ॥२८॥
सरसता घनसार प्रसारता
महँक चन्दन मंद न है सखी
शिरस५-शेखर६ शेखर७ हो दिखे
सजनि साजन आज न आ सके ॥२९॥
व्यञ्जन रंजन व्यंजन - काल में
कर लिये करती प्रिय प्रेम से
मुदित माननि मान निबाहती
मधुर बोल अमोल न बोलती ॥३०॥
पवन-पावन-धावन सा बना
चल रहा न रहा अब मान का
मदन मोद मदातुर मानिनी
निकट कंत, असंत कहे उसे ॥३१॥

---

१ जुही, २ वेश्या, ३ कलसी, ४ घी कुआर, ५ शिर ६ शिखा में पहनी हुई माला, ७ आभूषण।

पिक दिखो पिक१ में बिक सी गई
मुखर२ डोलति बोलति व्यंग है
मधुर बोल अमोल विकाशिनी
बिरह व्याकुल, हा, कुल-कामिनी ॥३२॥
विधुर घातक चातक पातकी
प्रिय प्रिया रटता नटता नहीं
सघनता घन की न घिरी कहीं
गगन को लख के चख क्या सका ॥३३॥
युवतियाँ बतियाँ बतला रहीं
ललित३ केलि अकेलि करे कहां
विहँसती कसती कुच कंचुकी
मदन के मद की हद हेरतीं ॥३४॥
मन न मान अमानि न मानिनी
हृदय रोप, अदोष स्वयं बनो
निहित४ नायक पायक सा बना
मदन मंद न, द्वंद प्रभाव में ॥३५॥
ऋतु वसंत सकंत सकामना
विरहती हरती मन - वेदना
मुदमती रमतीं कमती कहां
वन – थली मथली मदनातुरा ॥३६॥

---

१ वसंतऋतु, २ बातूनी, ३ स्त्रियों के हावभाव, ४ बहुत हितकारी, ५ जोड़ा।

मन विनोद प्रमोद प्रमाद में
सुख-वितान-लता-नव छा रहीं
लख-सके रसके वश अप्र क्यों
नयन निद्रित आद्रित नींद से ॥३७॥

युवति रंग अनंग रँगी रहे
तमकती तकती दृग-तीर ले
बच सका चसका रस का लगा
कब सुना न गुना मुनि मंद हो ॥३८॥

तन-युवापन आ पनपे जभी
तब सरोज - उरोज खिले रहें
वदन अम्बुज - कम्बुज कंठ है
मधुर बोल न मोल दिये बचे ॥३९॥

नर नरी न, नरी नर के बिना
रह सकें, रस के वश हो रहे
उमड़ती बढ़ती बहती नदी
वह चले मचले जल-भौंर हो ॥४०॥

तपनि - ताप-प्रताप बढ़ा चढ़ा
सलिल सिंचित किंचित भी नहीं
हरित वृक्ष प्रतक्ष प्रफुल्ल हैं
विहँग-मगन भंग न भौंर हो ॥४१॥

युवति-यूथ गुथे शिर मल्लिका
गुणवती नवती नव - नायिका
शशिमुखी प्रमुखी परिहास में
वनथली उथली मचली फिरें ॥४२॥
पिक, सखी न रखी रुख नायिका
मधुर — बोल अमोल सुबोलती
विरह व्याकुल आकुल हो रही
प्रिय विदेश सँदेश मिला नहीं ॥४३॥
सजन-पत्र न सत्र मिला जभी
विलखती लिखती पति पत्रिका
"रस रसा अरसा अब हो रही
निज कलंक मयंक न धो सके" ॥४४॥
मन लगी कलॅगी अब मान की
नव-कली निकली विकती फिरे
मधुप है धव माधव में नहीं
अहह कोप[१] सरोप न क्यों दिखे ॥४५॥

जनकपुर वर्णन

इन्द्र वज्रा छंद

आई पुरी थी मिथिलेश जी की
प्राचीर ऊंची दिश ओर चारों
पाषाण पीने उसमें लगे थे
घेरे उसे था गिरि गौरवी ज्यों ॥४६॥

---

१ कली ।

चित्रांकिता थी नृप-वीरता की
संग्राम जीता वर-शूर जो था
थी शूरता चित्रित शौर्यशाली
प्राचीन औदार्य१-पुरा - पुरी थी ॥४७॥

थे देश जीते जिस ओर में थे
आशा वसी में शुचि चित्र भी थे
प्राचीर के बाहर यामिकी२ थे
ऊंचे बने दुर्ग दुरुह३ दण्डी ॥४८।

था गर्त - गंभीर-सनीर - चौड़ा
जो मध्य प्राचीर सुदुर्ग के था
दुर्भेद्य – भारी मिथिलापुरी थी
साध्वी-सती रक्षति सत्य से ज्यों ॥४६॥

नाके निकाले मुख तैरतीं थीं
जम्बाल भारी जल जन्तु भी थे
जो कूल जाता घँसता वहां था
आगे बढ़ा नाक न प्राण छोड़े ॥५०॥

प्राचीर के ऊपर यन्त्र भी थे
योधा बिना युद्ध करें कला से
तोपें वहां शत्रु भयाविनी थीं
सेना सयानी तल-दुर्ग में थी ॥५१॥

---

१ इतिहास द्वारा प्रशंसित, २ पहरेवाले, ३ कठिन ।

चौड़े सुघंटा - पथ थे पुरी में
खावां खुदे पै शुचि सेतु भी थे
वे वंद होते खुलते खुलाये
नौका बने वे, जल पै अनोखे ॥५२॥
प्राचीर का द्वार बड़ा बना था
लागे वहां भीतर यन्त्र भी थे
आया जभी जो अरि सैन्य लेके
पाताल जाता क्षण मात्र ही में ॥५३॥
था गर्त जो भीतर भाग नीचे
दूर्वा लगी ऊपर थी उसी के
था रम्य घंटा पथ भी अनोखा
वेला चमेली सुम फूलते थे ॥५४॥
जाता चला सो तल ओर को था
ले शत्रु सेना गिरता गिराये
आता उठा ऊपर यन्त्र से यों
ज्यों स्वर्ग को पुत्र, पिता पठाता ५५
वृक्षावली भी पथ पार्श्व में थी
घन्टा - पथों से निकलीं प्रतोली१
थे हर्म्य - प्रासाद - उतंग भारी
ऊँची लगी थीं फहरें पताकें ॥५६॥

---

१ गली

थे धाम दोनों पथ के किनारे
व्यूहाकृती हर्म्य चतुष्पथों में
दूर्वा विहार स्थल मध्य में थी
खोले रहें द्वार उदार मानो ॥५७॥

प्रासाद - वातायन थे अनेकों
शीशा लगे रंग विभिन्न के थे
छाया पड़ी भित्ति सुरंग सी भी
आकाश मानों धनु ~ इन्द्र का था ॥५८॥

अट्टालिका थीं नभ-नाक नापें
सोपान थे यन्त्र – प्रभावकारी
ऊर्ध्वाभिगामी तल लौट आते
जाते न आते दुख पैर पाते ॥५६॥

चित्रांकिता. भित्ति मनोहरा थीं
कान्तार, पक्षी, पशु, वृक्ष शाखा
अम्बोधि औ पर्वत नाक नाना
थी सृष्टि सारी शुचि चित्र ही में ॥६०॥

देशाकृती भिन्न मनुष्य की जो
था वेष-भूषा नर नारियों का
होते कहां कौन स्वभाव के हैं
थे चित्र में अंकित भित्ति ही में ॥६१!

थी चिकणी चारु समान शीशा
लागे मसाले बहु रंग के ये
पीली, हरी, लाल, सुश्वेत, नीली
मानो बना धाम प्रदर्शनी था ॥६२॥
रंगाकिता थी पट चारु श्वेता
कौशेय - चीनी - दरिया बिछी थीं
थी तूल सी कोमल कांति वाली
मानो मही में कुसुमावली थी ॥६३॥
छाई छटा थी छत की अनोखी
कोई बनी, मंकुर[1] की प्रकाशें
दीखें वही जो पट में किया हो
आकाश-छाया सरि-नीर में ज्यों ॥६४॥
ये साज साजे सब स्वर्ग के से
हैं देव भूले अमरापुरी क्या
आनन्द पावे निवसें निवासी
स्वर्गी बने भूतल भाग्यशाली ॥६५॥
पाषाण थे श्वेत सनील रक्त
घोटे गये दर्पण से प्रकाशें
खोदी गईं थीं प्रतिमा प्रतापी
आदर्शदात्री मद मोचनी थीं ॥६६॥

---

1 शीशा

खम्भे खुदे थे तिरछे व सीधे
पुष्पादि बेलें बहु रंग वाली
आनंद पाते लख के कला को
हैं दक्ष शिल्पी जिनने बनाया ॥६७॥

बाला विलोको प्रतिमा बतातीं
कोई नहाती सर केश खोले
कोई सजी – सेज सनींद सोती
कोई उठाये कर फूल तोड़े ॥६८॥

कोई हँसे पीन - उरोज ऽऽली
श्रंगार साजे प्रिय को विलोके
कोई चली मन्दिर पूजने को
मन्दोदरी मानिनि मान धारे ॥६९॥

सन्मान देतीं सखियाँ सहेली
एकान्त में प्रीतम पास बैठीं
कोई लिये बाल विनोद पातीं
कोई दुखी थीं विधुरा दशा में ॥७०॥

कोई मृगाक्षी प्रिय को विलोके
कोई झुकी यौवन - भार से थी
कोई चली थी अभिसारिका हो
थी वे स्वकीया पति - प्रेम पागीं ॥७१॥

भूपेश के मन्दिर - मंदरी थे
आनद देते ऋतु भिन्न में वे
आश्चर्य होता नर भी सुखी यों
थे इन्द्र भू के मिथिलेश मानो ॥७२॥

प्रासाद पंक्ती बहु शोभनी थीं
राज्याधिकारी बसते जहां थे
थे दूर कार्यालय से नहीं वे
जाके जहाँ कार्य सभी सँभालें ॥७३॥

लक्षाश्रयी मंदिर था बनाया
होती सभा भूप प्रजा हितों की
खम्भे सहस्रों, जिसमें लगे थे
आश्चर्यदायी सुर भी बतावें ॥७४॥

प्रासाद घटा पथा की पुरी थी
घेरे बसे थीं सडकें अनेकों
दें मध्य में धाम प्रधान शोभा
मानो शिलाएँ सरि बीच सोहैं ॥७५॥

प्रसाद के से सब धाम सोहैं
था हीन-शोभा न निकेत कोई
छोटे बड़े ये बसते उन्ही में
काश्मीर-गौरांग करें सभी को ॥७६॥

वर्णाश्रमी - वर्ण - विवेकशाली
लोकोपकारी जन थे जहां के
आधार थे शूद्र समाज सेवा
ज्यों वृक्ष को मूल सदैव थामे ॥७७॥
विप्रादि थे शूद्र सहाय कांक्षी
धारा बहे स्रोत प्रवाह पाये
थे भिन्न भी पै सब एक ही थे
ज्यों एक माला गुरिया अनेकों ॥७८॥
दैवज्ञ विद्वान बड़े विवेकी
विख्यात वाग्मी बहु शास्त्र वेत्ता
जन्मांक रेखा - कर-से बनाते
आनंद पाते मिथिलेश जी से ॥७९॥
था लोक आनंद पयोधि ही सा
दीखे वहीं से परलोक - झांकी
दोनों मिले लोक मनो वहीं थे
थी भूप के देह, विदेह भी थे ॥८०॥

* वसंत तिलका छंद *

वैराग्य ज्ञान गुरुता-गढ़-ईंट पोढ़ी
गारा सजा विशद-लोक सुरंजनी था
सोपान स्वर्ग मिथिलापुर में बना था
शिल्पी-विदेह-नृप की रचना विलोको ॥८१॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव
नवम सर्ग समाप्तम्

—: अथ दशम सर्गः :—

* वंशस्थ छंद *

लक्ष्मीनिधि का अग्रमिलन

विलोकते मैथिल-देश की विभा[१]
प्रसन्न थे राघव बन्धु आदि भी
भरीपुरी दूर न थी पुरी वहां
सहर्ष लक्ष्मीनिधि आ मिले जहां ॥१॥
उत्तंगता[२] ;तुंग[३] तरंग प्रेम की
बढ़ी वहां थी सुख-सिन्धु में बड़ी
असीम आनंद निमग्न हो रहे
न शक्ति है "श्रीरस" में कहे उसे ॥२॥
सव्यंग बोलें परिहास बोल वे
सुबुद्धि-सांचा ढलते सुशब्द थे
हँसे हँसावें चुटकी सुमंजु लें
सुजान गंभीर सुहास्य को करें ॥३॥

---

१ शोभा, २ ऊँचो, ३ लम्बी।

प्रसन्न-सीता भगनी सभी हुईं
विलोक भ्राता सुख-अश्रु त्यागतीं
स्वरक्त-सम्बन्ध-अभिन्न, भिन्न में
यथाचना दो दल हों जुड़ा रहे ॥४॥
पुरी प्रतिष्ठा रघुनाथ को किया
सुगौरवर्णा युवती चढ़ीं अटा
सहर्ष लाजा दल फूल फेंकतीं
विमोहिता थीं अवधेश देख के ॥५॥
सशिष्य आचार्य अशीष दे रहे
सबंधु होते प्रणिपात१ राम थे
सभेंट लेके वणिकावली खड़ी
सघोष बोलें जय बाल, राम की ॥६॥
पुरी प्रथा स्वागत हो रहा महा
अमर्त्य२ देखें ललचा रहे उसे
मनुष्य होते मिथिलापुरी कहीं
सदैव सेवा करते रमेश की ॥७॥
विदेह देखा रघुनाथ ने जहां
स्वबंधु लेके उतरे रुथान से
सप्रेम चारों जन शीश को झुका
प्रणाम शौण्डी३ मिथिलेश को किया ॥८॥

---

१ झुककर प्रणाम करना, २ देवता, ३ चतुर ।

विदेह होके हृद में लगा लिया
समोद थे राम विलोक के महा
निदाघ-ऊष्मा रहती कहाँ वहाँ
अजस्र धारा जल की गिरे जहाँ ॥९॥

जनक का कृतज्ञता ज्ञापन

मुझे दिया मान महान आपने
कृपा किया है इस दीन पे महा
सबंधु आये दुहितादि संग में
पयोधि सा हर्ष बढ़ा अमंद है ॥१०॥
नदी मिली सिन्धु सुगौरवी हुई
प्रजा-प्रतापी यदि मान भूप दे
वधू वही सुन्दर कंत को रुचे
भवान से भूषित मैं हुआ तथा ॥११॥
दिया मुझे आदर राम आपने
प्रमाद-माया सब दूर हो गया
सवितृ ने ध्वान्त-धरा हटा दि॰।
प्रकाश, पृथ्वी कर उर्वरा किया ॥१२॥
पयोधि-श्री राम तरंग स्टष्टि है
भवान क्रीड़ा-स्थल लोक तीन हैं
अथाह की थाह मिले किसे कभी
न कंकड़ी-सैन्धव लौटती सिन्धु से ॥१३॥

विदेह-पत्नी हृद में लगा लिया
सनेह में मग्न सुता भुजा भरे
लली रही तू चिर-काल लों नहीं
मिली मुझे ज्यों मणि खो गई मिले ॥१६॥

कसी कसौटी–दुख–दैन्य में गई
पवित्रता धैर्य स्वधर्म धारिणी
कुलीनता की कलँगी लगा लिया
विशुद्ध हो कंचन अग्नि के तपे ॥२०॥

प्रदीप-मुक्ता कुल, सीप में हुए
सवितृ पूर्वाचल को प्रकाशता
मिली बडाई तुझ से मुझे महा
पयोधि रत्नाकर, श्री सुता हुए ॥२१॥

उमंग ऊषा तम को विनाशती
समेघ शम्या महि वारि दान दे
महीध्र की आकर-रत्न - राशि है
सुशील-सीता मम प्राणदा–सुता ॥२२॥

विदेह भी भीतर आगये वहां
पिता पिताजी कह दौड़ भेंटती
बही तहां थी करुणा - नदी बड़ी
सनेह के सागर में मिली वही ॥२३॥

सुमांडवी औ श्रुतिकीर्ति उर्मिला
मिली पिता मातृ पयोधि प्रेम थी
सहर्ष संयोग मिले वियोग से
निदाघ से प्रावृप[१] अभ्र-जन्म हो ॥२४॥

प्रमोद - संयोग - तरंग - तुंगता
समीर का वेग-सुप्रीत का बढ़ा
सुनेत्र - जीमूत सनीर हो रहे
महान वात्सल्य-नदी प्रवाह है ॥२५॥

किया महा अद्‌भुत-कर्म जानकी
पवित्रता-केन्द्र हुई भविष्य की
प्रदर्शिका मार्ग धर्म सती लिये
तपस्विनी संयम सत्य रूपिणी ॥२६॥

सुमांडवी औ श्रुतिकीर्ति उर्मिला
महानता ले अति दुःख को सहा
परन्तु पाया सुख भी असीम है
निशान्त में श्रान्त न धाम में रहे ॥२७॥

गये जभी बाहर श्री विदेह जी
समोद लक्ष्मीनिधि की वधू मिली
सखी सहेली सब आ गईं तहाँ
प्रमोद पातीं बहु, जानकी दिखे ॥२८॥

---

१ बरसात,

विनोदनी - वाम ।विनोद व्यंग से
हँसे हँसावें सिय सौम्य को सदा
सकंत - सीता, सुख को सुखी करे
हिमांशु - शोभा सँग तारिकावली ॥२६॥

मैथिल नायिकाओं का वर्णन

सखी सहेली सब राम से हँसें
सव्यंग बोलें मृदु-वाक्य-वादिनी
दिखा रही थीं कदली सुवत्तमा
वराननी प्रीतम पै न रोप हो ॥३०॥
समीर ,दोषी व्यवहार में वड़ा
कभी न रूठे सतकार दे उसे
कलंक रंभा, पति में दिखे नहीं
दुखी हुए पै हँसती रहा करे ॥३१॥
सदा स्वकीया पति - प्रेम में पगी
सनेह सानी मृदु वाक्य बोलती
न स्वप्न में रोप करें स्वकत से
सती सुसाध्वी मिथिलापुरी वसें ॥३२॥
प्रगल्भा मैथिल देश नारियाँ
सदोप देखें पति को जहां कहीं
सव्यंग बोलें मुख में हँसी लिये
स्वसंग में है मन रोप प्रेम भी ॥३३॥

---

३० उत्तम नायिका, ३१ मध्यमा,

जुही खिली थी, कलपे अकेल ही
मिलिंद को आदर दे न भूल से
गरीबिनी के मकरंद हैं यहाँ
कलंक कोरे कब लाज को दिखे ॥३६॥
कहे कटेरी निज भाग्य भोगती
न दोष देती मधु मादकी तुम्हें
न पूंछ होती किस काल में कहीं
सहर्ष सेवा करती सुखी करे ॥४०॥
द्विरेफ दाबे नलिनी पड़ी रहे
न त्यागती है निशि में उसे कभी
प्रभात देती मकरंद मानदा
विलासिनी धाम बनी ठनी मनो ॥४१॥
कली - गुलाबी कब शांत हो सके
उमंग में है मधु - भार से दबी
खिले-हिले कोमल अंग की प्रिया
सुवास ज्यों रंग - अनंग में रँगी ॥४२॥
कहैं इन्हें मैथिल-देश-नायिका
सुनो सयाने अब औध की प्रिया
बुरा न मानो प्रिय प्रेम प्रीत को
लता चढ़े वृक्ष तले उसे किया ॥४३॥

---

३६ मध्या अधीरा, ४० मध्या धीरा अधीरा, ४१ रतिप्रीता
४२ आनंद सम्मोहिता ।

कली भली, कोरक रूप की नहीं
न जानती क्यों मन में उमंग हो
द्विरेफ फेरी अब क्यों करे यहां
निकेत में रत्न भरे न जानती ॥३४॥
युवा जगी जालक जोर को दिखा
स्वरूप सोधे अलि - केलि चाहती
विकासता अंग अनंग छा गई
बढ़ी बड़ी-बाढ़ – नदी – प्रवेग में ॥३५॥
न लाजवती लख के खड़ी रहे
बड़ी लजीली दृग मूँदती सदा
सलज्ज छूते सकुचे नितम्बिनी
घनावली वायु विलोक दूर हो ॥३६॥
कृशा – चमेली सुकुमार है बड़ी
द्विरेफ को देख लुके सुपत्र में
चले गये पै अकुला उठी खरी
प्रवेग – आवर्त-समंद हो दशा ॥३७॥
सुगंध सोंधी अलि अन्य की लिये
गया जहां था नव-मालिका खड़ी
छिपा छुपा क्यों, न सुगंध की कमी
जहाँ रहे, थी सुख - साध्य वाटिका ॥३८॥

---

३४ अज्ञात यौवना, ३५ ज्ञात यौवना, ३६ अनूढ़ा, ३७ विश्रब्ध नवोढ़ा, ३८ मध्या धीरा।

जुही खिली थी, कलपे अकेल ही
मिलिंद को आदर दे न भूल से
गरीबिनी के मकरंद. हैं कहाँ
कलंक कोरे कब लाज को दिखे ॥३९॥
कहे कटेरी निज भाग्य भोगती
न दोष देती मधु मादकी तुम्हें
न पूंछ होती किस काल में कहीं
सहर्ष सेवा करती सुखी करे ॥४०॥
द्विरेफ दाबे नलिनी पड़ी रहे
न त्यागती है निशि में उसे कभी
प्रभात देती मकरंद मानदा
विलासिनी बाम बनी ठनी मनो ॥४१॥
कली -गुलाबी कब शांत हो सके
उमंग में है मधु - भार से दबी
खिले-हिले कोमल अंग की प्रिया
सुबाम ज्यों रंग - अनंग में रँगी ॥४२॥
कहैं इन्हें मैथिल-देश-नायिका
सुनो सयाने अब औध की प्रिया
बुरा न मानो प्रिय प्रेम प्रीत को
लता चढ़े वृक्ष तले उसे किया ॥४३॥

---

३९ मध्या अधीरा, ४० मध्या धीरा अधीरा, ४१ रतिप्रीता
४२ आनंद सम्मोहिता ।

लता लवंगी लपके अनेक को
न तोष होता तरु अन्य अंकिनी
न त्यागती है मन मोह में फँसा
प्रवद्ध हों क्यों अवकाश अग्र है ॥४४॥
नदी प्रमोदी नद। से मिली जभी
मना रही ईश्वर, संग हो यही
किया सदा प्रेम रही कुमारिका
वरे वही जो वर चित्त को वरा ॥४५॥
चली महावात प्रवेग था बड़ा
पराग ले के मकरंद को उड़ा
हुई वहां भी मधुहीन मालती
द्विरेफ आके मधु को नहीं चखा ॥४६॥
हिमांशु, राका-रजनी प्रमोदिनी
विहार कीजें रस रंग में सने
चहे चकोरी प्रिय चूकिये नहीं .
समोद भेंटो भुज रश्मि रूप में ॥४७॥
जपा जवानी श्रमके जगा नहीं
प्रसून रक्तोत्पल सा विशाल है
दिखा रही मंदिर-लाल को चलो
क्रिया विदग्धा करती क्रिया बड़ी ॥४८॥

४४ ऊढा, ४५ अनूढा, ४६ मुग्धा, ४७ वचन विदग्धा ४८ क्रिया विदग्धा

यही प्रिया कोकिल है वसंत की
रहे सदा ही अनुरागिनी बड़ी
रसाल - शाखा पर बैठ गावती
वियोग में मौन बनी न बोलती ॥४६॥

नदी - नवेली मिल घाट घाट से
न तोप पाया मिल के अनेक से
विदेश औ देश पुरी वनान्त में
भ्रमा करे कानन कामचारिणी ॥५०॥

मयूरनी मौन हुई विलोक के
न वृक्ष छाया, पतझार हो रहा
विहार सङ्केत रहा नहीं कहीं
सभी लता कुज निकुंज हैं झरे ॥५१॥

वसंत बीते मुदिता सुमल्लिका
निदाघ की चाह प्रिया करे बड़ी
समीर ही के कर दे सुगंध को
बुला रही प्रीतम प्रेम प्रीत से ॥५२॥

चकी बुलाती चक से कहा करे
धरो यहां मीन - अपीन, कीट भी
न तोप होगा कुछ और लाइये
न प्रेम होता जब पेट पीठ हो ॥५३॥

असाढ़ औ सावन भाद्र में सदा
घनावली से नभ को घिरा रखें
न देख पातीं उनको कहीं वहां
वियोगिनी दुःखित चित्त चातकी ॥५४॥

समीर, लाके बहु दी सुगंध है
कृपा किया प्रात पधार के यहां
तथापि छूना न मुझे—पवित्र हूं
विशुद्धता ही जग में प्रसादिनी ॥५५॥

बनी न जो बात कहूं किसे उसे
समीर आया मम गात्र को छुआ
सबाँह भेंटा न उसे, सरोष थी
खिली रही बंद कली हुई तभी ॥५६॥

गई जहाँ हंस मिला वहां नहीं
शरीर में तीर लगा उसे मनो
कहां गये नाथ सनाथ कीजिये
सुनीड़ विश्राम करे न हंसिनी ॥५७॥

न मोर देखा वन में मयूरिनी
शिखा चढ़ी थी अवलोकती वहाँ
विलंब का कारण क्या कलापिनी
महान शोकाकुल थी प्रियंवदा ॥५८॥

---

५४ प्रोषितपतिका, ५५ खण्डिता, ५६ कलहांतरिता, ५७ विप्रलब्धा, ५८ उत्कंठिता।

प्रभात होते नलिनी निरूपती
सुपांखुरी खोल खिली हुलासिनी
भरा वहाँ था मकरंद मौज का
द्विरेफ का आगम देखती खड़ी ॥५९॥

वसंत सेवा पिक की किया करे
समीर का चौर सदा चले जहाँ
रसाल के शाल सजे सुबौर से
प्रसन्न हो कोकिल काकली सुने ॥६०॥

नदी नवीना उमड़ी प्रवेग से
गिरा रही कूल न धर्मधारिणी
बढ़ी थली सिन्धु समीप जा रही
दिनान्त जाती अभिसारिका यथा ॥६१॥

कपोतिनी शोक करे कपोत का
प्रवास जाता रूकता न, रोकती
उठे नहीं नीड़ पड़ी दुखी महा
अहा, न चारा चुगती न बोलती ॥६२॥

प्रभात है आगम और-कंत का
प्रसन्नता से नलिनी निहारती
करे प्रतीक्षा पति प्रेम-मत्त है
न द्वार औ,भीतर शांति पा रही ॥६३॥

---

५९ वासक सज्जा, ६० स्वाधीन पतिका, ६१ अभिसारिका,
६२ प्रवत्स्यत्पतिका, ६३ आगतपतिका।

द्रुत विलंबित छंद

सखियों का परिहास

हँस रहीं मिथिलापुर - नारियाँ
मधुर – मूरति मोह रहीं सभी
कर सके न विचार प्रचार भी
शलभ को प्रिय दीपक ज्वाल है ।।६४।।

तरु समीप लखे लपके लता
चमकती चपला घन घेरती
सरित सिन्धु मिले द्रुत दौड़ के
खिंचत लोहकि[१] चुंबक ओर को ।।६५।।

जगत – मोह गया लख सुंदरी
सब गिरे मुनि तापस संयमी
बन गई वह, चन्द्र - चकोरिणी
गिरि बड़ा बहु – उच्च महांग[२] से ।।६६।।

अमित-राशि मिली कण एक से
निकट जा निज रूप मिटा दिया
तब विभिन्न न वस्तु दिखे कहीं
अगम - सागर वारिद बूंद हो ।।६७।।

---

१ लोह का बना पात्र, २ कंद,

किरण - चन्द्र-प्रभा महि फैलती
खिच गई चलता शशि जो बना
पृथक था न प्रभाव हिमांशु से
सकल व्यास प्रकाशित केन्द्र से ॥६८॥

विवश है वह संग रहे सदा
विलग हो सकती न कभी कहीं
पर रखे उसको जब दूर में
पृथक कारण हो कब कार्य से ॥६९॥

विहँसते कहते रघुनाथ हैं
कर दिया सुख कौर सदा मिले
तुम - उदार - सुदार प्रदानती
मधुप को मधु दे नलिनी यथा ॥७०॥

प्रकट कारण को करता कहाँ
सतत कार्य प्रभाव प्रकाशता
सरित को गुण गौरव वेग दे
जन नहीं अवलोकत श्रोत को ॥७१॥

जगत - बाग वधू - वर पुष्पिका
मधुरता - मधु - सुन्दरता लिये
मधुप मत्त करे मकरंद दे
मत्त मृगी मृग का मन मोहती ॥७२॥

द्विज - मुनीन्द्र बड़े निज शक्ति से
गृहिन१ – वृक्ष परे, नभ शून्य में
बल प्रभाव उसे जब खींचती
पतन हो तब भूमि नितंबिनी२ ॥७३॥

तरु विशाल हरे किसने किया
सलिल सिंचित शस्य सुश्यामला
पशु विहंग मनुष्य प्रसाधिका३
सुख दिया किसको न वसुंधरा ॥७४॥

तरु - प्रकांड कठोर त्वचा लिये
कठिन वल्क४ पड़ीं पपड़ी रहें
ललित लोल लता लिपटा लिया
सहज सुन्दर श्रेष्ठ करे उसे ॥७५॥

अति गँभीर सधीर धुरंधरा
अमित - राशि भरी प्रिय वस्तु है
करत खोज मिले मन – मानिता
वसुमती वश माणिक रत्न है ॥७६॥

जनमती दुहिता शिशु हो कहीं
जननि – अंक मयंक-मुखी सुखी
निज निवेश पिता–गृह जानतीं
विकसतीं मणि ज्यों गिरि-खानि से ॥७७॥

---

१ गृहस्थ, २ स्त्री, ३ सजाने वाली, ४ वकल ।

निज अनाश्रय को वह त्यागती
प्रमुदिता मिलती कुल अन्य में
परिचिता न रही पति को वरा
बदलती पथ - प्रेम पयोधरा ॥७८॥

पर – गृहागत, हो अधिकारिणी
कुल – वधू–सधवा, धव योग से
प्रिय - निकेत बन गृह - स्वामिनी
शिर चढ़ा, पगिया उससे बड़ी ॥७६॥

सहज सुंदरता अँग – जाल में
पुरुप फांस लिया पुरुषार्थिनी
बिक गया बिन - दाम प्रमाद में
शलभ सा उतकंठित हो रहे ॥८०॥

जगत – यौवन को युवती जगा
प्रसव पंक्ति रचे नव नित्य ही
वह सदाफल हो फल - जन्म दे
जग प्रसारण कारण कामिनी ॥८१॥

विधि महेश रमेश गणेश भी
रह सके कब शक्ति बिना कभी
जब अकेल हुए विरही बने
वश अधार[1] पदार्थ सदा रहे ॥८२॥

---

1 आधार ।

वचन – चातुरता - गुण गौरवी
निज मनोरथ गोप्य रखें सदा
हृदय कठ न एक रहे कभी
सुघरता घिरती किसको नहीं ॥८३॥
कुशल - वाक्य-सती-हँसती कहें
चतुरता रघुनन्दन में छिपी
अतिथि हो नलिनी-गृह जा टिके
मधुरता मधु की अलिही चखे ॥८४॥
किरण अग्र पयान करें सदा
रवि-प्रताप प्रकाशन कारिणीं
तपन अस्त हुए सँग में चलें
शुचि सती चलती पति साथ में ॥८५॥

सखियों का उत्तर

प्रिय कहो "सुमुखी शशि होड़ लें
नयन- बाण विधे मुनि तापसी
वर विराग, सराग सँवारती
प्रकृति की प्रतिमूर्ति पयोधरा" ॥८६॥
पर कृपा करके बतलाइये
मन-प्रग्रंथन१ का गुरु कौन है
जग करे वश, हों वशवर्तिनी
वदन - अम्बुज में भ्रमरी भ्रमें ॥८७॥

---

१ एक दूसरे को एकत्र करना।

सुघरता, गुरुता, सुकुमारता,
चपलता - चल, चातुरता - मता
मदन - मादकता, मृदु मोदता
यह सिखा किसने हमको दिया ॥८८॥

सकल हाव विभाव प्रभाव जे
सब गुणावलि सुन्दरता लिये
निरट जा किसका मुख देखती
नट नचावत नाचत पूतरी ॥८९॥

सकल वारिद वारि बहे नदी
उमड़ती चलती रुकती नहीं
लगन है रतनाकर से लगी
समुद भेंट किसे सब सौंपती ॥९०॥

असित - मेचक१ कंठ स्वयं धरे
पर मयूर दिखे घनश्याम को
मुदित आदर दे मृदु - बोल से
हम सभी मन सौंप चुकी तुम्हें ॥९१॥

भटकतीं फिरतीं वन में मृगी
विरह के दुख को सहती रहें
मृग जहां सुख शांति वहां मिले
समुझ लो रघुनन्दन आप ही ॥९२॥

---

१ मोर की पूंछ का चमकीला श्याम रंग का चाँद,

—: अथ एकादश सर्गः :—

दम्पति

इन्द्रवज्रा-छंद

आनंद – अम्बोधि, विसार वाला
सीता - सखी सुंदरता सभी थीं
थीं वे युवा, बाल विनोद पार्गी
लौटे नदी सागर संगमांगी ॥१॥

जो खेल खेला शिशुता दशा में
बातें उन्हीं की करके हँसातीं
क्रीड़ा करें वे सुख - सिन्धु-बीची
पक्षी प्रमोदातुर लें बसेरा ॥२॥

पूंछें सयानी ससुराल बातें
कैसी स१श्रू१ यातृ२ ननान्द३ तेरी
प्यारी बता प्रीत विशेष जैसी
संतोष पाऊँ यदि तू सुखी है ॥३॥

---

१ सास, २ जेठानी, देवरानी, ३ ननँद, ४ अनुकूल पति ।

सरि चली मिलने जब सिन्धु को
विपुल – घाट चढ़ें क्षण ही रुके
सतत धार धरे बहती गई
समुद भेंटत सिन्धु तरंग ले ॥९३॥
कमल – अंत बराटक१ रूप ले
शुचि सुगंध कहा फल अग में
दृढ़ हुआ मधु - बीज स्वकोष हो
बन गया वह कारण सृष्टि का ॥९४॥
यदि प्रकाड सँभाल करे नहीं
सदल पल्लव – शाख कहा रुके
रस मिले कब फूल फलादि को
पुरुष पौरुष से प्रणयी बना ॥९५॥
इस प्रकार सखी परिहास में
मगन मोद रहें सँग राम के
सब सती सत का फल पा रहीं
तप किये मिलता इव स्वर्ग है ॥९६॥

मालिनी छंद

मृदुल वचन बोलें, कोकिला कंठ वाला
मन सुख न समाता, कामिनी देख के ही
अमल वसन धारे, मानिनी मान मोरे
मन वच तन से थीं, राम की प्रेमिनी वे ॥९७॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य

दशम सर्ग समाप्तम्

---

१ कौड़ी–फल (कमल का फल)

—: अथ एकादश सर्गः :—

दम्पति

इन्द्रवज्रा-छंद

आनंद - अम्बोधि, विसार वाला
सीता - सखी सुंदरता सभी थीं
थीं वे युवा, बाल विनोद पागीं
लौटे नदी सागर संगमागी ॥१॥

जो खेल खेला शिशुता दशा में
बातें उन्हीं की करके हँसातीं
क्रीड़ा करें वे सुख - सिन्धु-वीची
पची प्रमोदातुर लूँ बसेरा ॥२॥

पूछें सयानी ससुराल बातें
कैसी र१श्रू१ यातृ२ ननान्द३ तेरी
प्यारी बता प्रीत विशेष जैसी
संतोष पाऊँ यदि तू सुखो है ॥३॥

---

१ सास, २ जेठानी, देवरानी, ३ ननँद, ४ अनुकूल पति ।

पूंछूं सखी, मैं, सकुचे नहीं जो
है कंत तेरा तरु, औ लता तू
कल्याणि क्या दंपति मोद माती
प्रेमाकुला सारस संगिनी ज्यों ॥४॥

सखी का उत्तर

जो आज लों कोविद काव्य-कर्मी
गाया नहीं दंपति - गीत – गाथा
सो मैं सुनाती गुण कंत कांता
आनंद पावें सखियाँ सहेली ॥५॥

स्वकुटुम्ब तथा परे कुल विवाह

अज्ञात औ ज्ञात बने सगे हैं
जो हों सगे सो बनते बिराने
जोडी जुड़े कामिनि कंत की है
संतान उत्पन्न करें सुखार्थी ॥६॥

कैसी अनोखी विधि दैव की है
अज्ञात जो दंपति रूप होवे
प्रोत्फुल्ल१ - प्रेमी प्रतिवेश२ होवें

होते निवासी जब दूर के वे
प्रेमाभिलाषी मन प्रीति पोते
याद उमंगें अनुकूलता की
पूर्वानुरागी नव - दंपती हों ॥८॥

जीमूत१ तारापथ२ क्या सगे हैं
आकाश घेरे घन की घटाएँ
शोभा चकोरी दृग देख पाते
देखें, अदेखी जब चक्षु चारों ॥६॥

पर्वानुरागी - जल से सिंचाया
याद जभी है तरु - प्रेम - पौदा
कैसे घटेगा बढ़ता गया है
क्यों पेड़ काटे जिसने लगाया ॥१०॥

क्या मेघ औ मोर सगे कहाते
आनद पाते घन देख बर्ही३
प्रेमानुरागी अनजान होते
सम्बन्ध हो क्यों महि व्योम वर्षा ॥११॥

पौधा मिला जा जब और शाखा
सो आम बाढ़े कलमी कहाता
मीठा, बड़ा, सुन्दर रूप होता
अन्यांग - सम्बन्ध प्रमोद लाता ॥१२॥

दोनों कुलों के गुण मिश्र होते
ज्यों शर्करा से जल स्वाद मीठा
हो दोष तो अन्य मिले नशाता
ज्यों गंग संगी – मल शुद्ध होता ॥१३॥

आती वधू जो कुल अन्य से है
लाती पिता मातृ गुणावली को
संतान हो उत्तम मिश्रता से
ज्यों ताल – मिट्टी कर खेत अच्छा ॥१४॥

शोभा बढ़ाती कुल की मिले से
हो पुत्र में नूतन – भाव – भूषा
योंही नयी नित्य बढ़े भलाई
ज्यों हो नवीनांकुर वृक्ष शाखा ॥१५॥

संबन्ध होता निज वंश से जो
पूर्वानुरागी कब चित्त होता
उत्साह - उत्ताल - तरंग हो क्यों
जो अब्धि में मारुत – मंद - मौनी ॥१६॥

जो ब्याह होता निज वंश में ही
तो पूर्व ही से गुण, दोष आने
हैं जो सगे, दंपति क्यों न होवें
हो प्रीत – प्राचीन – प्रगाढ़–पोढ़ी ॥१७॥

जो रंग होता नर नारियों का
सो वंश में वृद्धि सदैव पाता
होती वही आकृति जो सदा की
है काक तो काक बना रहेगा ॥१८॥

संबन्ध - संसार न प्राप्त होता
संतान की दौड़ स्ववश होती
है अन्य में क्या गुण सो न जाने
ज्यों कूप - मण्डूक कुवां पड़ा हो ॥१९॥

रोगावली - वश न त्याग पाती
नाली नहीं नीर बहे कहां को
जो भाव पोढ़े मन हो चुके हैं
आजन्म भी वे बदले न जावे ॥२०॥

भ्राता स्वसा[1] हैं, कुल एक ही में
वे ही बने दंपति, नात दो हों
सस्कार - द्वन्दी मन को न त्यागें
एकाग्र हो प्रेम न कंत कान्ता ॥२१॥

सम्बन्ध होता कुल अन्य से जो
तो वंश की वृद्धि विचित्र होती
दोनों मिले से सुख बाढ़ आती
जीमूत[2] ही से बढ़ कूप जाता ॥२२॥

१ बहिन, २ मेघ।

दंपति विभेद

हों दंपती तीन प्रकार के हैं
हैं सात्वकी राजस तामसी भी
जो स्वार्थ का त्याग करे बड़ा है
आकाश घूमें घन त्याग ही से ॥२३॥

है कोमलांगी ललना ललामा
वे पौरुषावृत्ति विहीन वामा
पै हों जहां देश विनाश होता
उल्टे चले जो महि में गिरे सो ॥२४॥

स्वाधीनता की अभिलाषिणी हों
सानिध्य सम्बन्ध समान चाहें
वे हीनता ले नर में दिखाती
ज्यों शीर्ष[१] का आमय[२] नेत्र आता ॥२५॥

ऐसा हुआ तो विधि विघ्न होता
कर्त्तव्य - पृष्टी नर औ नरी हों
आते बुरे भाव प्रशक्ति ले के
संसार का प्राकृत - वेग भारी ॥२६॥

हों द्वेष में दंपति वद्ध द्वेषी
जाते विरोधी पथ प्रेम भूले
की जो प्रतिज्ञा प्रिय प्रीति की थी
सो त्याग के अन्य सकाश सेवें ॥२७॥

---

१ शिर, २ रोग ।

वैवाहिकी - प्रेम समाप्त होता
दोनों दुखी हों मन गूढ़ पीड़ा
पाते नहीं शांति, अशांति सारे
आकाश से बूंद गिरा न लौटे ॥२८॥

है कंत - सीधा, ललना दबाती
हो जो कहा तो गृह त्यागती है
क्यों ध्यान देवें, कुल, धर्म का वे
विक्षिप्त मस्तिष्क न प्रौढ़ होता ॥२९॥

आनंद की वाम भिखारिनी थी
सर्वत्र ढूंढ़ा न मिला कहीं भे
जो हाथ में था, उसको गँवाया
आधी गई, पूर्ण न खोज पाया ॥३०॥

संस्कार होते न विशुद्ध जो हैं
तो बुद्धि हो मंद विवेक हीना
चांचल्य चोखी मन वेग देती
जाती चढ़ी थी, गिरती गढ़े में ॥३१॥

होते विरोधी जब तामसी ये
संहार सीमा तट में दिखाती
स्वार्थी विरोधी पथ के पथी हों
पाते न आनंद - विधान भूले ॥३२॥

दें त्याग नारी, नर को प्रसन्ना
प्रेमी बनातीं पर – धाम जाके
होती न देरी फिर त्यागने में
लूटे गये यौवन को न पूछें ॥३३॥

जो अन्य नारी रत, त्याग पत्नी
हो जार दोषी, विधुरा बने सो
अर्धाङ्ग ही जीवन को बिताता
विश्राम पाता कब पंथ भूला ॥३४॥

जो राजसी - दंपति – भाव भीगे
सो मध्य - मार्गी कुल लाज साधे
बाह्याभिगामी सुख अंतराली
दोनों दिशाओं पर दृष्टि राखे ॥३५॥

स्वार्थी सयाने निज स्वार्थ राखे
पै ध्यान संगी – सुख का सदा दें
माने मनावें बनके विरोधी
झंझा मचाता घने घोर लाता ॥३६॥

दोनों चलें संग सुस्वार्थ साधे
जो एक खींचें खिंच अन्य जाता
भूले चलाये न समाज सीमा
शम्या१ धरे बैल चलें सधे ज्यों ॥३७॥

१ जोट—जिसमें दो बैल साथ हल जोतने के लिये नद्दे जाते हैं ।

जो क्रूर हों वाह्य – दिशा पधारें
पै त्यागते अन्तर को न भूलें
हैं राजसी, तामस भी सताता
आवर्त घूमें फिर - भ्रम जाता ॥३८॥

जो साधना की मृदुता–दशा में
वे स्वार्थ को नित्य सिकोड़ते हैं
प्रेमी प्रदानी शुचि प्रेम के हों
धारा पड़े नाव प्रवेग पाती ॥३९॥

जो राजसी, तामस ओर जाते
वे द्वंद - रागी विषयी बड़े हों
अल्पांश–तोषी, अधिकांश भोगी
पौगंड ज्यों जा मिलती युवा से ॥४०॥

जो सत्व का अंश मिला जहां है
सो राजसी - दंपति शांत होते
धर्मानुरागी - हरि - भक्ति - ज्ञानी
संसार को सार विहीन मानें ॥४१॥

हों सात्वकी - दंपति - शांति सेवी
कामाग्नि पै नीर विवेक छोड़ें
है लोक में पै परलोक - चिन्ता
है फूल पड़ा - सरिता पड़े ज्यों ॥४२॥

त्यागी तितिक्षी१ तप-तूबर२ तुष्टी३
तीर्थोदिकी४- तीर्थ - निवास - प्रेमी
तेजोममी५ तेजस६ तूर्ण७ - तोपीन८
त्यों तैत्तरीया९-तरि१० से तरें वे ॥४३॥

सरवांगलेपी११ मन देह के हैं
दुर्गन्ध - कामादिक को दबाये
विश्वास विश्वेश्वर में महा है
देखें सदा चातक मेघ ही को ॥४४॥

मेधा - विवेकी मन, दाब राखे
लांघे नहीं संयम,-शील-सीमा
सानंद अन्योन्य सदा सुखार्थी
है स्वार्थ की गंध न दंपती में ॥४५॥

संसार - रत्नाकर में पड़े हैं
नौका - कृपा - श्रीपति पै चढ़े हैं
कामादि - झंझा चलता नहीं है
त्यों वासना की लहरें न आतीं ॥४६॥

---

१ क्षमा करनेवाला,—शीतोष्ण सहनेवाला, २ तप का आधार, ३ संतोषी, ४ तीर्थ का जल पान करनेवाला, ५ बहुत तेज वाला, ६ पराक्रम, ७ शीघ्र, ८ तृप्त, प्रसन्न, ९ यजुर्वेद की एक शाखा, १० नौका, ११ मन और शरीर से सत्व झलकता है।

वाह्याघृती श्रंग न चित्त से है
गर्वांध – कामो, व्यसनी, नहीं हैं
संसार में हैं पे ऊर्धगामी
सम्बन्ध होता जल कंज का ज्यों ॥४७॥

हैं स्वार्थ दावे परमार्थ सेवी
दानी दया चित्त बसी सदा है
सत्कर्म में मग्न विवेकशील
संतान शिक्षा सतमार्ग की दें ॥४८॥

आगे सुनाती अब जो कथा हूँ
होगी अकेली पति की कहानी
है सात्वकी राजस तामसी वे
भिन्नावलंबी व्यवहार के हैं ॥४९॥

ज्यों नायिका-लक्षण है बताया
त्यों भिन्नता नायक वृन्द भाएं
आधार तीनों गुण के रहें वे
शाखें विभिन्ना-दिश भिन्न हों ज्यों ॥५०॥

हैं सात्वकी राजस तामसी वे
पै एक ही भ्रम सदैव होता
वैसे बनाते नर औ नरी को
ज्यों ध्वान्त सन्ध्या दिन द्योत होता ॥५१॥

५१—द्योत-प्रकाश,

कालानुसारी क्रम से बढ़ें वे
हो मंद दो, तीव्र तृतीय होता
तैसे बनें दंपति - चित्त - चाही
ज्यों मेघ घूमें अनिलाश्रयी हो ॥५२॥

तीनों रहें संग अभिन्न होके
पै एक का नित्य प्रभाव होता
तो भी मिले आपस में रहें वे
हो रंग नाना इक सूत में ज्यों ॥५३॥

"भिन्न प्रकृति के पति"

सौंपे सभी संपति उत्तमा[१] को
एकाश्रयी[२] प्रीत प्रवृद्ध होता
पत्नी परे प्रेम न, अन्य - बाला
है धन्य ऐसा पति संत सेवी ॥५४॥

वैराग्य औ भोग प्रपंच संगी
हो कंत का मानस द्वन्द्व दोषी
शृङ्गार सेवी, हरि - भक्ति - प्रेमी
दे ज्ञान – शिक्षा निज प्रेमिनी को ॥५५॥

१ गुणों के कारण उत्तम स्त्री, २ जिसका एक ही आश्रय
५४ संतमति पति, ५५ सावधान पति

ज्यों ऊर्ध्व जाता ललना - प्रिया ले
त्यों हो तपस्वी रह के गृहस्थी
संतान को संपति – भार देता
ज्ञानान्वियी अन्तः - वृत्ति बोधी ॥५६॥
सवितृ के अर्क समान जो है
भेंटे प्रमोदातुर पद्मिनी को
उत्फुल्लिता हो खिलती कली है
जीमूत वर्षे मुद भूमि पाती ॥५७॥
है तो प्रवासी धर ध्यान पत्नी
ले प्रेम - डोरी मन को झुलाता
गाता सदा सो गुणगान कान्ता
होता सुखी मोर घटा विलोके ॥५८॥
भावादि - मुक्ता हृद-सिन्धु से ले
दे सूक्ष्मदर्शी, जग को, हितार्थी
शब्दार्थ शोधे कविता करे सो
है मेघ, मेघा जल - युक्ति वर्षे ॥५९॥
विश्वेश, सेवा जग की कराते
दे नीति औ धर्म समाज शिक्षा
हो सिद्ध - वाणी प्रभु गान गाये
है धन्य नारी कवि – कंत पाये ॥६०॥

---

५६ ज्ञानीपति, ५७ प्रेमाकुल पति, ५८ प्रवासीवृत्तो प्रेमी पति
५९-६० कविपति

संसार की गूढ़ यथार्थता को
औ हैं परे क्या इसके निराला
ढूंढ़े मनीषी अज – तत्व को वे
हो कंत ऐसा न विहार सेवी ॥६१॥

जो हो गुणी व्यस्त गुणावली में
सूक्ष्मातिसूक्ष्मी – मति हो उसी में
कान्ता - प्रसंगी क्षणमात्र का हो
ज्यों मीन आकाश उछाल लेती ॥६२॥

गंभीरता से अति संयमी हो·
वाक्यावली अंतर में विचारे
औ बोलता शब्द विवेक साने
मेधा - महात्मा परिणाम - दर्शी ॥६३॥

पत्नी न देता वह भूल आशा
बातें भली सो समझा बताता
साध्वी बनाता उपदेश देके
है कंत ऐसा गुरु कामिनी का ॥६४॥

बांचे पुरा और पुराण पोथी
पत्नी सुनाके विदुषी बनाता
धर्मानुयायी सत- मार्ग सेवी
है सात्वकी सौम्य गृहस्थ होके ॥६५॥

---

६१ विद्वानपति, ६२ गुणीपति, ६३ मेधावीपति, ६४ गुरुपति६५पण्डितपति

संगीत सेवी पति सौम्य होता
गाता गवाता कल – कंठ – ज्ञाता
है किन्नरी सा वनिता विहारी
क्या कर गीतज्ञ सयानि तेरा ॥६६॥
योद्धा लिये प्राण सदा हथेली
संग्राम - सेवी, मन प्रेम वाला
पत्नी हितार्थी परमाकुला हो
आवर्त घूमें पुनि भ्रम जाता ॥६७॥
पत्नी अनेकों पति एक हो जो
हो प्रेम पूरा कब एक-से है
पद्मा प्रफुल्ला अति प्रेमिनी है
हो तुष्टि कैसे अलि है अकेला ॥६८॥
हों जो अनेकों पति, एक पत्नी
ज्यों सांड़ घेरे बहु, एक गौ को
प्रेमी बने सुन्दर औ बली जो
छूती नदीवृक्ष झुका हुआ हो ॥६९॥
जो संग जाता पति ले प्रिया को
छाता लगाता मुख स्वेद पोंछे
आडम्बरी-भाव दिखाव का हो
हो प्रीत सच्ची न बनावटी में ॥७०॥

---

६६ संगीतज्ञपति, ६७ योद्धापति, ६८ बहुपत्नीपति ६९ एकपत्नी रत बहुपति, ७० आडम्बरी पति,

मध्यान्ह-मार्तंड सदृश्य होती
देखे जिसे सो जलता जलाता
संगी सदा, पै सुख दूर होता
क्या कंत क्रोधी मतिमंद ऐसा ॥७१॥
आदित्य होता जब अस्त संध्या
पद्मा सभी बंद समंद होती
जाता कहीं कंत प्रवास को जो
चन्द्रानना को विधुरा बनाता ॥७२॥
वामा विरानी बनती नहीं है
है प्रेम से शून्य समीर सा सो
आई जिसे कंठ लगा भुलाया
जाता कटेरी तक भौंर भूला ॥७३॥
होके प्रवासी न स्वदेश आता
पाके अधीरा१ वनिता बनाता
पत्नी बिचारी विधुरा बनी है
हो ताल में हंस बकी विहारी ॥७४॥
लोभी लबारी धन संग्रही है
खाता न खाने न स्वबंधु देता
पत्नी न पाती शुचि वस्त्र भी है
आनंद ऐसे पति से मिले क्या ॥७५॥

---

७१ क्रोधीपति ७२ प्रवासीपति ७३ परपत्नीप्रेमी पति, ७४ परित्यक्त पति,
१ पति सुख रहित स्त्री, ७५ लोभी पति,

कान्ता पडी मूढ़-कुसंग में है
खोला नहीं कोमल भाव भूले
बाह्यावृती को सुख इन्द्रियों से
क्या भील जाने मणि मोल को भी ॥७६॥

जो कंत है क्लीव, सकाम कान्ता
लज्जा लपेटी जलती सती है
मूर्च्छा पराभूत - वधू - विचारी
तृष्णातुरा जा सर सूख पाया ॥७७॥

आलस्य सेवी पति की कहानी
कोई कहे क्या कहते बने भी
यों ही उदासीन पड़ा रहे सो
क्या बंद भी फूल सुगंध देता ॥७८॥

कामान्ध पाया धव जो वधू है
कान्ता न पाती सुख सौम्य शोभा
व्योपार से हीन महा विलासी
कैसे रहे मीन न ताल पानी ॥७९॥

गौरी१ - वधू ने पति - वृद्ध पाया
चूसे कहो क्या रस चीकुरों में ?
लज्जा दबाती, पर मार२ मारे
है द्वन्दता कामिनि चित्त काया ॥८०॥

---

७६ मूढ़ पति ७७ क्लीव पति ७८ आलसी पति। ७९ [illegible]
हीन कामान्ध पति, ८० वृद्ध पति, १ रजस्वला न हुई स्त्री, २ [illegible]

है कामिनी का धव-बाल-भोला
जाने नहीं सो रस रंग क्या है
आशा लगाये रति सी रहे सो
फूले कभी पद्म वसंत आये ॥८१॥
जो कंत - रोगी मिलता नवेली
उल्टे करे सो उपचार सेवा
प्रत्यूप१ होगा गत यामिनी के
भौंरा तभी आ मकरंद लेगा ॥८२॥
खाके गिरा तो बहु नींद आती
जागे; उठा सो चलता बना है
भूलें कभी हो अनुराग पत्नी
ज्यों बैल, गाड़ी दिन रात्रि ढोता ॥८३॥
होती घृणा वर्णन क्या करूँ मैं
पत्नी परारे - पति पास भेजे
हा, जीविका भी उसकी यही है
होगा नहीं दंपति योग आगे ॥८४॥
जाया चलाती सब है गृहस्थी
पत्नी कहे सो कर काम लाता

गंभीर-मुद्रा मन की नहीं हैं
बातें करे क्रोध प्रभाव में हो
ओछा, पहाड़ी-सरि सा दिखाता
जो चित्त आया मुख से बहाया ॥८६॥

वाक्यावली मिष्ठ सदा सुनाता
आकाश पाताल मनो-मिलाता
पै तत्व क्या किंचित भी कहीं है
गंधर्व के धाम समान बातें ॥८७॥

पत्नी दबाये पति यों दबे जो
ज्यों धार काटे निज कूल को ही
नाचे सभी नाच नरी नचाती
है तो श्रमी, पै ललना कँपाती ॥८८॥

पत्नी कहे जो पति को न भाता
है, कंत की बात न मान्य पत्नी
दोनों करे युद्ध न शांति पाते
दो साँप कैसे बिल एक बासी ॥८९॥

पत्नी परारे-गृह जा न पाती
है प्रेम सीमा उसकी उसी में
आनंद दे के सुख मोद पाता
पद्मा छिपाता अलि पंख खोले ॥९०॥

---

८६ चिरचिरा पति, ८७ चाटुकार पति ८८ पत्नीपराभूत पति,
८९ विरोधी पति, ९० वितरेक पति,

प्रेमी बना जो धन धान्य भूला
सर्वस्व देता बलि प्रेम-पत्नी
लेता हथेली निज प्राण प्राणी
त्यागी कहाता ललना हितार्थी ॥६१॥
सन्मान पत्नी करता, डरे भी
पै अन्य-वामा बनता विहारी
दो नाव कैसे पग को सँभाले
सो अंत जाता निज भामिनी के ॥६२॥
आज्ञानुसारी करती क्रिया जो
तो प्रेम पत्नी करता सदा है
जो भूल से भी बन वाम वामा
तो ताड़ना दे ललना-ललामा ॥६३॥
पत्नी बके; जो मन-मत्त आता
चुप्पे सुने व्यंग न खीझता है
टाले न आज्ञा, कर कार्य लाता
ऐसा मिले सेवक-कंत-प्रेमी ॥६४॥
जाता सभा में कर अग्र पत्नी
व्याख्यान देती मुखरा बड़ी हो
फूला समाता न स्वचित्त में सो
है मानदात्री मम मंजु कान्ता ॥६५॥

---

६१ सर्वत्यागी पति ६२ वंचक पति, ६३ स्वसौख्य कांक्षी पति, ६४ सेवक पति, ६५ पार्श्व सहचर पति

विद्या तथा सुन्दरता समेटे
पत्नी मिली भाग्य सराहता है
जाके मिलाता निज मित्र से है
सोना सयाना कसती कसौटी ॥९६॥

कान्ता तथा कन्त सदा कमाते
दोनों सयाने बन स्वावलंबी,
द्रव्यादि के अर्जन में लगे हैं
संतान सौंपे घर दास दासी ॥९७॥

देता कमा के धन द्रव्य सारा
जो वस्त्र देती वह देह धारे,
पूंछे बिना कार्य करे न कान्ता
ऐसा बना किंकर कामिनी का ॥९८॥

देता सदा भोजन वस्त्र लाके,
औ भार सौंपे ललना गृहस्थी,
वाह्याघृती प्रीत नहीं दिखाता
कर्तव्यकारी पति चित्त प्रेमी ॥९९॥

पत्नी मिली स्वैरिणी यौ युवा में,
व्याही गई कंत मिला अनोखा
सेवा करे सेवक सां सदा है
आनन्द पाता गलितांग पाके ॥१००॥

---

९६ प्रतिष्ठा परित्यक्त प्रति ९७ वणिक पति, ९८ किंकर पति; ९९ कर्तव्यशीलपति, १०० काक पति [illegible]

द्रव्यादि देता नर - अन्य जो है
सो धाम जाता पति का सगा सा
पत्नी तथा मातृ सुता स्यानी
कामान्ध प्रेमी बनता सभी का ॥१०१॥

पत्नी कहे जो पति सत्य माने
कान्तानुसारी सब कार्य कर्ता
होता सदा है परिणाम - दोषी
पाता महा कष्ट न मूल माने ॥१०२॥

संतान - अर्थी-पति-वीर्य -दोषी
रोके न पत्नी रत अन्य से जो
हो गुर्विणी गौरव - वंश माने
धिक्कार ऐसे धव को सदा है ॥१०३॥

पत्नी-अदोषा शुचि, त्याग दीन्हा
रोती पिता धाम गई विचारी
थी भ्रातपत्नी विधवा, वधू की
धिक्कार ऐसे नर - निंद्य को है ॥१०४॥

है भोग की शक्ति न श्रेष्ठता में
भार्या बनाता बहु कामिनी सा
पानी भरा है घट एक ही में
क्या सींच सकता सब वृक्ष माली ॥१०५॥

---

१०१ अधम-पति । १०२ मूर्ख पति, १०३ पतित पति,
१०४ समाज तिरस्कृत पति, १०५ वंचक पति,

देखे गये दोप न कत के जो
पत्नी - अदोपा, पति - मेट, त्यागी
वेश्या बसाया स्ववधू जलाता
निर्लज्जता संग न त्यागती है ॥१०६॥
पत्नी-सुवामा, पति है जनाना
चूड़ी करों में पहने स्वयं जो
साड़ी बना के मटके मह्या है
क्या जेठ बोरे जल से मही को ॥१०७॥
भिक्षान्न लाता पति, पास पत्नी
प्रेमाधिकारी प्रिय कामिनी का
दारिद्र से दम्पति दीन वो हैं
आनन्द औ तोप असीम घेरे ॥१०८
माता-पिता-कन्त, दहेज - अर्थी
निर्दोष को दोपि सदा बताते
संकोच वस्त्रान्न प्रदान में हो
मौनावलम्बी पति है वधू का ॥१०९॥
द्रव्यार्थ व्याहे वनिता अनेकों
प्रेमार्थिनी दे धन कन्त को जो
संसर्ग होता धव का उसी का
प्रच्छन्न धोखा सधवा सदा दे ॥ ११० ॥

---

१०६ निर्लज पति, १०७ जनाना पति, १०८ आनन्द पति, १०९ स्वरवहीन पति, ११० लोलुप पति ।

था कन्त - कामान्ध वधू विहारी
पै क्षीणता-वीर्य हुई बड़ी है
देता अलङ्कार अनेक पत्नी
राजी रखे नित्य कुलांगना को ॥१११॥
देशार्थ-सेवा करता सदा है
राज्याधिकारी सब हीं विरोधी
कारा पड़ा बन्द वधू विहाला
नाना सहे क्लेश कुलांगना है ॥ ११२ ॥
धर्मार्थ पाता पति क्लेश नाना
श्रद्धा न त्यागे निज इष्ट की है
राज्याधिकारी बनते विरोधी
पै दैव ही का बल श्रेष्ठ माने ॥ ११३ ॥
ईशानुरागी पति भाग्यशाली
सर्वस्व माने हरि को सदा है
विश्वास राखे प्रभु का बड़ा सो
रक्षा करें जो शरणार्थियों की ॥ ११४ ॥
मैंने किया वर्णन कन्त थोड़े
हैं शेप नाना गणना करूँ क्या
प्यारी सखी-वृन्द महा सयानी
सत्वानुरागी पति हैं तुम्हारे ॥ ११५ ॥

१११ विवश पति, ११९ राष्ट्रसेवक पति, ११३ धर्मरत पति
११४ भक्त पति।

संग्राम प्रीत्यर्थ स्वकन्त जीता
बन्दी बनाया हृद में बसा के
चन्द्रानना को निरखे निवाजे
क्या चाहना पारस पास हो जो ॥११६॥

आगे बखानूं अब भिन्न वाला
चेरी बनीं योषित इन्द्रियों की
जे हैं नचाती पशु वृत्ति धारे
हा शोक, वे तिर्यक योनि लौटें ॥११७ ॥

तामस बद्ध स्त्रियां

हैं भामिनी तामस वृत्ति धारे
गाथा उन्हीं की सुनिये सहेली
गौरांगिनी अन्त वृत्ति काली
हैं क्रोधिनी किंकर कन्त मानें ॥ ११८ ॥

स्वार्थान्धिनी हो अधिकार चाहे
सामान्य शिक्षा मद मत्तनी हैं
अन्याश्रयी चित्त विवाह बद्धा
ज्यों धेनु जाके पर--खेत खाती ॥११९॥

हैं इन्द्रियों में रत रूप रानी
वे कंत सीमा छिपके बढ़ातीं
इच्छावती साधक द्रव्य की हैं
हैं त्यागती वे पति को प्रसन्ना ॥१२०॥

वैवाहकी सूत्र सदर्प तोड़े
वे फंत में दोष घने दिखातीं
संख्या अनेकों पति की बढातीं
हा, अन्त आनन्द न अल्प पातीं । १२१॥
ज्यों बाढ़ पाके सरि-कूल तोड़े
त्यों हो युवा यौवन भार मारी
सीधे चलें क्यों, चलने न पातीं
कामाग्नि से वे तपतीं तपातीं ॥१२२॥
अगांग खोले नर को लुभातीं
हैं यौवना सुंदर रूपवाली
मंदस्मिता वे मन मोहती हैं
हैं स्वैरिणी१ स्वांग स्वरूप बेचें ॥१२३॥
कौशेय२ – वस्त्राग सजे सिधारें
घूमें घुमावें मन, मानिनी हो
बांधे बिना पाश नरादिकों को
वश्या स्वयं हो विहरें वनों में ॥१२४॥
लज्जा ललामा न लगे दिखाती
बोलें सभा में मुखरा बड़ी हैं
अन्त. अँधेरा सत बुद्धि-हीना
है बाहरी ठाठ अनग ही का ॥१२५॥

---

१ बदचलन औरत, २ रेशम ।

विद्या - विभा से मृदु वाक्य बोलें
वक्ता बड़ी पै वश काम के हैं
नीचाश्रयी हो कर जार सेवा
आनद मानें मन मानिनी हो ॥१२६॥
संतान माया — मद – मत्त होती
संसार - सौंदर्य हितार्थ कांक्षी
जाने नहीं क्या इसके परे है
देखा नहीं गूलर - कीट ज्यों को ॥१२७॥

तामसी पुरुष

जैसी बनी हैं ललना ललामा
वैसे-हुए हैं नर तामसी भी
मर्याद - खोये - कुल - की कलंकी
जानें न वे ऊर्ध - दिशा कहां है ॥१२८॥
हा नीच पापी नर तामसी हों
वे अन्य नारी दुहिता फँसाते
कामान्ध हो के कुल को न छोड़ें
हैं मर्त्य१ पै हों पशु - कर्म - कर्मी ॥१२९॥
भाभी न भाभी भगनी पतोहू
है भानजी भावज औ भतीजी
त्यागे न दोषी दुहिता दुरात्मा
हा आततायी२ नर नारकी हैं ॥१३०॥

१ मनुष्य, २ महापापी ।

कामान्ध, बाला बल से बुलावें
सञ्चारिका१ स्वागत खूब पातीं
वामा निरानी कपटी फँसावें
पै भोग पीछे बहु रोग आते ॥१३१॥
हो क्लीवता२ शक्ति सभी नशाती
रोगावली अंग लगी, न कान्ता
प्रत्यंग३ पीड़ा उठती महा है
कांटा लगे क्यों न कुमार्ग घूमें ॥१३२॥
सोचे पुराने निज पाप को सो
रोता दुखी हो क्षण मात्र ही को
अभ्यास प्राचीन कुचित्त चापे
हो ध्यान-भोगी, दृग भोग भोगे ॥१३३॥
सो अंत में निर्य्यक योनि पाता
मासांत४ औ वासर५ मृत्यु होती
भोगे तहा इन्द्रिय भोग ही को
आकाश से गर्त गिरा कराहे ॥१३४॥
बातें करे दंपति--दोष देखें
बोली सखी जो चतुरा सयानी
सीता सिखाओ सुरम्य सौम्य शिक्षा
हैं सिन्धु पोथी वर मंजु मुक्ता ॥१३५॥

---

१ दूती, २ नपुन्सकता, ३ हरएक अंग में, ४ महीना का आखिर, ५ दिन।

श्री सीता जी का प्रवचन

क्या मैं कहूं आप सती सयानी
पत्नी प्रथा की कुशला कुलीना
शेफालिका१ सी अलि-कंत सेतीं
देतीं बड़ाई मुझको सखी क्यों ॥१३६॥
हैं भामिनी-भूमि समान आली
शिक्षा जुताई बहु सात्वकी हो
जो खेत में संयम मेंड बांधे
जाता नहीं बाहर सौख्य पानी ॥१३७॥
दे खाद-सेवा पति की सयानी
शीलांग--लज्जा--महि--उर्वरा हो
अन्योन्य—प्रेमातुरता सुखावे
संयोग—पानी भरके छपावे ॥१३८॥
तो प्रीत का बीज उगे बड़ा हो
रक्षा करे अन्य वहां न आवे
प्रज्ञा—प्रबोधी—प्रहरी बनावे
द्वे लोक के सो फल भूरि पावे ॥१३९॥
दे कंत को सौंप सभी सुखों को
हैं तोष पातीं, पति जो प्रदाने
हों भाग्यशीला अभया भवानी
ज्यों कोष का द्रव्य न खर्च होता ॥१४०॥

---

१ पुष्पपूर्ण वृक्षावली ।

आनंद पातीं कर कंत सेवा
ज्यों वृक्ष सींचे फल फूल पाते
हों दंपती, भेद न दीखता है
अर्धाङ्गिनी हो पति—प्रेम पत्नी ॥१४१॥

तो भेद कैसा पति और पत्नी
द्वै चित्त चोखे चिपके जहां है
ये भिन्नता खींच अभिन्न में ले
जोड़ी जुड़ी ज्यों मिथुनांग राशी ॥१४२॥

ज्यों कन्त को दे सुख सौंप कान्ता
वे ब्याज लेके सब लौटते हैं
आनन्द देवे दुख दोष लेवे
ऐसा सुसौदा कर क्यों न आली ॥१४३॥

जो कंत के दोष सहे सयानी
अर्धाङ्गिनी है उनको बटाती
होती कमी कंत अदोष दीखे
ज्यों हो चिकित्सा रुज नष्ट होता ॥१४४॥

जो कंत सेवा करती सुवामा
आनंद दे सेवकिनी अनेकों
स्वामी कहे जो धव, स्वामिनी हो
जो पुष्प देता तरु, नीर पाता ॥१४५॥

जावे कहीं कन्त प्रवास-में जो
पत्नी बढ़ावे निज प्रेम ही को
घेरा पड़ेगा धव को घिराये
डोरी लिये हाथ पतंग की ज्यों ॥१४६॥

जो चिन्तना चित्त-जिसे बसाती
सो भी स्वयं स्नेह करे उसी का
आकाश देता अवकाश भारी
तो मेघ घूमे नभ में घटा ले ॥१४७॥

एकांग हो दंपत्ति-प्रेम-मोदा
तो दुःख में भी सुख आ दिखावे
जो पूर्णिमा मेघ-घटा घिरी हो
होती प्रभा अन्तर प्रकाश की है ॥१४८॥

हो कंत कान्ता मन एक ही जो
संतान होगी गुण-शील कर्मी
सद्धर्म-सेवी कुल को बढ़ावे
पीढ़ी अनेकों तर स्वर्ग जावें ॥१४९॥

हो वासना-व्यूह सचित्त लेके
घेरा बनाता निज प्रेमियों का
घूमे-उन्हीं में हत बुद्धि होके
संकल्प ही कारण-वासना का ॥१५०॥

है वासना तो मन नाश क्यों हो
सम्बन्ध जोड़े सब चित्त ही में
हो स्वर्ग में भी जन के सगे जो
जोड़े रहें नात समोह - प्राणी ॥१५१॥

हो मेघ ऊँचे-नभ में न छाये
औ भूमि नीचे उससे न होती
तो बूँद-आघात कभी न होता
सामान्यता से ललना नशाती ॥१५२॥

आवे जभी पौरुष-भाव जी में
वे दाबते कोमलता कला को
हो मिश्रता, चित्त न चैन पाता
मिट्टी मिला नीर न स्वच्छ होता ॥१५३॥

हो शक्तिशाली बल जो दिखावे
भिन्नांग की शक्ति खिंची वहां है
संतान उत्पत्ति सदोष होती
मिट्टी खुदी खेत न अन्न होता ॥१५४॥

उत्साह नारी क्षणमात्र का हो
वीरांगना हों नर संग ही में
बांधी बछेड़ी रथ के पछाड़ी
क्या खींचती वाहन शक्ति साधे ॥१५५॥

संसार में हैं नर भिन्न नाना
सम्बन्ध होता शुचि, एक ही से
उद्वाह नारी करती प्रतिज्ञा
बद्धा बनी जीवन लों सदा है ॥१५६॥

सम्बन्ध सीधा निज कर्म से है
जोड़ी जुड़ी पूर्व विवाह के है
भाग्यानुसारी मिल कन्त जाता
कर्यो कार्य हो कारण से विभेदी ॥१५७॥

जो कन्त पाया ललना बुरा है
तो दोष देवे निज भाग्य ही को
हो भिन्नता, चित्त चुना जिसे है
"क्या अन्य दोषी मम कर्म का है"॥१५८॥

देखे गये दोष स्वकन्त के जो
गंभीर होके उनको विचारे
मेटे, सके जो मिट, यत्न ही से
अभ्यास से मूढ़ प्रबोध पाता ॥१५९॥

है पास नारी तन-रूप-शोभा
सो देखते ही नर मोह जाता
शृंगार सोधे रखती सयानी
जोनीर होता सर, जीव जाते ॥१६०॥

है सुन्दरी औ मन-मंजु साधे
सो कंत की प्राण समान प्यारी
सौभाग्य से पूर्ण अमानिनी है
देवी यही भूतल की कहाती ॥१६१॥

जो कर्म के दोष न रूप पाया
तो चित्त की चातुरता क्रिया से
सेवा सुस्रूषा कर कंत मोहे
है भीतरी - छाल सुकोमलांगी ॥१६२॥

है जो कुरूपी, मन - रूपवाली
तो नित्य चोखा रँग चित्त देती
लेके बिठाती धव चित्त पोढ़े
सो बाहरी रूप न देख पाता ॥१६३॥

है बाहरी - रूप न नित्य कोई
जो सुन्दरी, तो गत-यौवना हो
होती कुरूपा कुछ काल पाये
भादों नदी में ज्यों बाढ़ आती ॥१६४॥

जो सुन्दरी बाहर- रूप भूली
हो मानिनी मान समौन धारे
फूली चमेली दिन चार ही लौं
हो पुष्प हीना तब भौंर भागें ॥१६५॥

आधार नारी नर-नीर मानो
जो छिद्र होता बहता भरा भी
हो पात्र पोढ़ा शुचि प्रेम का जो
जाता नहीं बाहर भूल से भी ॥१६६॥

ज्यों शील सोधे ललना - ललामा
त्यों उच्च होती मन उच्च आशा
शाखा बढ़े फूल सहस्र होवे
आचार का अंग विचार होता ॥१६७॥

कांता करे त्याग सुखादि का जो
औ कंत आनंद सदा मनाती
तो लौटता है सुख ओर पत्नी
आसार[१] से ले, महि, बाष्प देके ॥१६८॥

हो अंग से क्षीण,-सुचित्त पोढ़ी
आनंद है, कंत प्रसन्नता में
कल्याण पाती पति की पियारी
उत्ताप-चामीकर—[२]हार होता ॥१६९॥

हो कंत सेवा वश कामिनी के
सर्वस्व देता सुख देखता है
है स्वामिनी सेवक कंत होता
जो बाढ़ बाढ़े सरि, खेत बोरे ॥१७०॥

१ मूसलाधार पानी का बरसना, २ स्वर्ण।

जो स्वार्थ रक्षा करती वधू है
तो प्रेम-धारा बहु मंद होती
सानिध्य[1] हो चित्त न दंपती के
वे लेन औ देन करें कयी ज्यों ॥१७१॥

कान्ता तथा कन्त कुस्वार्थ सेवी
हों दूर दोनों यक दूसरे से
जो स्वार्थ की हानि किया किसीने
तो सूत-कच्चा सम प्रीत टूटे ॥१७२॥

जोड़ी कहाती पर पीठ जोड़े
निर्वाह होना कब स्वार्थ साधे
होती लड़ाई कड़के किशोरी
शम्या जगी तो घन गर्जता है ॥१७३॥

देवादि ने व्याह प्रथा चलाई
हो प्रीत-जोड़ी नर औ नरी में
वे खींच जावें इक दूसरे को
तो मोक्ष पावें जग - जाल से वे ॥१७४॥

स्वामी बनाती धव को सुसाध्वी
सेवा करे सेवकिनी कहा के
तो कंत हो सेवक कामिनी का
सम्बन्ध जोड़े युग, ऊर्ध जाते ॥१७५॥

---

१ निकट।

वाह्यांग से अंतर ओर जातीं
एकाग्रता दंपति में समातीं
देवी तथा देव पदाधिकारी
हो एकयता, ब्रह्म स्वरूप पाते ॥१७६॥

जो स्वार्थ सेवी जग दंपती हों
संसार को ओर सदैव जाते
आशा बढ़ाये मद स्वार्थ जाता
ज्यों भाद्र-वर्षा सरिता बढ़ाती ॥१७७॥

आशा बढ़ाये मद कौन पाता
होके विमोही जड़ योनि जाते
कामादि से इन्द्रिय भोग भोगें
नीचे गिरे प्रस्तर-भार-भारी ॥१७८॥

नारी सुखों को पति - कोप देके
संख्या बढ़ाती नव नित्य जोड़े,
ऐश्वर्य - आनंद सदैव भोगें
वे अंत में ब्रह्म - स्वरूप पातीं ॥१७९॥

जो भाव मेरे उनको सुनाया
साध्वी सयानी तुमने सिखाया
पृथ्वी प्रदा वाष्प, अनंत जाता
दे मेदिनी को जल मेघ होके ॥१८०॥

मालिनी छंद

सुखद - वचन - सीता, चित्त को चेतना दे
धवल - ध्वज - पताका, खम होके नताङ्गी
बहु यश जग फैलाती सदा संगिनी हो
विजय उभय-लोकों में सती शान्ति पाती ॥१८१॥

इति श्री रामतिलकोत्सव-महाकाव्य,
एकादश सर्ग-समाप्तः

अथ द्वादश सर्गः

गृहस्थ तथा सन्यास आश्रम का विभेद

इन्द्रवज्रा छन्द

न्योता दिया था मिथिलेश जी ने
भूपाल भूमंडल के पधारे
कम्बोज काश्मीर कन्नौज काञ्ची
वङ्गांग कर्णाटक औ उड़ीसा ॥१॥

आये महाराष्ट्र ,महीप मानी
पंचानदी केकय देश के भी
आहार्य[1] द्वीपान्तर भूमि भोगी
आनंद - अंबोधि बहा रहे थे ॥२॥

सेवा सँभाले कुशली करों से
की जा रही थी मन को लगा के
संतुष्ट - वाणी सब बोलते थे
भोगीन्द्र[2] को दुर्लभ भोग ऐसा ॥३॥

---

१ पर्वत निवासी, २ इन्द्र ।

आश्चर्य में भूप बड़े सभी थे
कैसे करें कार्य विदेह होके
आकाश कैसे महि पास आवे
अंबोधि, गंगोत्रि न दौड़ जाता ॥४॥

होते सभी कार्य विधान हो से
थे कर्मचारी विधि - बुद्धि - ज्ञाता
दीक्षा मिली थी मिथिलेश जी से
जो ब्रह्म - द्रष्टा, जग क्यों न दक्षी ॥५॥

संसार - संक्षिप्त, प्रसार, प्रेक्षी[1]
चक्रानुसारी–गति - ज्ञान - ज्ञाता
सूक्ष्मातिसूक्ष्मी सृज सृष्टि के थे
थे देह में ब्रह्म विदेह द्रष्टा ॥६॥

ऊर्ध्वाभिगामी मिल ब्रह्म जाता
पातालगामी जग – गर्त डूबे
ऐसा विचारे करते क्रिया थे
संसार औ ब्रह्म विवेक वादी ॥७॥

प्रासारता पूर्ण परेश ने की
आके लिया था अवतार श्री ने
पाया विवेकी मिथिलेश ही को
आधेय आधार समान ही हो ॥८॥

---

१ अच्छी तरह देखनेवाला ।

जो स्वप्न में राज्य मिला किसी को
आनद जागे मिलता उसे क्या
ससार में लीन हुए नहीं थे
ज्यों नीर को कंज कभी न छूता ॥६॥

आये जहां थे वर - भूप नाना
यों ही अनेकों मुनि भी पधारे
थे ब्रह्म, संसार, विचार - वादी
प्रत्यूप ऊपा मिलने चली थी ॥१०॥

विख्यात सीरध्वज शत्रु - हंता
थे शूर क्षत्री रण रंग चोखे
शौर्याश्रयी धीर प्रवीर योधा
वैरी लड़ा तो बचता नहीं था ॥११॥

थे नीति - आचार्य, विचार-ऊँचे
छाया पड़ी धर्म, यथार्थता की
सो न्याय ले शासन को चलाते
नौका बहे नीर प्रवाह पाये ॥१२॥

थी धर्म - धारा बहती प्रवेगी
आनंद पाते जल जन्तु से थे
आगे बढ़े सागर - दृश्य देखें
अध्वन्य१ ज्यों धाम अभीष्ट जाता ॥१३॥

---

१ यात्री ।

भूपेश सीरध्वज - ब्रह्मवादी
थे लोक - ज्ञाता, पर-लोक सेवी
मानो बने पुण्य - प्रयाग ही थे
थी बुद्धि - गंगा यमुना सुयुग्मी ॥१४॥

होगी सभा आज पधारियेगा
दी सूचना थी मिथिलेश जी ने
आये सभी भूप, मुनीन्द्र, योगी
हो स्वागतार्थी मिथिलेश ठाढ़े ॥१५॥

गंगा बहे जा मरु मध्य में ज्यों
लक्ष्मी मिले दीन दरिद्र आके
श्रीमान के दर्शन त्यों मुझे हैं
आनंद का कारण आप ही हैं ॥१६॥

श्रीविष्णु जाते बलि द्वार दौड़े
भूतेश जा भक्त सुभुक्ति देते
आह्वान से देव सभी पधारें
श्रीमान ने त्यों मम पे कृपा की ॥१७॥

जो वायु उद्यान पधारता है
तो गंध लेके सब को सुँघाता
होती प्रशंसा सुमनावली की
श्रीमान से गौरव - वृद्धि मेरी ॥१८॥

था वस्त्र 'जो श्वेत रँगा सुरंगी
शोभा बढ़ी ज्यों उसकी बढ़ी है
त्यों सात्वकी-बुद्धि-मुनीन्द्र आये
आत्मोन्नतार्थी सुख शांति पावें ।।१६।।

जामातृ, कन्या, मम राम सीता
लोकोपकारी कर कार्य आये
वैरी बड़ा रावण लोक का था
मारा उसे शांति मिली सभी को ।।२०।।

संसार की शक्ति समेट ली थी
था कौन ऐसा न अशक्त दीखे
थी चक्र की चाल न चारु चोखी
थे श्वेत में दाग अनेक काले ।।२१।।

था शक्तिशाली दशकंध – गर्वी
जीता सभी देव नरादिकों को
देता महा कष्ट किसे नहीं था
रोते सुने "रावण" नाम ही के ।।२२।।

मारा उसे शक्ति प्रसार की है
सानंद सोता जग, शांति पाये
श्री राम ने रावण - प्राण लेके
की प्राण - रक्षा नर देवतों की ।।२३।।

जो स्वार्थी अर्थी बनता नहीं है
संसार के अर्थ विपत्ति झेले
तो कष्ट वैसे उसको मिले क्यों
जो पार होता सरि में न डूबे ॥२४॥

होता दुखी जो दुख - अन्य देखे
औ बाँट लेता दुख दूसरों का
प्रारब्ध के कष्ट समाप्त होते
ज्यों नीर बाढ़ा सर से बहेगा ॥२५॥

प्राधान्यता है जग कष्ट ही की
होता दुखी जो पर – कष्ट लेके
तो पार होता जग से सयाना
जाता त्वरा वायु - विमान बैठे ॥२६॥

था राम ने त्याग किया सुखों को
कांतार के कष्ट सहे अनेकों
ऐ लोक रक्षा बहु भांति की थी
दोषान्त[१] में प्रात प्रकाश लाता ॥२७॥

कर्तव्यकारी भरतादि भ्राता
शिक्षा सिखाई, जग गीत गाता
हो व्यक्ति त्यागी निज स्वार्थ से जो
तो नित्य शोभा कुल की बढ़ाता ॥२८॥

---

१ रात्रि का अन्त ।

जो थे जहाँ पै उसको बढ़ाया
कर्तव्य में स्वार्थ न भूल जाये
रक्षा प्रतिष्ठा-कुल की किया था
जो अश्व खींचें रथ चक्र घूमे ॥२९॥

सीता सयानी कुल - कीर्तिवंती
कष्टादि नाना सहती रही थी
ज्वाला वियोगानल में तपी थी
प्राणाहुती से प्रत कंत पाला ॥३०॥

त्यागा सुखों को वन कष्ट भोगे
लंकेश - माया न हिला सकी थी
तेजस्विनी ने शुचि[१] शील की थी
आधार सीता पति – प्रेम की है ॥३१॥

नारी – सती – मार्ग सदा सफा है
संसार मोहादि उसे न व्यापें
देती सुखों की बलि, त्यागिनी हैं
ले कंत सीधे हरि – धाम जाती ॥३२॥

कोई न यागादि सती लिये है
ज्ञानादि आवश्यक भी नहीं है
है कंत सेवा सुखदा सुधाब्धि
सत्वानुरागी हरि से मिले ज्यों ॥३३॥

---

१ अग्नि,

सीता सती है दुहिता सयानी
जामातृ —श्रीराम-प्रशांत-आत्मा
सम्बन्ध पा भाग्य सराहता हूं
होती सभा आज इसलिये है ॥३४॥

आज्ञा-पिता की वनवास की थी
कान्तार में चौदह - वर्ष काटे
लंकेश को जीत प्रसन्न लौटे
आनंददा - उत्सव हो रहा है ॥३५॥

मेधा - विरोधी, मत-मन्त्र पा।
वाह्यालयो वाहरही रहें सो
गानादि औ नृत्य कलादि चाहें
सो हो रहे हैं उनके लिये भी ॥३६॥

आत्मोन्नती जो नर चाहते हैं
वैराग्य चिन्ता - मति हो गृहस्थी
संतादि का संग करें सदा सो
ऐसी सभा-दुर्लभ आज होती ॥३७॥

हैं पुत्र - ब्रह्मा – वर – ब्रह्मवादी
आनंद की मूर्ति वशिष्ट, बोले
वैराग्य, चिन्ता - गत है कहाता
सेवी · गृहस्थी – नर मोद पाता ॥३८॥

है कौन सा मार्ग विशेष अच्छा
वक्ता बनें श्री मिथिलेश जी ही
जोड़े करों को, नृप शीश नाये
बोले महा - वाक्य विवेक बोरे ॥३६॥

उत्ताल - वीची उठती बड़ी हैं
हैं सिन्धु दोनों भय - भूरि देते
क्या बुद्धि - नौका तरती वहां है
कैसे बखानूँ उनकी कथा मैं ॥४०॥

आचार्य–आज्ञा धर शीश जी है
सीखा उन्हीं से, उसको सुनाऊँ
धन्यावली गूँज उठी सभा में
हैं सिन्धु के पोत विदेह ही जी ॥४१॥

हैं ब्रह्म - रत्नाकर के किनारे
दें नीर - आनंद - अमोघ दोनों
पै भेद है प्रस्तर सी गृहस्थी
वैराग्य-मृत्सा[१] सम मग्न वीची ॥४२॥

जंजाल - जाली जकड़ी जुटी हैं
है एक के ऊपर दूसरी भी हैं
होता न थोड़ा अवकाश भी है
काठिन्यही - कारण है गृहस्थी ॥४३॥

---

१ अच्छी मिट्टी ।

पाषाद - पोढ़ा - परिवार ही है
भीगे रहें, नीर न मध्य जाता
आघात - पानी यदि छिद्र होता
जाता वहां निर्मलता लिये सो ॥४४॥

अभ्यास - आघात अजस्र हो जो
काठिन्य को तोड़ दरार होती
सो बाढ़ती नित्य नवीनता से
काटे कुल्हाड़ी तरु-शाख को ज्यों ॥४५॥

जो वृद्धि पाता जल मध्य में आ
सो भार-भारी गिरि को गिराता
सो मग्न रत्नाकर शीघ्र होता
ज्यों हेम के भूषण हेम होते ॥४६॥

मोहादि की रज्जु बटी कड़ी है
बांधा उसी में हिलने न पाता
भूखा पियासा परिवार - खूंटा
आनद माने जन दुःख ही को ॥४७॥

चिंता – चुरेलें – चतुरा न चूके
जो एक जाती चढ़ अन्य आती
दें बुद्धि को शांति कभी नहीं वे
ज्यों पत्र को वायु सदा हिलाता ॥४८॥

जो स्वार्थ नाशे नर शत्रु होता
हो मित्र, रक्षा उसकी करे जो
घेरा घिरा है उसका करारा
ज्यों कीट निर्माण करे स्वकारा ॥४६॥

स्वार्थी सभी संग निवास चाहें
बाधा पड़ी स्वार्थ कभी किसी के
तो द्वेष से त्याग करें सगे का
है स्वार्थ ही का परिवार नाता ॥५०॥

स्वार्थांध होता परिवार को ले
पाता जहां जो सब सौंप देता
है कार्य का केन्द्र स्वपुत्र दारा
मोहादि ले तामस ओर जाता ॥५१॥

है मोह की पाश बड़ी अनोखी
छूटे न कोई अबली, बली भी
है स्वप्न पै जाग्रत सा दिखाता
उन्माद में ज्ञान रहे कहां है ॥५२॥

मारा भगाया जन नित्य जाता
जाती सदा की अपमान निन्दा
त्यागे न भाया - मति - पाश बंदी
होता गृही मोह - पिशाच - सेवी ॥५३॥

ज्यों ज्यों बढ़े तामस ओर आगे
त्यों त्यों विमोही बनता दुखी हो
हा शांति पांथी भ्रमता फिरे सो
गंभीर - धारा पड़के बहे ज्यों ॥५४॥

माया-महा-केन्द्र-महरथ होता
घेरे सदा है षडवर्ग आके
लें चित्त को चाप उसे नचाते
दौर्बल्यता, भूप, प्रजा बिगाड़े ॥५५॥

होती कृपा जो हरि की अकांक्षी
ऊर्ध्वाभिगामी - जन - बुद्धि होती
संसार को तत्व - विहीन माने
ज्यों सार - रम्भा मिलता न ढूंढ़े ॥५६॥

हों धर्म औ कर्म विवेक बोरे
मेधा विलोके हरि ओर ही को
सो गौड़ माने जग - कार्य जे हैं
प्राधान्य हो भक्ति अकामता की ॥५७॥

संसार के कार्य करे विवेकी
व्यापार औ शासन कर्म नाना
पै लिप्त होते उसमें नहीं है
ज्यो पत्र - पद्मा जल को न सोखे ॥५८॥

हो बुद्धि – प्रौढ़ा मन पंगुता से
संकल्प - आशा उठने न पाती
मेधा विरागी बहु - युक्ति लाती
प्रत्यूष - ऊषा - रवि - रंग-माती ॥५६॥

विज्ञान से जान चुके विवेकी
क्या नित्य-नाता जग में किसी का
यात्री बने जीवन युक्ति साधे
बैकुंठ जाते जग–वस्तु त्यागे ॥६०॥

प्रारब्ध का भोग - प्रधान होता
आधार माने जन कर्म का है
श्री भक्ति-छाया मृदु-भेद लाती
मेघावली ज्यों रवि-ताप नाशे ॥६१॥

गार्हस्थ्य-चिन्ता दिन रात छाई
डूबा रहे मानुष जा उसी में
हो धर्म की ओर प्रवृत्ति कैसे
गेहूँ न पैदा तरु-तीर होता ॥६२॥

जो सात्वकी हो जन ज्ञान भूखा
रेखा समानान्तर खींचता दो
जो ज्ञान-रेखा वह अग्र जाती
पीछे पड़े जा जग - जाल - रेखा ॥६३॥

जैसे बढ़े त्यों कम दूसरी हा
अज्ञान-आंधी तब शांत होती
हो तीव्र मेधा जग-जाल त्यागे
ले सार-श्रीभक्ति प्रसन्न होता ॥६४॥

संसार के कर्म करे सयाना
पै भोग-इच्छा रखता न भूले
मूले झुलावे हरि की कृपा से
है रज्जु थाँभे शरणागती की ॥६५॥

प्रारब्ध भागे बनके अभोगी
बौछार आती विषयादिकों की
छोड़े विवेकी—परदे वहाँ सो
भूना-चना अंकुर हीन होता ॥६६॥

हो सात्वकी काल, गृहस्थ अच्छा
ज्यों फूल उद्यान सुगन्ध फैली
वैराग्यही तामस में निबाहे
दीपावली का तम में सहारा ॥६७॥

वैराग्य को, हा, बढ़ने न देती
है अन्न वस्त्रादि निकेत-चिन्ता
पाके महा कष्ट विनीत बोले
गार्हस्थ्य के द्वार पराश्रयी हो ॥६८॥

ले वस्तु योगी, शुचि पुण्य देता
साझा किये है तप में गृहस्थी
आदान प्रदान करे तपस्वी
ऊर्ध्वाभिगामी सबको बढ़ाता ॥६६॥

हो ऊर्ध्वरेता[१] अथवा तपस्वी
पै नित्य के कर्म करे सभी के
क्या पूर्ण पूजा अवकाश पाते
आकाश-गामी – द्विज वृक्ष बैठे ॥७०॥

कान्तार-वासी नगरी न आते
निर्वाह होता फल फूल खाके
क्या वासना अन्तर में नहीं है
डोले जगत्प्राण[१] कहां नहीं है ॥७१॥

है वद्ध बाधा – षडवर्ग से वे
शापादि से अन्तर को जनाते
त्यागे न माया, गृह त्यागियों को
छाया पड़े वृक्ष समीप बैठे ॥७२॥

है कोप भी संचित साथ ही में
क्या बाहरी त्याग प्रभाव लाता
जो दुर्ग घेरा अरि डालता है
तो भीतरी साधन काम आते ॥७३॥

---

१ जिसका वीर्य ऊपर स्थित रहता है, सन्यासी।

जो त्याग हो साधन अर्थ ही के
तो भेद है स्वल्प गृही तपस्वी
माया लिये साधन को सुधारे
जो पास है त्याग करे उसी का ।७४॥

है साधना साधक कष्ट दायी
ऊँचे चढ़े पै गिर भी पड़े सो
जो धैर्य धारी फिर चित्त चेते
आवर्त्त घूमें पुनि अग्र जाता ॥७५॥

है सात्वकी– मार्ग प्रशाँतिकारी
जो पार्श्व पीछे, मुड़ता न मोड़े
सीधे वही धाम अभीष्ट जाता
धारा धरे नीर पयोधि पाता ॥७६॥

जो वेश-भूषा, धरता तपस्वी
पै वासना अन्तर में भरी है
हो क्यों भलाई कपटी बने से
ज्वालामुखी बाहर अग्नि फेंके ॥७७॥

वैराग्य की आड़ करे बुराई
दे धूर्त धोखा वधिकार्त सा है
जाता गृही तो [१] छलता छली है
ज्यों मीन जाके थल प्राण खोती ॥७८॥

---

१ पवन,

वैराग्य-आहार्य[१]- विशाल ऊंचा
गार्हस्थ्—चिन्ता-जल से न डूबे
होता नहीं कर्दम[२]—पुत्र-द्वारा
है मार्ग - सीधा अमरापुरी का ॥७६॥

पीछे न देखे जग पार होता
जो देखता है फँस आप जाता
नारी—नवीना, धन, मान, लेके
घेरे रहें, वीर वही बचे जो ॥८०॥

निष्काम होके पथ धीर जाता
तो सिद्धियाँ आ सुख सौंपती हैं
योगी जगाता जग-युक्तियों को
आवद्ध होके पुनि लौटता है ॥८१॥

जो सिद्धियाँ, साथ असिद्धियों के
रोंके न पातीं, वह सिद्ध जाता
तो देवता आकर शीश नावें
श्रीनाथ जाके हृद में लगावे ॥८ ॥

वैराग्य में धीर प्रशांत आत्मा
निष्काम त्यागी जन भक्त होता
गाता रहे गोविंद गान गाथा
तो मुक्ति पाता ततकाल ही सो ॥८ ॥

---

१ पर्वत, २ कीचड़।

गार्हस्थ्य में भी यदि शाँत आत्मा
हो सत्यवक्ता उपकार सेवी
धर्मानुसारी सत - बुद्धि - दृष्टा
विज्ञान - बोधी - नर मुक्ति पाता ॥८४॥

पै विघ्न नाना बहु घेरते हैं
दे डाल बेड़ी परिवार आके
आगे किसी को बढ़ने न देते
ज्यों वेग भारी जल, बाँध रोके ॥८५॥

होता गृही जो हरि-भक्ति सेवी
सर्वस्व सौंपे शरणार्त होता
आनन्द माने प्रभु प्रेम पाके
संसार घेरा न घिरा रहेगा ॥८६॥

वैराग्य का घाट विशेष पक्का
गार्हस्थ्य--कच्चा मल पंक नाला
दोनों प्रदानी प्रभु भक्ति के हैं
जैसी जहां पै सुविधा जिसे हो ॥८७॥

मालिनी छंद

जनक-कुशल--वक्ता, शब्द सौंदर्य साधे
अनुभव--मत लेके शास्त्र--मार्गानुसारी
कथन कर कहा, "श्रीमान् विद्वान वाग्मी
गुरु--जन सब मेरे शिष्य मैं आपका हूं"

इति श्री राम तिलकोत्सव महाकाव्य
द्वादश सर्ग समाप्तः

अथ त्रयोदश सर्गः
श्री नारद का भक्ति भाषण
वंशस्थ छंद

प्रभात आये मुनि, भूप वृन्द थे
विधानता पूर्वक हो रही सभा
प्रसिद्ध थे नारद भक्ति-भाव में
दया दिखाके उपदेश दे रहे ॥१॥

मुनीन्द्र बोले हरि-भक्ति कामदा
मिले सभी जो कुछ चाहना करे
दिया इसीने गुण कल्पवृक्ष को
किसे न मंदार१ स्वयं बना दिया ॥२॥

न ज्ञान गीता जप होम यज्ञ से
न योग वैराग्य न वेद-पाठ से
न दान वापी सर कूप के खने
कृपालुता श्रीपति की मिले कहीं ? ॥३॥

१कल्पवृक्ष, २अहंकार

अहंर नहीं कार्य करे कभी कहीं
कृपालु की हो शरणागती जहां
स्वकर्म कर्ता समझे न आपको
विचार—पोढ़ा हरि प्रेरणा रहे ॥४॥

किया अहंकार न, न्यून वासना
रहो सही में घुन-प्रेम का लगा
बढ़े कहां नाश दशा समीप है
न स्रोत होता सर नीर सूखता ॥५॥

भरा रहे शीतल—वारि गाघ में
सहायता वारिज को मिले नहीं
तुषार-व्याघात[1] विनाश कंज हो
मुकुन्द की भक्ति दिखे अहं कहां ॥६॥

उपेन्द्र का ध्यान धरा जहां नहीं
प्रशांति-दात्री उतरी कृपा वहां
लगी नसाने मन की मनोजता
न तप्त होती महि, मेघ व्योम में ॥७॥

विनाश हों अन्तः-वृत्तियां सभी
न लेश संसार—विमोहता रहे
विशुद्ध हो वृत्ति-निवृत्ति की बड़ी
प्रभात होते तम तोम भागता ॥८॥

---

1 विघ्न

बड़ा सुभीता मन विष्णु से मिले
सध्यान ध्याता बनता मुकुंद का
प्रवृत्ति से बद्ध, अबद्धता दिखे
सचेत होता सतसंग में गये ॥९॥

दिखें अहंकार प्रवृत्तियां सभी
परन्तु वे रक्षित हैं मुकुन्द से
सुभक्त सम्बन्ध रखें स्वयं प्रभो
पिता बचाता शिशु ज्ञान हीन है ॥१०॥

न ध्यान दे भक्त सुधार चित्त का
रटा करे नाम त्रिलोक नाथ का
सदैव सेवा मन बुद्धि से करे
प्रयत्न से हो वश वृत्तियां कहां ? ॥११॥

न भक्त प्रारब्ध-प्रबंध बद्ध है
कृपालुता कोर कृपालु की रहे
स्वकर्म भोगे, पर दूर दुख से
अचेत को क्लेश न, चीरफाड़ से ॥१२॥

कुकर्म कोरे सब संचितादि के
विनाश होते प्रभु-भक्ति भाव से
विशुद्ध हो भक्त मुकुंद-प्रेम से
जहाज में सिन्धु सहर्ष पार हो ॥१३॥

प्रवृत्तिया साथ लिये सुभक्ति के
विशेप आगे बढ भक्त जा सके
प्रभाव से हीन मलीन-वासना
चना-सडा तो किस काम का रहे ॥१४॥

रवकर्म तीनो जब नाश हो गये
न वासना पास, सुपास भक्त को
उपेन्द्रमें प्रम प्रमाण से परे
हुआ तभी व्यापक व्योम भूमि में ॥१५॥

न सत्त्व औ वस्तु बचो कहीं नहीं
जिसे न देखा हरि-प्रेम रूप में
सगे, निराने सम हो गये सभी
सॅकीर्णता भेद विनाश हो गया ॥१६॥

अचेत औ चेतन भेद है नहीं
स्वइष्ट देखें सबमें समान ही
प्रभेद की प्राकृति दृष्टि दूर है
प्रवाह में मग्न दुकूल—आपगा ॥१७॥

सुभक्त होता जग जाल से परे
परार्थ--चिन्ता करता सदा रहे
उपेन्द्र के प्रेम प्रवाह में वहा
दिया करे, पाप अनेक अन्य के ॥१८॥

उन्हें बनाते हरि—भक्त शीघ्र ही
चरित्र गाके भव—सिन्धु पार हों
क्रिया करें कर्म विहीन हो रहे
चले जभी वाहन पै थके नहीं ॥१६॥

बड़ा सुभीता प्रभु – भक्ति में यही
कृपालु आकर्षित भक्त पात हों
सुप्रेम - पीढ़ा पग - नाथ के पड़ा
उदार-आत्मा-प्रभु आ खड़े तभी ॥२०॥

बने स्वयं प्रेरक भक्त कार्य के
किया करें दीन हितार्थ में सभी
न जान पाता वह कार्य क्यों हुआ
पिता जनाता कब पुत्र स्वार्थ को ॥२१॥

स्वयं सभी क्लेश सहे सुभक्त के
उसे न हो दुख, 'दयार्द्र दीन पै
विनाश प्रारब्ध करें, कृपा निधे
दरिद्र हो ब्याज समूल छूटता ॥२२॥

लगा जभी चित्त मुकुन्द ध्यान में
महान् चिन्ता-जग की न साथ हो
परन्तु आता मन-नीच लौट जो
कृपा गिराती पग में उपेन्द्र के ॥२३॥

अनेक जन्मादि सुधार-वृत्ति में
व्यतीत होती पथ ज्ञान साधना
न पार पाते उठके गिरा करें
चढ़े गिरें ज्यों शिखरोच्च-शैल से ॥२४॥

"विशुद्ध हो चित्त अवश्य पूर्वही"
न भक्ति आवश्यकता रखे कभी
प्रवृत्ति को मानस में लिये हुए
मुकुन्द के प्रेम-पयोधि तीरजा ॥२५॥

तरङ्ग - माला अनुराग की उठें
सार्आद्र हो मानस की प्रवृत्तियां
विनष्ट हों सर्व यवास१-वासना
उपेन्द्र की भक्ति न चाह साधना ॥२६॥

महेश की भक्ति बढ़ी, व्यथा घटी
न यत्न कोई करना पड़े कभी,
विनाश होती हृद-वासना बसीं
शिला न धारा उतरा सके कभी ॥२७॥

उत्तङ्ग-वीथी-अनुराग की उठें
गई जहां एक कि अन्य आ गई
प्रवाह बूड़ी हृद-वृक्ष-वासना
अजस्र धारा तरु मूल दे गिरा ॥२८॥

---

१ घास

न शुद्ध होता हृद जन्म-जन्म लों
न साधना-ज्ञान करे सुखी कभी
सदा नहीं साधक सावधान हो
सनींद होता दिन रात्रि जाग के ॥२६॥

महेश-श्रद्धा हृद में बसी जहां
वहां अहङ्कार विनाश हो गया
जले जहां मूल, हरा न वृक्ष हो
प्रवृत्ति-संसार रहे न भक्ति से ॥३०॥

सकाम होता मन भक्त का जभी
पुकारता "नाथ गिरा बचाइये"
पुकार होती छल-छन्द हीन जो
विनाशती कर्म, अमन्द-आर्तता ॥३१॥

सक्रोध हों जो, हरि हानि से बचा
प्रशांत-आत्मा करते सुभक्त की
विवेक की बाढ़ प्रवेग बाढ़ती
विशुद्ध मेधा ध्वज-धर्म की धरे ॥३२॥

प्रलोभ से बुद्धि विनाश हो रही
बढ़ा चला जो जग-गर्त ओर को
सचेत हो के हरि को पुकारता
प्रवृत्ति आगे बढ़ती न, बांध दे ॥३३॥

सगर्व हो चित्त न चेतना रखे
महान मानी बनता अचेत हो
सुभक्ति देती मति मन्त्रणा जहां
पुकार श्रीनाथ करे, प्रशान्त हो ॥३४॥

न मोह माने मन-मंदता महा
कुटुम्ब में लीन मलीन हो रहा
पुकारता माधव, मोह नाश हो
विराग आता जग शून्य देखता ॥३५॥

परार्थ की हानि सदैव चाहता
उत्तप्त-ईर्षा हृद में बसी रहे
[1]विभक्तिता-भक्ति बढ़ी विचार से
मुकुन्द आ द्वेष [2]दुरूहर नाशते ॥३६॥

सहाय श्रीनाथ करें सुभक्त की
सुपास ऐसा शुचि भक्ति में बड़ा
विरोध आ सन्मुख जो खड़ा हुआ
विनाश होता क्षण मात्र में सभी ॥३७॥

विशेष-चढ़ा- विषयादि - वासना
बसी रही थी चिर-काल चित्त में
न मार्ग पातीं उभड़े प्रवेग से
उपेन्द्र का प्रेम, समूल नाशता ॥३८॥

---

1 हिस्सा, विभागता, २ जो दुःख से ध्यान में लाया जाय ।

अहं बना मूल न वृत्त-चित्त का
परोसता है रस-वासना कभी
सुशक्ति शाली मन हो सके नहीं
महेश की भक्ति कुवृत्ति नाशती ॥३९॥

प्रवाह-धारा सिकता नदी बहे
प्रवेग होता कम वालुका पटे
प्रलंब-रेती पड़, नीर सूखता
परेश की भक्ति रखे न वासना ॥४०॥

बढ़ी यथा भक्ति सुभक्त चित्त में
तथा अहंकार सवासना घटे
प्रशांत होता मन रंग-सत्व से
प्रतीर सूखे सरि का निदाघ में ॥४१॥

सनेह श्रद्धा हरि-पाद में बढ़ी
हुआ जहां प्रेम-परेश चित्त में
सनाथ होता ततकाल भक्त है
रसाल देता फल संनिकृष्ट१ जो ॥४२॥

मरीचि२-माङ्गल्य३ कृपा-कृपालु की
प्रकाशती आ हृद-भक्त में सदा
लुके अहंकार-उलूक सा कहीं
तुषार-गाढ़ा मन-कंज पे पड़े ॥४३॥

१ समीप, २ किरण, ३ मंगल के लिए हितकारी।

न चित्त चापल्य–चतुष्टयी१ रहे
विनाश होते सब कर्म – कुंड भी
कृपालुता कारण है कृपालु की
सुराज का शासन ज्यों स्वदेश में ॥४४॥
न वासना वासित हो विषाद में
रही सही भी विषयाद्रता गई
स्वकर्म - प्रारब्ध न भोग पा सके
लगा जहां ध्यान मुकुन्द - पाद में ॥४५॥
प्रशक्ति - प्रारब्ध घटा दिया कृपा
न बीज बाढ़े जब कीट काट दे
रहे सदा मीन नवीन - नीर में
सवण हो तो जल मृत्यु रूप हो ॥४६॥
अवश्य प्रारब्ध सुभक्त भोगता
परंतु श्रीनाथ कृपा प्रकाशते
कुकर्म के कष्ट मिलें नहीं उसे
अनंत२ में अभ्र३ घिरे, न घामहो ॥४७॥
समूह है संचित - कर्म का बड़ा
अनेक जन्मार्जित पाप पुंज से
विनाश होते हरि - प्रेम - बाढ़ से
यहां यवासा बरसात नाश हो ॥४८॥

---

१ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के ऊपर अज्ञान का परत, २ आकाश; ३ बादल ।

मुकुंद आकर्षित भक्त ओर हों
मनोज्ञ१-माया रुकती नहीं वहां
विभेद के कर्म विनाश हों सभी
सविद्-कन्या-गत पंक सोख लें ॥४६॥

कृपा-करारी करुणा-पयोधि की
प्रगाढ़ बाढ़े जन-कर्म को बहा
अगाधता - प्रेम-परेश चित्त हो
उत्तंग-वीची-अनुराग की उठे ॥५०॥

वहां नहीं संचित-कर्म-धूलि हो
सकंत कांता, विधुरा बने नहीं
विनाश होवे सब कर्म भक्त के
विशुद्धता हो हृद ह्लादिनीर बढ़े ॥५१॥

वहां अहंकार कहां रुके भला
प्रदीप के सन्मुख ध्वान्तता नहीं
सुप्रेम - सोपान चढ़ा चला करे
अभीष्ट – श्रीनाथ मिले प्रसन्न हो ॥५२॥

समाधि-साध्वी हरि-कंत सेवती
न ध्यान।ध्याता, एक ध्येय हो रहे
अनंत-आनंद स्वआत्म को मिले
पयोधि पैठे कब नीर न्यूनता ॥५३॥

---

१ मन को खींचने वाली, २ ईश्वर की शक्ति।

प्रशांतिता सत्य - गुणादि दौड़ के
विवेक वासे, हृद में बसें सभी
नया अनोखा अनुराग विष्णु का
सदा बढ़ाती सत-बुद्धि धन्य हो ॥५४॥
त्रिकालदर्शी जग - जाल से परे
प्रमोद - पीयूष - सुप्रेम का पिये
अमोघ - आनंद अधोक्षजांक१ में
अजस्र२ पाता, जग धन्य भक्त है ॥५५॥
विभेद भारी जग का दिखे नहीं
न राग औ द्वेष-प्रसंग पास में
समानता सौम्य समीप ही बसे
महीध्र३ का ४कूट रखे न पंक को ॥५६॥
महान हो शक्ति प्रशस्त सृष्टि में
परंतु है दीन सदा दयालु का
उपेन्द्र पीछे उसके लगे फिरें
स्वबाल-चिन्ता रखता पिता सदा ॥५७॥
प्रसिद्ध होके जग-कष्ट को हरे
लगा रहे सो उपकार - कार्य में
अनाथ दीनार्त सदा सुखी करे
समेघ-माला मरु-भूमि आर्द्र हो ॥५८॥

१ विष्णु की गोद में, २ निरंतर, ३ पर्वत, ४ शिखर, ५ प्रशंसा के योग्य, ६ अंकुर का चिन्ह ।

अनंत - संसार सुभक्त अंत ले
विशाल-आहार्य-सुभक्ति-वक्ष है
विचार में हो कण - कोर मान का
रहे अहंकार न अंकुरांक भी ॥५९॥

अनन्य ध्याता हरि ध्यान का बना
करे सदा जाप अनाम-नाम की
चढ़ा रहे ध्यान-तुरङ्ग-तीव्र में
महांध - संसार सदैव रौंदता ॥६०॥

विवेक विद्या बल बुद्धि वित्त हो
सुकीर्ति छाई जग में दशो दिशा
उपेन्द्र ही कारण सर्व कार्य के
सदैव मानें, शरणार्त भक्त को ॥६१॥

क्षमा दया शील सनेह शान्तिदा
विशुद्धता से हृद मंजु में बसें
सुधर्म को धीर धरे निबाहते
गुणावली संग उपेन्द्र-भक्ति के ॥६२॥

नचा रहा कर्म-किरात, भक्त को
कृपा सहारा कर दुःख रोंकती
न कष्ट पाता, इव कर्म भोग हो
प्रचण्ड-आँधी घन-घोर ले बढ़े ॥६३॥

सुकर्म-प्रारब्ध कठोर था बड़ा
कृपालु ने कोमलता प्रसार दी
हुई बुराई-यदि नाम मात्र को
दया दिखा न्याय किया दयालु ने ॥६४॥

पड़े जभी दुःख महान भक्त को
स्वयं सहायी बनते रमेश आ
प्रभावकारी करते प्रयत्न हैं
गले बतासा इव कष्ट-क्रूर जे ॥६५॥

सनेह - सोपान - सुभक्ति का बना
उतार में कष्ट न हो, चढाव में
रमेश आते निज भक्त पास में
सुपुत्र की भी जननी मया करे ॥६६॥

सुभक्त के नित्य निमित्त कार्य को
संभालते हैं हरि ही स्वयं सदा
प्रवृत्ति में दृष्टि निवृत्ति की करें
अगाध है सिन्धु जहाज जा रहा ॥६६॥

दुलारते हैं, हरि, बाल-भक्त को
सदैव चिन्ता प्रभु ही स्वयं करें
न बाल बांका-जन स्वल्प हो सके
महेन्द्र रक्षा करते सदा रहें ॥७०॥

किया जहां जो जन चाहना कभी
लगे न देरी हरि पूर्ण सो करें
मुकुंद निश्चिंत रखें सुभक्त को
न भानु की ताप हिमाद्रि पै पड़े ॥७१॥

पिता न माता सुत भ्रात भामिनी
न मित्रता-मंत्र मढ़ा सुमित्र भी
सनेह ऐसा कर ही सके कहां
रमेश जैसा करते सुभक्त से ॥७२॥

महान हैं साधन लोक-नाथ के
विधान वेधे जग-जाल। जा सकें
कुकर्म जे क्रूर, अक्रूरता करें
अमित्र भी मित्र पवित्र हो रहे ॥७३॥

जहां धरे पाद सुभक्त-मार्ग में
बुहारतीं सिद्धि सुनिद्धि अग्र हां
सुदृष्टि होती जिसपै प्रसिद्ध हो
रमेश का है वरदान रूप सो ॥७४॥

न भक्त सा है प्रिय विष्णु को कहीं
न भक्त ही को प्रिय अन्य वस्तु है
सुप्रेम साने इक दूसरे मिलें
विशेषता प्रेम उपेन्द्र ही करें ॥७५॥

प्रशांत ज्ञानी विपयादि को डरे
करे बड़े यत्न विवेक पूर्ण हो
परन्तु माया बल-शालिनी बड़ी
विकर्पणी[1] - भाव प्रसारती वहां ॥७६॥

सकाम चित्तादि प्रवृति पूर्ण है
विशेप माया-मत मन्त्रदें सदा
रुके न रोके जप योग याग के
न रज्जु में सिंह बँधा अधीन हो ॥७७॥

प्रवुद्ध—ज्ञानी निज शक्ति से बढ़े
सचेत होता तब ब्रह्म-प्राप्ति हो
अचेतता चित्त हुई गिरा वहां
अलाबु[2] से सागर कौन पार-हो ॥७८॥

---

१ खिंचाव, २ तोंबी।

न भक्ति में साधन चित्त चाहिये
सप्रेम श्रीनाथ पुकारते रहो
कृपालु को रश्मि-कृपा प्रकाशती
तमांधता-चित्त स्वयं विलीन हो ॥७६॥

जहां पुकारा परमेष्टि१-पाल को
कृपालुता-कारण-बीज आ जमा
सप्रेम श्रद्धा कर कार्य रूप में
न वासना-वासित चित्त हो रहे ॥८०॥

खुला जहां मार्ग मुकुन्द-पाद का
विशेष सम्बन्ध उपेन्द्र से हुआ
दया-दमामा बजने लगे तभी
कुकर्म का अंश-नृशंस२ नाश हो ॥८१॥

प्रवेग होता षडवर्ग-बाढ़ का
तमांधवी-पावस काल जो हुआ
सकाम होते जन कामना लिये
नदी चढ़े श्रावण भाद्र मास में ॥८२॥

प्रभाव होता जब जोर तामसी
न देख पाते तम में स्व अंग को
स्ववंश में ही विषयार्त हो रहें
निदाघ में सूर्य नदी सुखा सके ॥८३॥

१ ब्रह्मा, २ क्रूर।

सुमार्ग-माया-तम में दिखे नहीं
रमेश ने भक्ति-प्रदीप को जला
किया उजेला सतमार्ग दीखता
महान वैकुंठ अभीष्ट प्राप्त हा ॥८९॥
अनेक पापी हरि-भक्ति - भाव से
तरें महा-सिन्धु-अपार कर्म का
सुमार्ग-सीधा-प्रभु धाम का दिखे
पयोधि के कूल प्रदीप१-दीप्ति हो ॥९०॥
विभिन्न हो भक्त विभिन्न देश में
दुखी जनों को सुख शांति दे वहां
विवेकवादी बनते मनुष्य हैं
सुगन्ध हो चन्दन पास वृक्ष में ॥९१॥
करें न ऐसा करुणा-निकेत जो
त्रिताप ही में जन तप्त हो रहें
कभी न ऐसा अवसान२ प्राप्त हो
स्वशक्ति से ऊर्ध्व उठें प्रसन्न हों ॥९२॥
करें न जो माधव, भक्ति दे, कृपा
निषिद्ध-पापी अघ नित्य ही करे
कुकर्म से तिर्यक-योनि प्राप्त हो
असंख्य होके जन सृष्टि क्षोभ दें ॥९३॥

---

१ वोकन लैम्प जो समुद्र के तट पर जहाजों के जताने के लिये लगायी जाती है। २ विराम।

परन्तु होता जब श्रोत भक्ति का
अजस्र-धारा बहती प्रशांति दे
प्रचंडता है कलि—काल उष्णता
सुखा सके भक्ति-प्रवाहको नहीं ॥८४॥

हिमाद्रि-गोविन्द कृपा सुस्रोत से
सदा बहाते जल—भक्ति-भाव को
न सूख पाता हृद-भक्त का कभी
पिता-प्रवासी, सुत द्रव्य भेजता ॥८५॥

निदाघ को पाकर नीर न्यून हो
न आपगा-भक्ति प्रवाह बन्द है
प्रशांति पाते जन अंबु के पिये
बचा सके धाम हिमोपलादि से ॥८६॥

जहां घनी हो तम-तोम—मूढ़ता
विशेष-माया—तह लो गई वहां
प्रकाश आवश्यक हो वहीं महा
पयोधि ही में जल—पोत-यान है ॥८७॥

वहीं प्रभा-भक्ति-प्रकाश पा सके
विशेष-पापी-जन जो हुआ बड़ा
वही हुआ भक्त रमेश का चुना
सभी दिखावे हरि-भक्ति-दीप को ॥८८॥

सुमार्ग-माया-तम में दिखे नहीं
रमेश ने भक्ति-प्रदीप को जला
किया उजेला सतमार्ग दीखता
महान वैकुंठ अभीष्ट प्राप्त हो ॥८९॥

अनेक पापी हरि-भक्ति - भाव से
तरें महा-सिन्धु-अपार कर्म का
सुमार्ग-सीधा-प्रभु धाम का दिखे
पयोधि के कूल प्रदीप१-दीप्ति हो ॥९०॥

विभिन्न हो भक्त विभिन्न देश में
दुखी जनो को सुख शांति दे वहां
विवेकवादी बनते मनुष्य हैं
सुगन्ध हो चन्दन पास वृक्ष में ॥९१॥

करें न ऐसा करुणा-निकेत जो
त्रिताप ही में जन तप्त हो रहें
कभी न ऐसा अवसान२ प्राप्त हो
स्वशक्ति से ऊर्ध्व उठें प्रसन्न हों ॥९२॥

करें न जो माधव, भक्ति दे, कृपा
निषिद्ध-पापी अघ नित्य ही करे
कुकर्म से तिर्यक-योनि प्राप्त हो
असंख्य होके जन सृष्टि क्षोभ दें ॥९३॥

---

१ बीकन लैम्प जो समुद्र के तट पर जहाजों के जताने के लिये लगायी जाती है। २ विराम।

महीध्र से जो तृण गर्त में गिरा
न शैल पै जा सकता स्वयं कभी
प्रचण्ड-आंधी पहुँचा सके उसे
रमेश तैसे जन को उबारते ॥६४॥

न पाप पापी रख ही सके कभी
कुकर्म की राशि, कृपा विनाशती
विशुद्ध होता जन शांति प्राप्ति हो
निरोग हो तो रुज अङ्ग में नहीं ॥६५॥

विवेक से बुद्धि विशुद्ध हो गई
१प्रसूत-श्रद्धा हरि - पाद में हुई
रमेश का प्रेम प्रभूत२ जो हुआ
प्रगाढ़-मैत्री प्रभु साथ सिद्ध है ॥६६॥

प्रवाह - धारा प्रभु-प्रेम का बहा
विसार३ सी बुद्धि प्रमोद पा रही
स्वयं रमानाथ कृपा किये मिले
पिता स्वयं भ्रान्त कुपुत्र ढूंढ़ता ॥६७॥

सदा लगाये मन पाद-पद्म में
प्रसन्नता-मूर्ति मुकुन्द को भजे
अजस्र आनन्द अनन्त ध्यान में
सुभक्त पाता सुख शांति सम्पदा ॥६८॥

---

१ पैदा हुई, २ निकला, प्रकट, ३ मछली ।

द्रवें दयानाथ जपादि से नहीं
न दान दीनार्त दिये दया करें
सुकर्म से पुण्य प्रताप तीव्र हो
सुभक्ति से श्रीवर सङ्ग श्री खड़े ॥९९॥

उपाय कोई निज स्वार्थ का नहीं
करे, कभी भक्त उपेन्द्र-प्रेम में
चकोर सा चन्द्र - रमेश ताकता
सुभक्ति आकर्षित शौरि[१]को करे ॥१००॥

इसीलिये तापस त्याग तोपता
प्रमत्त हो व्याकुल विष्णु के लिये
अनन्य- आशा कर दर्शनार्त हो
दयालु आ द्वार खड़े पुकारते ॥१०१॥

न रूप है, नाम न काम-कामना
परन्तु प्रेमाकुल भक्त के लिये
रहे सदा वे, अवतार भी लिये
अभिन्न हो चुम्बक लोह ज्यों जुड़े ॥१०२॥

कुकर्मकारी कर भक्ति अल्प भी
दया दिखावें बलिहार विष्णु की
इसीलिये मैं पद पद्म लीन हूं
अनन्यता से हरि हाथ थांभते ॥१०३॥

---

१ विष्णु

उठी सभा गूंज सधन्य-शब्द ले
सुमार्ग सीधा मुनि ने दिखा दिया
रहे अभी लों भटके भवाटवी
कृपा हुई नारद की, प्रसन्न हैं ।।१०४।।

मालिनी छन्द

मधु-१रिपु-मत है "श्री सङ्ग ले घूमता हूं
तन मन धन मेरा भक्त के हेतु लागे
मम पद रत जो बांधा मुझे प्रेम-डोरी,
कब हिल सकता देखूं सदा प्रेमि—आंखें" ।।१०५।।

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
त्रयोदश सर्ग समाप्तम्

---

१ विष्णु ।

अथ चतुर्दश सर्गः

श्री वशिष्ट का ज्ञान प्रवचन

इन्द्रवज्रा छन्द

वक्ता बने आज वशिष्ट जी हैं
ज्ञानार्क का तेज प्रताप फैला
"हो ज्ञान से मुक्ति" मुनीन्द्र बोले
गाथा उसी की अब मैं सुनाऊँ ॥१॥

अज्ञान से चित्त विचित्र चेते
तीनों गुणों में तम श्रेष्ट माने
स्वार्थांधता से कुल-कूल घोरे
व्यापी अविद्या मन चंचली हो ॥२॥

आगे बढ़े तो पशु कीट पक्षी
आहार अर्थी इक दूसरे के
मारें मरें पेट परार्थ ध्वंसी
जो दुःख देता बहु दुःख पाता ॥३॥

ज्यों ज्यों बढ़े स्वार्थ अनर्थ होता
हा, चित्त में तामस वृद्धि पाता
देहाभिमानी निज रूप भूला
भागा अभागा भव - सिन्धु डूबा ॥४॥

मोहादि पै मूढ़ प्रमत्त बैठा
झंझा झकोरे परिवार देता
आरंभ का अंत, न अंत होता
शाखें प्रशाखें वट में अनेकों ॥५॥

है चित्त ही कारण मोहता का
अज्ञान ने ढाँप किया अँधेरा
ढूँढ़े न पाता किस ओर जावे
अंधा टटोले न सुमार्ग पाता ॥६॥

ज्ञानार्क का दिव्य प्रकाश फैले
तो चक्षु – चोखे खुल आप जावें
देखे स्वयं आत्म - यथार्थता को
प्रत्यूष, फूली सर में कली है ॥७॥

साफल्यता हो मन शुद्धता से
शिक्षा यही शास्त्र पुराण देते
चेते नहीं चित्त अचेत होता
कूड़ा करे रोग निकेत नाना ॥८॥

हीरा पड़ा है जब दूर नीचे
तो पूर्व फेंके कचड़ा जमा जो
हो जो सफाई मणि हाथ लागे
है कर्म आगे, फल प्राप्ति पीछे ॥६॥

योगादि से चित्त विशुद्ध होता
पै कष्टकारी पथ पांथ को है
आगे बढ़ा, चूक हुई कि पीछे
आवर्त, धारा बढ़ लौटता है ॥१०॥

हो धारणा ध्यान स्वधर्म दक्षी
सत्यानुयायी नियमादि कर्ता
चिन्ता नहीं राग सुखानुशायी१
द्वेषादि ढूंढ़े मिलते नहीं हैं ॥११॥

ऐसी दशा में मन शांत होता
हो चित्त में शांति विवेक बाढ़े
पै भूल होती पुनि भ्रमता हो
काई किनारे फिर लौट आती ॥१२॥

अभ्यास का चक्र चले सदा जो
वैराग्य पक्का दृढ़ शांति देता
रागादि की अग्नि जले न पावो
दे ज्ञान – जीमूत, विवेक – पानी ॥१३॥

प्रारब्ध के कर्म न पिंड छोंड़े
हो संयमी चित्त न क्षोभ पाता
पै कर्म का भोग न भागता है
आ दाबता संयमशील को भी ॥१४॥

जो भोग है सों भुगतान लेता
दे कष्ट नाना त्रय – ताप तायें
ज्ञानादि के साधन भूल जाता
माया पड़ा कर्म नये कमाता ॥१५॥

भादों यवासा झुलसे, न दीखे
पै शीत आते फफके हरा हो
त्यों ज्ञान के अंकुर वृद्धि पाते
फासा जला तो फिर बाढ़ता है ॥१६॥

हो सात्वकी-चित्त प्रशांति पाता
सत्मार्ग-सेवी – मन – संयमी हो
देखे न माया - कुल ओर को सो
पै पीर - प्रारब्ध न त्यागती है ॥१७॥

हो साधना से कुछ जो सफाई
प्रारब्ध - काई फिर ढाप लेती
आई, गई ज्ञान प्रकाश पावे
आदित्य लाता दिन-दिव्यता को ॥१८॥

यों भोगता, ज्ञान स्वयं बढ़ाता
औं कर्म - संख्या तब न्यून होती
हो जो समानान्तर ज्ञान आगे
तो भाग्य – रेखा घटती, न बाढ़े ॥१६॥

अभ्यास बाढ़ा सरि - साधना का
तो कर्म के कूल बढ़े ढहाती
धारा ,प्रवेगी तप - तीव्र होती
प्रारब्ध – बालू सँग में बहाती ॥२०॥

होती बहा न्यून न साथ छोड़े
बालू बहे नीर प्रवेग पाये
धारा विनाशे घर रूप रेती
ज्यों मित्र ही शत्रु विपत्ति लाता ॥२१॥

धारा हुई क्षीण विभाग दो हों
प्रारब्ध प्राबल्य महा दिखाती
आगे हुआ जन्म प्रवाह बाढ़ा
वेगाम्बु हो जोर, रही न रेती ॥२७॥

जो ब्रह्म – रत्नाकर ओर जाता
तो न्यून - रेती जन - कर्म की हो
पै छोड़ती पिंड न अंत लों हैं
हो रूप बालू जल में मिली है ॥२३॥

हो व्यक्तिता नाश अनत पाके
दाना मिला ज्यों निज राशि जाके
आदित्य-तापें त्रय शात होतीं
हो नीर से शीतल तप्त - लोहा ॥२९॥

होता स्वक्षेत्री न प्रवास - वासी
प्रारब्ध औ संचित कर्म - कोरा
हो वासना - व्यूह न पास में भी
आनंद - अम्बोधि अनंत होता ॥३०॥

दु खादि आगे सुख पृष्ट होता
दोनों न हैं ब्रह्म समीप में जा
पाता न बालू विषयादिकों का
देखे जहां ब्रह्म - तुषार तोषी ॥३१॥

° आनंद - वीची उठती तहाँ हैं
स्वाभिगामी इक दूसरों पै
है आदि औ अत न. ब्रह्म - ही में
क्या बिंदु ही सिन्धु स्वरूप में है ॥३२॥

आती अनेकों सरि - आत्म रूपा
बाढ़े नहीं, घाढ़ वहां न होती
वाष्पादि का रूप धरे सिधारे
होता नहीं न्यून अन्यून होके ॥३३॥

विश्राम सम्पन्न विवेक वादी
होता विशुद्धाचल ज्ञान पाके
वीची उठे सिन्धु महान ऊँचे
पानी हिमानी१ घन जाम जाता ॥३९॥

गाते सभी ज्ञान – गिरीन्द्र गाथा
कोई चढ़े औ गिरके चढ़े भी
कोई उठे औ शिखरोच्च जाता
सो भी दिखे ब्रह्म – अनंत ऊँचे ॥४०॥

संसार जैसा जल सिन्धु सा है
त्यों ज्ञान अम्बोधि अगाध जानो
पाता नहीं पार अपार को हूँ
ले नाव - मेधा चलता किनारे ॥४१॥

मालिनी छंद

जग - निधि - जल में जो तैरता शक्तिशाली
मदन मद घनाशा रोष मोहादि जीते
निज मति–बल से सो खोजले ब्रह्म को है
वह सुरपति से हो पूज्य श्री ब्रह्मवादी ॥४२॥

इति श्री रामविलकोत्सव महाकाव्य,
चतुर्दश सर्ग समाप्तः

१ पाला।

गंभीरता - केन्द्र महान नामी
आराध्य आराधक एक होवें
वीची तथा वारि अभेद हो ज्यों
नामी अनामी सब एक ही हैं ॥३४॥

अंगार - ज्वाला जलती जहां है
पाषाण पोढ़े गिर गौरवी हों
नीचे बहै वारि सआद्रता ले
है ब्रह्म की व्याप्ति कहां नहीं है ॥३५॥

आकाश आधार न धारता है
वृक्षावली औ मरु मध्य में भी
स्वाधार सर्वत्र समान दीखे
सर्वेशता त्यों वर - ब्रह्म की है ॥३६॥

है सिन्धु - खारा, घन नीर पाके
लेके घुमाता नभ - पात्र में जो
खारीपना खोकर मिष्ट होता
साकारता - ब्रह्म - स्वरूप की त्यों ॥३७॥

आदित्य तारा गण चन्द्र जे हैं
हैं सिन्धु - सम्बन्ध प्रशक्ति पाके
कोई नहीं वस्तु रहे अकेली
त्यों ब्रह्म का रूप विराट दीखे ॥३८॥

विश्राम सम्पन्न विवेक वादी
होता विशुद्धाचल ज्ञान पाके
वीची उठे सिन्धु महान में
पानी हिमानी१ बन जाम जाता ॥३९॥

गाते सभी ज्ञान – गिरीन्द्र गाथा
कोई चढ़े औ गिरके चढ़े भी
कोई उठे औ शिखरोच्च जाता
तो भी दिखे ब्रह्म – अनंत ऊँचे ॥४०॥

संसार जैसा जल सिन्धु सा है
त्यों ज्ञान अम्बोधि अगाध जानो
पाता नहीं पार अपार को हूँ
ले नाव - मेधा चलता किनारे ॥४१॥

मालिनी छंद

जग - निधि - जल में जो तैरता शक्तिशाली
मदन मद घनाशा रोष मोहादि जीते
निज मति–बल से सो खोज ले ब्रह्म को है
वह सुरपति से हो पूज्य श्री ब्रह्मवादी ॥४२॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य,
चतुर्दश सर्ग समाप्तः

पाला।

—: अथ पंचदश सर्गः :—

कर्म–विपाक

उपेन्द्र वज्रा छंद

मुनीन्द्र–जावालि–प्रशांत– आत्मा
विराजते थे महती - सभा में
वशिष्ट बोले कृपया बताओ
रहस्य क्या कर्म-त्रिभेद - भ्रान्ती ॥१॥

विकास पाता किस रूप से है
प्रबद्ध हो जीव - स्वकर्म ही में
यही बना कारण जन्म का है
कृपालु व्याख्या करिये इसी की ॥२॥

मुनीन्द्र जावालि उठे सभा में
सभी प्रशंसा करने लगे थे
सुअर्थ, भाषा, शुचि शब्द को ले
सुगुच्छ साजे मृदु–वाक्य बोले ॥३॥

अनंतता - कर्म अनंत सी है
विनाश हो सृष्टि न कर्म जो हों
नहीं नचाता जन कौन ऐसा
प्रधान - आधार विधायकी[१] का ॥४॥

दिखे कहीं तत्व न रूप वाले
सभी समाये प्रलयान्तरी हो
अहं सइच्छा जब ब्रह्म को हो
अनेक होना सत - चित्त चेते ॥५॥

अहं किया कंपन, तत्व डोले
विशेष विस्तार हुआ हिलाये
प्रभूतता – तत्व - अनंतर[२] आई
समीर 'वैश्वानर[३], नीर, पृथ्वी ॥६॥

मिले जहां वे इक दूसरे में
हुए सुरंगी बहु रंग वाले
विचित्रता चित्र चरित्र की हो
सचेत होते मन मन्त्रणा दे ॥७॥

विचित्रता वासित वासना हो
महान संघर्ष करे प्रतीक्षा
विमोह बाढ़ा रति - काम आई
वियोग से क्रोध कुरूप लाता ८॥

१ विधान कर्त्ता, २ आकाश; ३ अग्नि,

मदादि ईर्षा शठ लोभ लेके
स्वकर्म निर्माण पदार्थ आये
विभेदता - व्यक्ति विभिन्न आशा
अनेक होके निज स्वार्थ साधे ॥९॥

अनीति औ नीति प्रभेद देखे
प्रबुद्ध होता जन मोह घेरा
स्वकर्म – आवर्त[१] अमूर्त[२] ढांपा
गया दिशा-व्यास, स्वकेन्द्र त्यागे ॥१०॥

कहां रहा एक, विभिन्न होके
विजाति औ जाति बना विमूढ़ी
स्ववंश का औ कुल का कहाता
कड़ी, बढ़ाता निज कर्म ही की ॥११॥

स्वदेश – प्रेमी बनता बड़ा है
विदेशियों से करता घृणा है
खड़ी किया प्रीत, अप्रीति भित्ती
न जान पाता नर कौन कैसा ॥१२॥

लगी रहे आढ स्वकर्म ही की
न देख पाता जन-द्वेष-दोषी
सनेह साना लख सुन्दरी को
सकाम होता रत मोह में ही ॥१३॥

---

१ भँवर २ आत्मा,

प्रवृद्धि होती सुत औ सुता से
सदा इन्ही में रत चित्त चिन्ता
कुटुम्ब का किंकर स्वार्थ साना
हो वारि - धाराधर, भूमिशायी ॥१४॥

प्रवद्ध होता निज स्वार्थ ही में
न देखता अन्य बिना उसी के
स्वअर्थ की मूर्ति बना फिरे सो
सदा गड़ाता द्रव, ठोस होता ॥१५॥

मनुष्यता, देह बता रही है
स्वभाव में वो पशुता दिखाती
अनर्थ ही साधक अर्थ का है
प्रसन्न होते बक, मीन खाके ॥१६॥

जहां मरे वे पशु – जन्म पाते
प्रवृद्ध होते निज वासना से
शरीर रचा कर घास ही से
निकेत - नाली मल - पंक पूर्णा ॥१७॥

कुकर्मता तिर्यक - योनि देती
प्रभात में जन्म, विनाश सन्ध्या
अनेक जन्मों तक दौड़ होती
न पार पाता जड़ता लिये है ॥१८॥

प्रसुप्तता चित्त अचेतना दे
द्रुमादि औ अद्रि-शिला हुआ सो
सहस्र पर्वो जड़ योनि काटे
जहाज डूबा तल सिन्धु जाता ॥१९॥

विनाश तत्वादिक वेग से हों
प्रपीनता, सूक्ष्म – शरीर पाती
सचेत होता रस - रेत[१] द्वारा
शिला रहा था, कण व्योम घूमे ॥२०॥

चढ़ा चला तिर्यक योनि आके
विकाश होता पशु कीट पक्षी
मनुष्य हो तो मद काम दाबें
गिरे, चढ़े, निर्गम[२] - नीर ऊँचे ॥२१॥

मदादि से पिंड न छूट पाया
उठा हुआ, हा गिरता गया है
प्रवेश हो तिर्यक योनि ही में
उठे गिरे यों भव - अब्धि - वीची ॥२२॥

क्रमानुसारी चढ़ के गिरा था
स्वकर्म की शक्ति प्रवेग देती
न अंत पाता जन कर्म का है
त्रिपर्ण[३] – धारा पड़ अग्र धावे ॥२३॥

---

१ वीर्य, २ फव्वारा, ३ संचित, प्रारब्ध, क्रियमाणकर्म,

उठे गिरे चेतन, मूढ़ होता
मनुष्य से सो जड़ योनि पाता
न अंत होता इस दौड़ का है
क्रिया पढ़े ज्यों प्रतिक्रिया को ॥२४॥

कहूं कथा मैं षडवर्ग की है
सुनो यही कारण जन्म के हैं
हुआ जहां मोह प्रलोभ आया
पदार्थ पाते सुख कामना हो ॥२५॥

मनोज मोदी महिला मनाता
प्रवेश में जो अवरोध होता
अमर्ष[1] आता मन गर्व बाढ़े
असाध्य ईर्षा करती कठोरा ॥२६॥

अभिन्न हैं ये इक दूसरे से
विकाश पाता यदि एक आके
खड़े सभी हैं निज शक्ति लेके
प्रधान माया बनती इन्हीं से ॥२७॥

सदाफली-वृक्ष यही कहावा
फुले फले बौर लिये दिखाता
विकाश होता जब एक का है
लगे रहें पृष्ठ सभी सहायी ॥२८॥

---

१ क्रोध।

मतग नामी इक था विमोही
स्वपुत्र से प्रेम बड़ा उसे था
सदा उसी का मन ध्यान राखे
यथा पपीहा मुदिरावली१ का ॥२९॥

विमोह का केन्द्र बना लिया था
स्वपुत्र को मोह विकाश दाता
प्रवासनायें उसकी वहीं थी
नदीश में नीर-नदी समाता ॥३०॥

प्रधान था मोह, मदादि भी थे
अभिन्नता भिन्न न हो सकी थी
लगा अखाड़ा उनका वहां था
भुजंग ज्यों शावक संग घूमे ॥३१॥

स्वपुत्र सम्बन्ध किये विमोही
उसे किया था हठ से हठीला
सक्रोध था, मोह मदादि भी थे
प्रवाद आये पथ धाम चूड़ें ॥३२॥

विमोह से क्रोध बढ़ा वहां था
सकाम कामी मद मत्त भी था
विकाश से सर्व हरे भरे थे
बरोह बाढ़े वट-मूल होती ॥३३॥

१मेघ समूह।

प्रच्छन्न-आत्मा-सुत हो गई थी
वही दशा - मत्त - मतंग की थी
न बुद्धि - बोधी - बल वृद्धि पाता
[1]निशीथिनी में रवि क्या प्रकाशे ॥३४॥

अनङ्ग था पुत्र अनङ्ग - प्रेमी
विशेष - वेश्या मन मुग्धिता थी
स्ववित्त खो के पर-वित्त लेता
मिले नहीं, चोर बना चुराता ॥३५॥

कुकर्म - अभ्यास बढ़ा-चढ़ा था
विधान - प्राचीर उलङ्घता था
प्रधान था तस्कर क्रूर – क्रोधी
महा विलासी मदिरा पिपासी ॥३६॥

न दीन को दान दिया कभी जो
लिया सभी से धन खूब जोड़ा
उसे किया जा वध द्रव्य को ले
अनङ्ग को दी नृप दण्ड-शूली ॥३७॥

पिता वियोगी सुत हेतु रोता
प्रभुक्त चिन्ता तन क्षीण हो के
मरा जभी तो कपि जन्म पाया
अनङ्ग भी भल्लुक - योनि जोड़ा ॥३८॥

---

1 अर्द्धरात्रि ।

खिंचे हुए थे निज कर्म दोनों
हिमाद्रि पै आकर वे बसे थे
मदादि आकर्षण तत्व पाये
निजार्थ मात्रा अधिकांश होती ॥३९॥

हुआ कहीं विघ्न निजार्थ में जो
लगा, विराना क्षण एक में हो
स्वभ्रात माता सुत औ पिता को
न मानते स्वार्थ विनाश होते ॥४०॥

कपीश - शाखा फल खा हिलाता
लगा तहां था मधु - मंजु - छाता
उड़ी अनेकों मधु - मक्खियाँ थीं
लगी सताने कपि रीछ को जा ॥४१॥

सहस्र - संख्या मिल काटती थीं
व्यथा बड़ी रीछ - मुखाग्र में थी
कपीश भागा जब था वहां से
स्वहस्त से भल्लुक ने दबाया ॥४२॥

मरा वहीं मर्कट वृक्ष नीचे
वही दशा भल्लुक की हुई थी
कुकर्म से तिर्यक - योनि जन्मे
अनेक को मार मरें स्वयं वे ॥४३॥

सहस्र - वर्षों बहु कष्ट भोगा
अचेतना चित्त प्रभूत रूपा
गिरे वहाँ से जड़ - योनि जाके
प्रमत्त को ज्ञान न आत्म होता ॥४४॥

हुए तभी वृक्ष सहस्र वर्षों
अचेतना चित्त बढ़ी वहां भी
बने वही पर्वत - मूढ़ होके
प्रवाह रोके रुकता कहाँ है ॥४५॥

नदीश में जा जल दौड़ के जो
वहां बनाता लहरें अनेकों
न तोष होता, बन वाष्प जाता
घनावली हो फिर भूमि आता ॥४६॥

प्रतिक्रिया से बनती क्रिया है
क्रिया चले ओर प्रतिक्रिया के
गिरीन्द्र से वृक्ष हुए अचेती
उठे यथा वाष्प तड़ाग पाती ॥४७॥

सचेत हो तिर्यक - योनि आया
विहंग होके पशु भी कहाया
मनुष्य का रूप, न कर्म वैसे
तथापि आगे द्विज भी हुआ था ॥४८॥

सुरेश - सीमा तक उच्च होके
प्रतिक्रिया से गिरने लगा था
चला गया पर्वत रूप होने
मतंग मानो दुख पा रहा था ॥४६॥

चढ़ा, गिरा गर्त, महान ऊँचे
अनंग भी संगति दोष दोषी
यही दशा है सब जीव की भी
अचेत औ चेतन रूप होते ॥५०॥

सकाम होके नर मोह जाता
सदा बसाये मन में नरी को
अनेक जन्मों तक कामिनी हो
कुचक्र घूमें षडवर्ग[1] का है ॥५१॥

अनेक जन्मांकित कर्म जे हैं
बचा हुआ संचित है कहाता
प्रभोग प्रारब्ध विशेष पाता
क्रिया करे सो क्रियमाण होता ॥५२॥

स्वकोष में द्रव्य धरा कमाया
विशेष व्योपार हितार्थ ले जो
लिया, धरा ज्यों करता क्रियार्थी
वही दशा कर्म - त्रिरूप की है ॥५३॥

---

१ [illegible]

स्वकर्म भोगे गत-जन्म ही के
जिसे धरा अग्र मिले वही सो
प्रभाग प्रारब्ध, यही कहाता
स्वकार्य का साधन द्रव्य हो ज्यों ॥५४॥

कृशानु औ काष्ट मिले जहाँ हैं
प्रदीप्त - अंगार बढ़े वहां हैं
प्रभाग लेके क्रियमाण बाढ़े
अरण्य दावा स्फुलिंग१ से है ॥५५॥

नवीन - अंगार घने अनेकों
प्रदीप्त वैश्वानर२ को बढ़ाते
समीप की अग्नि तृणादि नाशे
प्रभाव वैसा क्रियमाण का है ॥५६॥

प्रयोग होता क्रियमाण ही का
स्ववर्ति - प्रारब्ध लकीर खींचे
पिशङ्ग३ पीली धवली हरी हो
स्वतन्त्र है जो रँग खींचता है ॥५७॥

हिमांशु-प्रारब्ध समान मानो
मयूख - माला क्रियमाण जानो
विकाश पाती किरणें मही में
मनुष्य घेरे क्रियमाण ही हैं ॥५८॥

री, २ अग्नि, ३ भूरा रंग।

प्रशाख शाखा गत हो अनेकों
यही दशा है क्रियमाण की भी
सुकर्म औ कर्म विकर्म[1] होते
तरंग - वीची बहु रूप धारे ॥५६॥

प्रधान - प्रारब्ध प्रस्रोत सा है
अजस्र - धारा बहती सदा है
प्रशीत, तप्ताकुल, स्वच्छ, मैली,
नदी मिली ज्यों क्रियमाण आगे ॥६०॥

न रोक धारा क्रियमाण पाता
प्रवेग देता जल – कर्म पीछे
परंतु बालू – कण संग लागे
स्वतन्त्रता है क्रियमाण की यों ॥६१॥

नटी करे नाट्य सुमंच जैसा
स्ववेश भूषा कर ज्यों कथा हो
विचार औ रूप क्रियादि की है
स्वभाग्य आधार सदा बना है ॥६२॥

विनाश प्रारब्ध सदेह होता
बचा बचाया क्रियमाण आगे
स्वकोष में संचित हो मिले जा
गिरे मही लोष्ट[2] अनंत फेंका ॥६३॥

---

१ बुरे कर्म, २ ढीला ।

जहां हुआ जन्म भविष्य में जो
विशेष प्रारब्ध बने वसी से
यही दशा से क्रम – कर्म गूथा
त्रिरूप में बद्ध सभी सयाने ॥६४॥

घटे नहीं संचित कर्म गाढ़े
सदा बढ़े ज्यों बहु जन्म बाढ़े
तृणादि की राशि लगी बड़ी है
तथा हरी - घास उगी बढ़ी है ॥६५॥

प्रवाह बाढ़े सरि, मेघ बर्षे
वही दशा कर्म - त्रिरूप की है
जहां हुआ जन्म उधार लेता
सव्याज जा संचित कोप देता ॥६६॥

करें सभी यत्न विनाश के हैं
विराग औ योग यती सयाने
विरक्त त्यागी तप शील होके
विवेक वादी बन ज्ञान ध्यानी ॥६७॥

करें अनेकों शुचि यत्न नाना
परंतु वे निष्फल ही दिखाते
महानता - पर्वत - कर्म की है
न नाश होता कुछ काटने से ॥६८॥

प्रयत्न ये हैं प्रतिकूल माया
विरुद्धता देख विरोधिनी हो
मनाय ले कंचन कामिनी दे
छले छली छद्म सुरूप धारे ॥६९॥

तथापि है एक सुमार्ग सीधा
मुकुंद की जो शरणागती हो
अजेय - माया कर - जोड़ ठाढ़ी
विकर्म प्रेम - उपेन्द्र नाशे ॥७०॥

चले समानान्तर भक्ति ले के
प्रभाव - प्रारब्ध न पिंड छोड़े
परंतु श्रीनाथ उसे बचाते
सुछत्र से भीग सके न बर्षा ॥७१॥

प्रभाव – प्रारब्ध अवश्य होता
मुकुंद से रक्षित दास - दोषी
घिरी घटा ज्यों झरि लागने को
परंतु बूंदी कुछ ही पड़ी हैं ॥७२॥

जहां किया ध्यान उपेन्द्र का है
तहां न प्रारब्ध बढ़े प्रकाशे
न कर्म - काले क्रियमाण के हों
प्रस्रोत - सूना तव मद धारा ॥७४॥

गुणावली गोविंद गीत गाता
सप्रेम से ध्यान धरे रहे जो
स्वकर्म की राशि विनाश होती
कृशानु से भस्म तृणादि हो ज्यों ॥७५॥

विनाश प्रारब्ध हुआ जहां यों
विकाश पाता हरि की कृपा का
मुकुन्द को आकुल हो पुकारे
कृपालु आके मिलते मनाते ॥७६॥

स्वकर्म का संचित भी विनाशे
परे हुआ तो जग द्वन्द - भाषा
त्रिकालदर्शी हरि दर्शनार्थी
सुमूर्ति - आनद हुआ महात्मा ॥७७॥

पयोधि - संसार सुसेतु होके
अनेक को पार करे प्रबोधी
उपेन्द्र ही के पद ध्यान धारे
स्वकर्म से मुक्ति मिले सभी को ॥७८॥

मालिनी छंद

प्रभु - गुण - गण गाता, जीत ले वैरियों को
षडदल दल के, श्रीनाथ के पाद सेवे
अनुभव – मत मेरा, संत - वाणी सुनाता
"सिरस" निरस को भी भक्ति औ मुक्ति दे दी ॥७६॥

इति श्री रामविलकोत्सव महाकाव्य

इति पञ्चदश सर्ग समाप्तम्

अथ षोडश सर्गः

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का वर्णन

वंशस्थ छंद

मुनीन्द्र श्री नारद मंजु - वाक्य में
क्रिया प्रशंसा सुन कर्म की कथा
"दयालु-जाबालि दया-सुदान दो
त्रिकर्म[1] का वर्णन और भी करो" ॥१॥

"प्रगूढ़ता - कर्म न बुद्धि आ रही
न जान पाया कब कौन दाबते
मनुष्य के बंधन वक्र क्रूर ये
विनष्ट होते कब कौन युक्ति क्या" ॥२॥

ऋषीन्द्र-जाबालि स्वहस्त जोड़ के
कहा "तपोमूर्ति स्वयं मुनीन्द्र हो
दिया मुझे आदर आपने महा
भवान-आज्ञा सब भांति मान्य है" ॥३॥

---

१ संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण,

"तमिस्र-अज्ञान, सुमार्ग शांति का
न देख पाता गिर कर्म - गर्त में
प्रकाशदात्री – सतसंग - दीप्ति से
दिखा दिया शाश्वत-१राह आपने ॥४॥
विवेक बाढ़े, मन – मंद मत्त है
विचार की रोक कुकर्म पै लगे
न वृद्धि होती क्रियमाण कर्म की
अस्रोत-धारा-जल-वेग हो कहां ॥५॥
जहां पड़ा मंद-विलास-लोक का
प्रवेश पाती तब शुद्ध – बुद्धि है
परोपकारी शुचि शीलवान हो
प्रसूनधारी, फल - प्राप्ति, वृक्ष को ॥६॥
चला चले यों क्रम सात्विकी सदा
विनाश हो संचित-कर्म राशि भी
प्रसन्नता लोप विवेक वृद्धि हो
न शीश में भार सुखी श्रमी हुआ ॥७॥

प्रारब्ध

प्रस्रोत था संचित-कर्म-वेग का
प्रभाव – प्रारब्ध हुआ प्रवाह से
सदा चला जो सुकृती सुमार्ग पै
दबाव - प्रारब्ध पड़ा प्रशांति का ॥८॥

---

१ नित्य स्थायी।

कुकर्म - कोरे कच क्रूरता करें
प्रभावकारी जब शक्ति है नहीं
तथा प्रभा–सात्विक–तेज की बढ़ी
यथा अमा, विद्यु-प्रदीप-दीप्तिहो ॥६॥

सुकर्म ने, संचित, अग्र१–कर्म की
प्रवाहिका-शक्ति विशेष रोक दी
प्रभोग - प्रारब्ध घटे स्वयं सदा
यथा भरा नीर तड़ाग शुष्क हो ॥१०॥

प्रस्रोत प्रारब्ध न सचितादि से
न वृद्धि होती क्रियमाण से जहां
स्वयं प्रवाही घन के क्रिया करे
यथा कमाया धन खर्च नित्य हो ॥११॥

कुकर्म उद्भूत२ प्रभाव भाग्य३ से
हुए जहां, सात्विक वृत्ति रोकती
क्रिया सभी निष्फल बीज हीन हो
चना सड़ा तो उगता कभी नहीं ॥१२॥

परन्तु प्रारब्ध प्रकाश रूप से
स्वभाव रूपादि न त्यागता कभी
यथा खड़ा भव्य विशाल वृक्ष है
तथापि है भीतर शून्य खोखला ॥१३॥

---

१ क्रियमाण, २ उत्पन्न, ३ प्रारब्ध ।

कुकर्म - काले जन भाग्य में लिये
परंतु सत्कर्म करे सदैव सो
कुकर्म – उद्‌भूत न भोग दे सके
शिला पड़ा सिन्धु न ताप तप्त हो ॥१४॥

प्रभाव होता सतकर्म का महा
कुकर्म को दाब सुकर्म लें वहां
चले नहीं जोर मलीन हो रहे
यथा चढ़े बाद पदार्थ नष्ट हों ॥१५॥

न देह, प्रारब्ध बिना रहे कभी
शरीर के साथ अभिन्न हो रहे
वही घना कारण जन्म-जीव का
हुआ पताका, तनु-खम्भ सङ्ग में ॥१६॥

सदैव प्रारब्ध विराग से दबे
न भोग-विस्तार बढ़े कदापि भी
कृपा हुई जो करुणेश की जहां
विशुद्ध होता, जल शारदी यथा ॥१७॥

प्रभोग-प्रारब्ध विचित्र हो जभी
कृपा, कृपानाथ करें स्वभक्त पै
अनेक वर्षों तक जो मिटे नहीं
विनाश होता दुख अल्पकाल में ॥१८॥

न लिप्त होता निज भाग्य भोग्य के
सदा सप्रारब्ध स्वभक्त रखते
सरज्जु लोटा जल, कूप डूबता
सनीर आता खिच ऊर्ध्व ओर को ॥१९॥

कृपा हुई जो मन पै कृपालु की
प्रचण्ड-प्रारब्ध न धार में बहे
प्रतीर तेरे बल-वेग - मन्द हो
लगे किनारे - हरि -प्राप्ति अन्त में ॥२०॥

सध्यान कोई जप - नाम का करे
प्रवेग - धारा-हरि नाम की बहे
स्वभाग्य1 धारा मिल मंद हो तहां
सदैव प्रारब्ध – दया रहे वहां ॥२१॥

प्रवाह- प्रारब्ध, सुनाम, धार दो
मिलीं बहे रङ्ग विभिन्न रूप में
परन्तु होता बल-वेग नाम का
इसीलिये हो गुण गौण-भाग्य का ॥२२॥

पयोधि-प्रारब्ध पड़ा सुभक्त है
कृपा-तरङ्गावलि साथ में बहा
गया जहां है तट-सौख्य शांति का
अमोघ आनन्द प्रसाद प्राप्त हो ॥२३॥

---

1 प्रारब्ध

संचित

किये-गये कर्म शरीर - एक से
न भोग सक्ता इक जन्म में कभी
जमा हुआ कर्म न भोग पा सका
कहा गया संचित-नाम से वही ॥२४॥
बढ़ा करे सञ्चित राशि अद्रि सी
बची हुई जन्म अनेक से वहां
सदा बढ़े सो क्रियमाण - कर्म से
यथा नदी ; सागर नीर सौंपती ॥२५॥
यथा बचा भाग अनल्प, अल्प हो
तथा हुई आयु - मनुष्य-जन्म की
कड़ी बँधी जन्म अनेक शृंखला
बनी हुई संचित - राशि है महा ॥२६॥
बुरे भले मिश्रित - कर्म जो किये
बना वही पिण्ड भविष्य-जन्म का
विभक्त१ - प्रारब्ध वही कहा गया
अभिन्न हों संचित - राशि से सदा ॥२७॥

पदार्थ जैसे बहु, पात्र में धरे
निकालते ऊपर से सदा उन्हे
विपाक भोगे नव - पूर्व-जन्म का
धरा रहे संचित आद्य काल का ॥२६॥

स्वभाव, औ आकृति, जाति, वंश भी
पिता ,तथा मातृ सहोदरा सगी
पुरा, पुरी, ग्राम, कुदेश जन्म हो
मिले उसे पूर्व - विपाक रूप में ॥३०॥

हरे भरे हैं क्रियमाण .से मिले
अतीत१ - आनद विषाद वासना
सड़े गले सचित - कर्म हैं नहीं
अनेक वर्षों सरसों नवीन ज्यों ॥३१॥

-प्रभाव होता इक जन्म का महा
अनेक जन्मों तक को विपाक दे
स्वभाव शोभा, सब रूप की वही
रहे यथा प्रावृट - नीर,२ ग्रीष्म में ॥३२॥

जहाँ कृपा की हरि ने स्वभक्त पै
विनाश होते चिर - कर्म आदि के
तले फटा तो घट निम्न३ से बहे
न स्वल्प भी नीर अमत्र४ में रहे ॥३३॥

---

१ पुराना, २ बरसात का पानी, ३ नीचे, ४ पात्र-बर्तन ।

क्रियमाण

जमा कहां हो क्रियमाण-कर्म जा
समग्र फूटा घट-संचितादि का
प्रसंग प्रारब्ध विपाक - भोग हो
हिमंत में ज्यों घन-वारि वृष्टि हो ॥३४॥

प्रवद्ध है चित्त स्वकर्म - भोग से
तथापि स्वातन्त्र्य न जीव नाश हो
परंतु द्वंदी - मन खींचता उसे
पदार्थ आकर्षित भूमि ओर को ॥३५॥

रहे समानान्तर शुद्ध वृत्ति भी
तथापि प्रारब्ध प्रभाव - भोग हो
बुरे भले यों क्रियमाण - कर्म से
महान संघर्ष हुआ करे सदा ॥३६॥

प्रभाव - माया वश बद्ध-चित्त है
प्रवासना इन्द्रिय - भोग की हुई
न सूझ पाता वश काम, कौन है
सुखार्थ दोषानल - दुःख में जले ॥३७॥

स्वात्म-अभ्यास, विचार शून्य हो
बढ़ा चले 'कानन - कामना दिशा
प्रमोद पाता क्रियमाण कर्म से
न जानता ये दुख दें भविष्य में ॥३८॥

परंतु होता जब स्वस्थ - चित्त है
विवेक विज्ञान हुआ सुबुद्धि से
विचार वीची वढ़ अग्र हो जहां
स्वदोष - प्रारब्ध – प्रकाश में हुए ॥३९॥

लिया सहारा यदि दीनबन्धु का
कृपा - प्रभा से मन पै प्रकाश हो
परंतु प्रारब्ध न न्यूनता करे
तमिस्र घेरे निशि को सदा रहे ॥४०॥

प्रभाव - प्रारब्ध नवीन - कर्म में
सदा रहे चित्त उदास - भाव हो
सविघ्न हो मंद – प्रवृत्ति भोग में
हुई कृपा जो हरि की स्वभक्त पै ॥४१॥

क्रमोन्नती हो प्रभु - प्रेम की जहां
अमंद प्रारब्ध समंद हो तहां
स्वचित्त भोगे सुख भोग की कथा
न कर्म हो पूर्ण सॅयोग का कभी ॥४२॥

तथापि प्रारब्ध कुकर्म क्रूर हों
उदीर्ण है चित्त अधीन कामना
कृपा निवाहे उपभोग से उसे
कदापि उत्पन्न न कर्म भोग हो ॥४३॥

क्रियमाण

जमा कहां हों क्रियमाण-कर्म जा
समग्र फूटा घट-संचितादि का
प्रसंग प्रारब्ध विपाक - भोग हो
हिमंत में ज्यों घन-वारि वृष्टि हो ॥३४॥

प्रबद्ध है चित्त स्वकर्म - भोग से
तथापि स्वातन्त्र्य न जीव नाश हो
परंतु द्वंद्वी - मन खींचता उसे
पदार्थ आत्मर्पित भूमि ओर को
रहे समानान्तर शुद्ध वृत्ति भी
तथापि प्रारब्ध प्रभाव - भोग े
धुरे भले यों क्रियमाण - कर्म

कठोर - प्रारब्ध, द्रवाम्बु सा गले
रमेश-आदित्य - असह्य - ताप से
महा प्रमादी, तब शांत - रूप हो
निरोगता औषधि से मिले यथा ॥४४॥

प्रभाव होता न सुचित्त पै कभी
त्रिकर्म का नाश रमेश ने किया
विवेक विज्ञान सुधर्म धीरता
प्रगाढ़ आती प्रयकाल देखता ॥४५॥

अजस्र आनंद अमोघ - नाम से
मिले उसे अन्त वृत्ति - सात्वकी
भविष्य-दर्शी पर—दु:ख नाशता
परोपकारी प्रभु - सृष्टि तुष्टि हो ॥४६।

करे सभी कार्य, न लिप्त हो कभी
न स्वार्थ - लासा मन इन्द्रियां लगे
परार्थ - सेवी निज कर्म नाशता
सकाश1 भट्टी महि ताप तप्त हो ॥४७॥

रमेश का हो अनुराग प्रेम से
तभी सुखाते त्रयरूप कर्म जे
त्रिताप को दूर भगा प्रशांत हो
मयूख - माला रवि की प्रकाश दें ॥४८॥

1 निकट ।

लिया सहारा हरि का न जो कहीं
कुकर्म - माला क्रियमाण से बढ़े
हुआ करे संचित में जमा सदा
गिरे तभी तिर्यक योनि जीव सो ॥४९॥

विशुद्ध कैसे क्रियमाण कर्म हों
अशक्त - माया मन मंद मत्त हैं
दबी हुई बुद्धि प्रभाविता महा
घटा घिरी घोर हिमांशु मूंद ले ॥५०॥

बड़ी प्रशंसा मुनि की सभा हुई
त्रिकर्म का वर्णन दृष्टि खोल दी
अजेय हैं कर्म, परतु भक्ति से
विनष्ट होते तृण अग्नि में यथा ॥५१॥

मालिनी छंद

सकल नर नरी जावालि को शीश नावें
मुनि पति मति ने संदेह सारा बहाया
सुगम - पथ मिला है भक्ति का भाग्य ही से
अब प्रभु-गुण गाके दास श्रीनाथ होंगे ॥५२॥

इति श्रीराम तिलकोत्सव महाकाव्य
षोडश सर्ग समाप्तम्

अथ सप्तदश सर्गः

जनकपुर से विदा

द्रुत बिलंबित छंद

जनक जाकर के सबके यहां
स्वकर जोड़ कहा विनयी बने
शरद शोभित खंजन से यथा
मम पवित्र हुई नगरी तथा ॥१॥

प्रभु कृपालु कृपाकर आ गये
मम मनोरथ सिद्ध हुए सभी
दिवस थे जग जीवन भाग्य के
चमकते चिर काल रहें सदा ॥२॥

मुनि मुनीन्द्र मनोरथ शून्य जे
वर विवेक विचार विलग्न[१] हैं
शुचि समाधि लगी दिन रात्रि की
जगत जाल परे, परमें प्रभो ॥३॥

---

१ अच्छी तरह लगे हुये।

नगर त्याग बसे वन - शून्य में
समुद साधन की शुचि सिद्धि हो
कर तपस्थल त्याग विराजते
दुख सहें जन ज्यों उपकार में ॥४॥

प्रिय नरेश विशेष कृपा हुई
स्वजन जान दिया सुख आपने
सुखद दर्शन दे अपना लिया
सर सुखी सलिलागम से हुआ ॥५॥

बहुत कष्ट सहे तुमने यहां
पर कहा न कभी सहते रहे
सुमति संयम शील बड़े अहो
दुख कुलीन सहें कुल रच्चहीं ॥६॥

यदि कृपा करते नृप यों नहीं
यह समाज कहां दिखता यहां
सबलता मुझ में तुमसे हुई
कण मिला जब राशि, बड़ा हुआ ॥७॥

स्वजन जो अपना जन मान लें
वह प्रतिष्ठित हो जग में बड़ा
पर, सनेह नहीं जब बंधु में
लस न है सिकता सर के सदा ॥८॥

अति कृपा करके कवि - वृन्द ने
सुखद भाषण भाव भरे किये
मधुर शब्द सुबुद्धि सधी हुई
निकलती मुख से बचनावली ॥९॥

विविध योग्य-गुणी गुणको दिखा
अति प्रसन्न किया सबको सभा
तुम कलाविद कौशिल हो कला
सघनता घन की जल दान दे ॥१०॥

इस प्रकार प्रमोद प्रकाशते
सुन सभी सुख आनँद मग्न हों
बहुत काल व्यतीत हुआ वहां
पर सनेह न न्यून दिखा कहीं ॥११॥

विविध भांति सभी बहु - भेंट दी
परम प्रेम उठा, दृग छागदा
मिलन मित्र महा मुद मान्य है
पर वियोग दुखी कम क्या करे ॥१२॥

बहुत द्रव्य दिया कवि - वृन्द को
धन गुणी गण ले गमने सभी
बहु सवत्स सुधेनु मुनीन्द्र दे
चरण शीश धरा मिथिलेश ने ॥१३॥

इस प्रकार विदा सब को किया
सकुचते तब राम झुके कहा
अब विदा मुझ को कर दीजिये
बहुत काल हुआ, जननी दुखी ॥१४॥

प्रिय उदार दिया सुख जो मुझे
कह सकें न गणेश न शारदा
मधुप गुञ्जत कंज समीप में
कमल का कुल शोभित हो रहे ॥१५॥

विरत – बुद्धि–विवेक– विशुद्ध है
परम-तत्त्व विचार किया करूं
फल मिला उसका मुझ को महा
परम-भक्ति प्रदानित की मुझे ॥१६।

•विटप सिंचित हो फल फूल दें
सर भरे जल से बरसात में
सुमति साधन ज्ञान दिया मुझे
तुम मिले, फल ब्रह्म विचार का ॥१७॥

नर-नरी मिथिलापुर हो दुखी
कह रहीं जग - जीवन जानकी
अहह राम सिया जब हों विदा
हृदय क्योंकर शान्त रहे सखी ॥१८॥

नृप निकेत गईं सब नारियां
सब प्रबन्ध बिदा सिय का करें
वरमिला श्रुति - कीर्ति सुमांडवी
मिल रही सखियाँ दग अश्रु ले ॥१९॥

दुख दबी दुहिता सब रो रहीं
जननि-अङ्क भरे ममता मढ़ीं
अब कहाँ मम अंब मिले मुझे
सहज प्रीत प्रतीत प्रसाधिका[१] ॥२०॥

ठुनक के किस से अब मैं कहूं
परम है अवलम्ब सुआम्ब तू
जननि आकृति प्राकृति हो सुता
विलग हूं तुझ से कब मातु मैं ॥२१॥

जननि जीवन सन्तति सम्पदा
सह सकीं न वियोग व्यथा भरी
नयन अश्रु भरे सब रो रहीं
सुख-समाज चला मम धाम से ॥२२॥

विधि विधान विचित्र रचे गये
प्रिय-सुता बसती पर-धाम जा
जन-सगा, न लगा सङ्ग में रहे
दुख दवाग्नि जले जननी सदा ॥२३॥

१—सजानेहारी।

मिल सखीं सब भेंट प्रभेंटतीं
करुण - क्रन्दन रोदन हो रहा
विकल अङ्ग न वस्त्र संभालती
अहह दैव सुता कर क्यों बिदा ॥२४॥

जनक को पकड़े सिय रो रही
अब पिता कब दर्शन हों मुझे
तन सँभाल सकी नहिं जानकी
दुख महा मिथिलेश हुआ तभी ॥२५॥

मिल चलीं सबसे रनिवास में
रथ सजे सब द्वार खड़े हुए
उरमिला श्रुतिकीर्ति सुमांडवी
चढ़ चलीं सिय सङ्ग दुखी बड़ी ॥२६॥

भरत लक्ष्मण औ लघु भ्रात जे
कर प्रणाम चले तब राम भी
मुनि वशिष्ठ मिले मिथिलेश आ
विनय भूप किया बहु भांति से ॥२७॥

जनक योग्य बड़े सब भाँति से
विनय-शील प्रबन्धक हो महा
उदधि हो नद-नागर आ मिले
सुख दिया तुमने सब को- बड़ा ॥२८॥

मुनि मुनीन्द्र महा तपसी बड़े
सब इकत्र हुए मिथिलापुरी
ऋतु वसन्त प्रहर्षित कोकिला
सुख दिया तुमने सब को यथा ॥७६॥

सगुण - ब्रह्म - सगे बन प्रेम से
नमत हैं तुमको जगदीश आ
अति महान हुए त्रयलोक में
शिखर-अद्रि-हिमालय - उच्च ज्यों ॥३०॥

सफल जन्म हुआ जग में महा
स्वशुर, हो तुम राम रमेश के
अमर कीर्ति - कथा जगती रहे
ध्वज दिखे सब को जय उच्च हैं ॥३१॥

बहुत दूर चले तुम आ गये
अब बढ़ो न विदेह, विलम्ब हो
तब नरेश प्रणाम वशिष्ट को
कर चले मिथिलापुर हो दुखी ॥३२॥

सुपथ - साधन थे सब मार्ग में
पथ - प्रदर्शक पाथस[1] भी लिये
सब खड़े विनयी बन पूछते
कुछ कृपा कर भोजन कीजिये ॥३३॥

१—यात्रा का भोजन

सब विदेह प्रबन्ध सराहते
वह रहे मिथिलेश महान हैं
सुहृदता, मृदुता, सुउदारता
उदधि - सी उनमें लहरा रही ॥३४॥

ग्रीष्म ऋतु

सब कहें अब ग्रीषम आ गया
पथिक को पथ पाथ मिले नहीं
तपन१ – ताप - प्रचंड तपा रही
दिवस दानव-सा अति क्रूर है ॥३५॥
बदलता चलता रवि रूप है
मृदुल प्रात प्रपात२ प्रभाव से
अति प्रचण्ड बवंड बढ़े दिवा
न गरमी पड़ न्यून दिनांत में ॥३६॥
अति प्रकम्पन३ कंपन धूलिका
चल रहा उमड़ा महि व्योम में
अहन४ में गरमी, नरमी नहीं
रवि प्रभंजन५ भंजन गर्व का ॥३७॥
गगन को रव गौरव वायु दे
द्विज पड़े मुड़ना, उड़ना सकें
धवल - धूल न कूल धराधरी
उड़ रही, विरही इव कामिनी ॥३८॥

---

१ सूर्य, २ झरना, ३ पवन (आंधी), ४ दिन, ५ वायु ।

तरु-तमाल न ताल न शाल भी
वट रसाल - विशाल पलास जे
स्व अभिमान सयान कहाँ रखें
नृप - प्रभंजन रंजन लीन हैं ॥३९॥

पथिक का पथ जो रथ हीन है
अनल - सा जलता खलता बड़ा
तपन - ताप - प्रताप दिखा रहा
निबल पै बलवान प्रधान है ॥४०॥

सलिल रूप अनूप तुषार था
घर सभी अधरामृत सा पियें
तुहिनता तमता चमता बढ़ी
कु-नृप पास सुपास विमूढ़ को ॥४१॥

अब प्रभंजन रंजन अग्नि का
कर रहा न रहा गति मन्द में
तृण निकेत सचेत जला रहा
पवन ने यह ग्राम किया चिता ॥४२॥

उमस है दुख श्वास प्रश्वास में
पवन पावन धावन क्यों नहीं
सुजन का जन खोज न पावहीं
समय मन्द मिले दुख सन्त से ॥४३॥

मशक - दंश - नृशंस१· सतावहीं
विप भरे उभरे बहु - सर्प हैं
चला पड़ीं अब वृश्चिक२ कष्टदा
अबुधता बढ़ती, विधि जो नहीं ॥४४॥

सभुज भेंट न दम्पति भी करें
कह रहे गरमी बहु लागती
विलग है वनिता पति से पड़ी
दुख-दशा वश चेतानता नहीं ॥४५॥

पर जहां दुख है सुख भी मिले
सघन वीरण४ की सज टट्टियां
लग रहीं गृह द्वार दिनादि में
महँक मन्दिर मोद प्रदायिनी ॥४६॥

टपकता जल है छिड़काव से
सतत शीतलता सुख - दायिनी
शुचि सुगन्ध सदागति ले बहे
मन प्रसन्न उशीर६· कुटीर में ॥४७॥

व्यजन७ वायु-प्रवाह-प्रवीण है
तपसन८का सुख भी तप९ दे रहा
दुख-दशा-गत में सुख आ मिले
मरु जलाशय ज्यों मिलते कहीं ॥४८॥

---

१ क्रूर परद्रोही, २ विच्छू, ३ मूर्खता, ४ खस, ५ पवन, ६ खस
७ पंखा, ८ शिशिर, ९ जेठ।

निशि निशात समीर समंद हो
वह रही यह पुष्प सुगंध ले
सुखद - नींद सभी जन सो रहे
सुख , मिले कब चेतनता रहे ॥४९॥

जल - प्रयोग बढ़ा ऋतु–ग्रीष्म में
सलिल – शीतल की बहु चाह है
सुघर - पात्र बने मृदु–मृत्तिका
विपति–तोप मिले जल-तुच्छ से ॥५०॥

सुमन मालति औ नव - मल्लिका
बहु गुलाब - कली अलि-वृन्द से
घिर रहीं मकरन्द प्रयास में
युवक औ युवती मिलतीं यथा ॥५१॥

अवध ओर चले जन जा रहे
जनक के गुण गान सभी करें
यदि उदार सुशील मनुष्य है
सतत कीर्ति – लता तिनकी बढ़े ॥५२॥

सुपथ पे रथ थे चलते त्वरा
पवन – उष्ण न अन्तर जा सके
बहु-तुषार१ धरे २जमीर तले
श्वसन३ शीत निवेश४ करे वहां ॥५३॥

---

१ बर्फ, २ रथ गाड़ी, ३ वायु, ४ घुसना ।

सतत शीतल अन्तर सो रखे
शिशिर सा रथ भीतर शीत है
रवि परंतु तपे अति उष्ण हो
दमन-इन्द्रिय से मन शांत ज्यों ॥५४।

तुरँग ऊपर छत्र लगे हुए
सरस - टट्टि - उशीर सुपार्श्व में
विशद – कांच लगे शुचि श्रम हैं
पशु बचें पथ - प्राकृत - उष्णता ॥५५॥

सुर-नदी, नद-शोण प्रतीर में
निशि निवास किया नृप राम ने
उठ प्रभात चले सिय से कहें
मगध - देश इसे कहते सभी ॥५६॥

बहु रसाल लगे वन वाटिका
मधुर स्वाद अनेक प्रकार के
मिल रहे फल दाम बिना दिये
जन-उदार – दयालु – बड़े दिखें ॥५७॥

नर नरी सब शांत सुभाव के
सत-व्रती शुचि सत्य सुशील हैं
कर रहे हरि - कीर्तन नित्य ये
प्रभु भजे दुख हो सकता कहां ? ॥५८॥

अवध का अब अंचल आ रहा
सरित आ सरयू पहले मिली
पर चली यह पूरब जा रही
जग मिलें जन औ चलते बने ॥५९॥

नगर ग्राम नदी कर पार के
निकट औधपुरी पहुचे तभी
सदन सौध विशाल दिखे कहीं
लखत लक्षण साधक, सिद्धि के ॥६०॥

पुर प्रवेश किया जब राम ने
समुद सादर स्वागत था हुआ
तृषित को जल द्रव्य दरिद्र,को
कमल को रवि से सुख ज्यों मिला ॥६१॥

परम हर्षित हैं जननी सभी
सुत समेत बधू सब आ गईं
विविध वाद्य बजें बहु दान दें
अति प्रसन्न प्रजा रघुनाथ से ॥६२॥

मालिनी छन्द

मुदित सविधि दें दानादि रानी द्विजों को
नियम व्रत सभी पूरे हुए पुत्र देखे
जगमग नगरी होली जलें दीप नाना
सकल नगर – वासी राम के गीत गाते ॥६३॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
सप्तदश सर्ग समाप्तम्

अथ अष्टदस सर्गः

द्रुतविलंबित छंद

पावस वर्णन

ऋतु - प्रमोदित - पावस आगया
घन घिरे नभ में भ्रमते रहें
पवन - शीतल भी चलने लगा
सुखद – धावन ये बरसात के ॥१॥

भरत लक्ष्मण औ लघु भ्रात के
सदन सुन्दर थे बहु हेम के
निवसते ऋतु के अनुसार थे
प्रमुद--पावस का गृह उच्च था ॥२॥

निज प्रिया सँग में सब झूलते
मुदित गावत गीत मलार थे
अवधनाथ लिये सिय संग में
निरखते सरयू जल वेग को ॥३॥

जल गिरा नभ से इक बूंद में
महि मिला बहु बुंद इकत्र हो
सबलना उनमें तब त आगई
निबल, संघ मिले बलवान हो ॥४॥

वह निजत्व भुलाकर, अर्थ को
सतत साधन ही करता रहा
रज न राख सकी उसको कहीं
सबल सन्मुख कौन प्रचारता ॥५॥

सपदि सागर से जल जा मिला
बिछुड़ के नभ जो फिरता रहा
फिर मही सिकता रज रोंकती
पर बहा उसको सँग में लिये ॥६॥

दृढ़ - विचार धरे नर जो रहे
सफल विघ्न न ध्यान करें कभी
नवल - युक्ति प्रयुक्ति निकालता
सतत साधत है निज साधना ॥७॥

मकर का मुख ऊपर नीर के
लख पड़ा फिर जा जल में गया
विषयमस्त - मनुष्य सुसंग में
सुजन हो पलमात्र लिये कभी ॥८॥

प्रिय लखो यह कच्छप जा रहा
मुदित धार घरे बहता चले
प्रबलता जल हानि करें नहीं
जब हुआ अनकूल, न वैर हो ॥९॥
घन घटा घिरके हटती कभी
फिर घिरे बरसे गरजे महा
कुशल—कमठ मौन दुकाल हों
लख सुकाल अड़ें निज कार्य में ॥१०॥
परिधि१-पावस की महि व्योम में
बढ रहीं बहु वारिद-वारि से
प्रकृति चोल२ निचोल३ निचोरती
बरसती बरसात बनान्त में ॥११॥
घन-घटा घिरती नभ नीरदा
सघन – श्यामलता बहु छारही
मुदिर४ मेदुरता५ बढ़ मेदिनी
सुख - पड़ोस परोस पड़ोसिनी ॥१२॥
वियत६ वारिद व्यूह बना रहे
विविध रूप अनूप धरे फिरें
गमन - गौरवता इनमें नही
थिर न हों उपकार प्रवीण हैं ॥१३॥

---

१ दायरा, चारों ओर और पास, २ स्त्रियों का पाव तक का वस्त्र, ३ चादर दुपट्टा, ४ मेघ, ५ चिकनापन, ६ आकाश ।

गिरि-शिला-शिखरोच्च-शिरोधरा[१]
करि, कगार, अगार बने फिरें
बदलते चलते निज रूप हैं
समय के अनुसार सुवेश हो ॥१४॥

मठ रही मॅडरा घन—मंडली
सकुचती इक बूंद प्रदान में
अहह चौर न दीन दिया कभी
सुख समीप लिये ललचा रहे ॥१५॥

सित-स्वरूप रहा अवग्राह[२] का
गगन—श्यामलता उसने लिया
बन गया अबतो घनश्याम है
निकट-नाक हुए जन रूप सो ॥१६॥

दब गया नभ रूप प्रकाश में
सतत वृन्द-बलाहक को बुला
रवि हिमांशु पराजित हो गये
झलकती दिव-श्यामलता महा ॥१७॥

सित, घनाघन[३], ऊपरनील-द्यो[४]
उदधि के तट ज्यों सिकता पड़ी
सुदिर-स्वल्प, विहायस[५] बीच में
घिर रहा इक द्वीप पयोधि में ॥१८॥

---

१ ग्रीवा गरदन, २ सूखा मेघ, ३ बरसनेवाला बादल, ४ नीला आकाश, ५ आकाश।

मुदिर क्या वन सेवक वायु का
भटकता फिरता नभ - देश में
कि उस पै चढ़ व्योम विहार हो
मत न दे, पद–उच्च मिला जहां ॥१९॥
पवन प्रेरित तू नभ नाचता
इधर जाकर औ फिर आ गया
ठहर क्या सकता उसको दिखे
समय-ज्यों नर भ्रामक भागता ॥२०॥
अनिल घात विघात करे जहां
सपदिही चुप तू घन भागता
मुख नहीं करता उस ओर को
निबल भाग बचे बलवान से ॥२१॥
घन - स्वरूप रुई रँग रूप का
सबल हो वध हार उसे दिया
उदधि पर्वत सा बनता फिरा
असल हो सक क्या नकली क्रिया ॥२२॥

- मेघोत्तर

पवन तो मम सेवक हो चले
प्रकृत - शीतलता मम ले फिरे
अनुगही[१] चलते पथ श्रम हैं
लहर वेग समीर प्रवाह से ॥२३॥

---

१ नौकर ।

पवन पृष्ठ चढ़ा नभ घूमता
अनुग हो पथ दर्शक है बना
गरजता जब मैं वह मद हो
सबल क्रोध किये भय भूरि हो ॥२४॥
अनिल तो मम वाहन व्योम का
बरसने चलता जब वेग से
तब कहूँ उससे गति-तीव्र हो
समर में कब सूर हटें भला ॥२५॥
जगत-भार भरा कब उच्च हो
इसलिये हलके हम हो गये
घन जयाजय से अब हैं परे
मित्र अनंत हुआ जग अंत है ॥२६।

चातकोद्गार

विनय चातक वारिद से करे
मुदिर, सीकर-बूंद प्रदान हो
सलिल शील, सुखी कर दान से
जगत में उपकार प्रधान है ॥२७॥
उदधि से उठ वाष्प बना हुआ
पवन पायक पा फिरता रहा
प्रजन[१]-पावस ने घन रूप दे
कर दिया तुमको सबसे बड़ा ॥२८॥

---

१ उत्पत्तिकाल।

जब हुए तुम नीरद - नील से
जलद हो घनश्याम कहे गये
बरसने वर वारिद भी लगे
घन मिले उपकार करें सुधी ॥२६॥

सरित औ सर सिन्धु सभी भरा
धरणि पादप सान्द्र सुखी किया
मरु - मही जल-सीकर से हरी
जगत – यज्ञ किया घन, नीर से ॥३०॥

सतत हूं रटता इक बुंद को
पर दिया तुमने न उसे कभी
उपल फेंक दिया मम चोंच पै
सुख कहाँ सबको इक दे सके ॥३१॥

जल झरी घन घोर लगा रहा
निशि दिवा बरसे निकसे नहीं
सलिल - बूंद बचा सुख चोंच पै
बरसता करता नट की कला ॥३२॥

मत मदांध बनो घन, सोच लो
नभ प्रकाश न आज दिखे कहीं
शरद में कब मेघ - घटा घिरे
समय एक समान रहे नहीं ॥३३॥

गरजता सुन दीन पुकार को
तड़पता तड़िता तब ताड़ दे
निवल पै वल क्या दिखला रहा
सवल, सम्मुख काल वली कहाँ ॥३४॥
पर न गर्व करे, फल कर्म का
मिल गया रवि को, तुझको मिले
सुपथ से भटका, पटका गया
विधि विधान अमोघ प्रसिद्ध है ॥३५॥

मेघोत्तर

विटप - बैठक पै तुम बैठके
चतुर - चातक चोंच चला रहे
रट रहे प्रिय - प्रीतम नाम को
सुन सबे बरसूं जल जोर में ॥३६॥
सरित औ सर आदि सभी भरे
पिहित[१] - पल्लव–पादप सार्द्र[२] थे
टपकता जल शाख प्रशाख था
वश अभाग्य न चातक पा सका ॥३७॥
सलिल – सीकर बूंद बड़े कभी
बरसता वश चातक प्रेम से,
पर कहा 'रटना' तुम भूलते
दृढ़ हुई मति मन्त्र न त्यागती ॥३८॥

---

१ छिपा हुआ, २ गीला ।

सलिल की कब प्यास रही तुम्हें
सकल आशुग१-मंडल शीत था
विरहिणी-वनिता वर दूत हो
प्रिय पुकार करो दिन रात्रि में ॥३६॥

बरसता जब मैं जल हूँ नहीं
तब उठा निज चातक चोंच को
टक लगा लखता नभ ओर को
झरि लगी तब शीश झुका लिया ॥४०॥

समझ लो प्रिय क्या मम दोष है
ऋतु-प्रभाव समीर समेत हूं
जिधर का रुख हो उस ओर जा
गगन घेर रहूँ बरसूं नहीं ॥४१॥

तृषित-दृष्टि किसान मुझे दिखें
पवन-प्रेरक-पावस ले चले
करुण-कारण अश्रु गिरा भगूं
पर-अधीन सदा जन दीन है ॥४ ॥

तपन ऊपर से तपता रहे
पवन, पावस-पायक आ कहे
"भग चलो जल को बरसो नहीं"
अहह आयत२—अन्य सनिन्द्य है ॥४३॥

---

१ वायु, २ अधीनता।

हरित - पत्र – तले तरु बैठ के
मुदित गान करे गुण प्रीत के
सुन सुती हँसती लख कन्त को
विन प्रयोजन चातक चीखता ॥४४॥
तुम 'कहाँ पय-पी, पय पी कहाँ
गरजते कहते हम हैं यहाँ
प्रिय पयोधर दें पय आप को
पर न लो तुम, तो मम दोष क्या ॥४५॥

तड़ितादि वर्णन

तड़ित ताड़नता सुन मेघ आ
गरजता वरसे बहु जोर से
प्रबल - योपित१ जोर करें जहां
पुरुष हो ललना वश नाचता ॥४६॥
क्षणप्रभा - प्रभवा प्रकटी प्रभा
घन - घने घिरके नभ गर्जते
मुदिर मन्द न, माननि मान दे
चमकती चपला छिप अभ्र में ॥४७॥
सतत शीतल - वारिद - अङ्क में
शतहृदा लग शीतल क्यों नहीं
सुजन दुर्जन सङ्ग रहें कहीं
निज प्रभाव विभिन्न रखें सदा ॥४८॥

---

१ स्त्री।

चमकती चुप हो कब चंचला
चपल है चपला मिलती मही
अवनि को घन स्नान करा रहे
हँसमुखी हँसती अङ्ग खोल दे ॥४९॥

सघन-मेघ घिरें बरसें निशा
बहु तमिस्र तना महि व्योम में
चमकती पथ दीप दिखावती
पथिक की बनती पथ-दर्शिका ॥५०॥

तड़ित दे शुचि सीख सती-सखी
"पृथक हो यदि प्रीतम पास से
तन छुवे जन - अन्य हनो उसे
फिर मिलो पति, ज्यों घन मैं मिली"॥५१॥

जलद - बूंद गिरें नभ से मही
रज तथा सिकता बहु सोख ले
उपल पै न रुके गिरते बहे
जगत समहृ त्याग करे यथा ॥५२॥

रज रखे जल को जब दाबके
निकल नीर बहा सग ले उसे
पर - पदार्थ पचा किसने लिया
झपट के झट दे निज वस्तु भी ॥५३॥

महि महा तप तप्त हुई जभी
घन कहीं बरसे नभ दौड़ के
वह कहीं रुक के झरि ला रहा
सदयता उपकार प्रसारिणी ५४॥

बह चला जल जोर वसुन्धरा
सर भरे बहते सरि ओर को
नद नदी उमड़ी घुमड़ी फिरें
सुख समीर हुए दुख दूर हो ॥५५॥

प्रबल वेग प्रवाह बढ़ा नदी
तर सके तरणी सरि को नहीं
भँवर भ्रामक हो भ्रमते रहें
हृद गँभीर न थाह मिले कभी ॥५६॥

सर भरे उभरे जल रोंकता
इसलिये ऋतु-ग्रीषम शुष्क हो
सरित दे जल नित्य प्रवाह से
विशद-नीर नदी रहता सदा ॥५७॥

सरित, पावस में फल-फूल को
रख सँभाल सकी न प्रमाद से
बढ़ चली न रुकी जल बाढ़ में
मनचली-युवती कुल बोरती ॥५८॥

पृषत१- वृन्द बलाहक२ वर्षते
-धन उदार प्रदान करें यथा
हरित - भूमि भरी तृण धान्य से
सुख, स्वराज्य मिले, मित्रता महा ॥५९॥
३कलुष- नीर हुआ रज - रङ्ग में
अहह, आज न अम्बु सुस्वच्छ है
पड़ कुसङ्ग रहे जन शुद्ध क्यों
क्य न काम जगे संग कामिनी ॥६०॥
सरि रही उथली, अब निम्न४ है
लग रहा तल बांस न चप्पड़ो५
जल - अगाध बहे अति वेग से
सधन होकर भिक्षुक, भूप हो ॥६१॥
शिशुक६ औ शफरी७ नलद८-मीन जे
९सकुल १०रोहित ११शाल १२समुद्गरा,
कमठ केकड़ गोह प्रमोद में
विहरते जल में डुबकी लगा ॥६२॥
मकर नाक न ताक लगा सकें
प्रबल - धार पड़े रुकते नहीं
बह चलें मचलें मन मौज में
सुखद-पावन है जल - जन्तु को ॥६३॥

---

१ जलबुन्द, २ मेघ, ३ गँदला, मैला, ४ गहिरी, ५ डाड़, नौका दण्ड, ६ सुईस, ७ सहरी, ८ झिंगा, ९ सौरा, १० रोहू, ११ भौरी, १२ मँगरा।

मुदित भेक भिक्री बहु बोलतीं
सुख सने न सुने दुख अन्य का
निशि न झींगुर स्वास रुके कभी
प्रबल हो जन नीच कुराज्य में ॥६४॥

वन मयूर विलोकत मेघ को
मुदिर मेदुर श्याम समीप में
कुहुकते कथते मन–कामना
मुदित हो लख सौख्य स्वरूपको ॥६५॥

गिर रहा गिरि से जल, गर्त में
सलिल - निर्गम१ सीकर सा उठे
रव अजस्र२ रहे वन गूंजता
प्रयत३-कर्म किये यश कीर्ति हो ॥६६॥

कथ कदम्ब कथा कवि क्या सके
सुमन सौरभ पूर्ण बड़े लिये
प्रमुख पावस को मुद भेंटता
प्रिय बने जब साथ सदैव दे ॥६७॥

सघन - पत्र - रता कुल - कंटकी
महँक मूल्य अमूल्य बता रही
सुमन - श्वेत सुगन्ध सने हुए
सुयश कारण पावस केतकी ॥६८॥

---

१ फव्वारा, २ निरन्तर, ३ पवित्र ।

फल फले बहु आम्र पियूप में
सरसता बढ़ती जल - बिन्दु ले
विविध-स्वाद सुगन्ध सने हुए
तरु रसाल लदे वन बाग में ॥६९॥

गगन श्याम घटा घन की घिरी
उड़ रही बहु श्वेत बकावली
समर में ध्वज - संधि दिखे मनो
सुयश अंकित रेख कलंक में ॥७०॥

बरसता जल मेघ प्रवेग में
पवन भी चलता तन कांपता
कृपक जोत रहा निज खेत को
दुख सहे जन तो सुख आ मिले ॥७१॥

सरित - बाढ़ बढ़ी न बसंत में
गगन गौरव दे न सका कभी
हरित भूमि न थी मधु - मास की
सरसता सुख पावस ने दिया ॥७२॥

सजल व्योम मही तरु आद्रता
पथ गली गृह गोष्ट सपंक हैं
अब रसा रस से द्रवती रहे
दुख स्वदेश मिले नृप-अन्य से ॥७३॥

पथ गली जल से सब पूर्ण हैं
खलभला चलता खलता सभी
अब कहां रज रूप धरे धरा
विवशता वश भूप अधीन हो ॥७४॥

विविध धान चढ़े बढ़ खेत में
पवन - वेग मिले हिल डोलते
कृषक देख कृषी सुख पा रहा
मुदित वृद्ध बढ़े निज वंश के ॥७५॥,

अवध में झूलनोत्सव

अवध में ललना झुक झूलतीं
मुदित गान करें सुमलार का
घन विहार करें वनिता सभी
सुख समूह मिले मन मौज हो ॥७६॥

सुखद - सावन - धावन-काम का
झड़ लगी सुलगी मन में व्यथा
प्रमुख है दुख सन्मुख सुन्दरी
जल - प्रहास यवास विनाशता ॥७७॥

झमकतीं झुकतीं झकझोरतीं
झगड़तीं हँसतीं झट झूलतीं
हिलत हार मलार अलापतीं
सब-सखी - सुमुखी मिल गारहीं ॥७८॥

सुदृढ़ - कोर धरे कर डोर की
झमक झूल रही सरि कूल पै
मृदु-सखी न चखो रस रूप को
चपलता चख की झप सी दिखे ॥७६॥

गुरुवतो - नवती चलती वधू
जघन, यौवन - भार संभालती
कटि-घटी लचटी - अति सूक्ष्म है
युग - वली-वल से आवली किया ॥८०॥

तिमिरता करता घन घेर के
गरजता सजता घन - श्याम हो
सुदिर मेदुरता गुरुता बडी
गगन गौरव को रव रग दे ॥८१॥

बरसता करता रसता रसा
सजल कज्जल श्याम शरीर क्यों
असितता नभ में करता बड़ी
प्रकट पातुरे चातुरता बड़ी ॥८२॥

चमकती रुकती कब चंचला
चपल चंचल अंचल को उठा
कनक - रूप अनूप दिखा रहो
शतह्रदा सुहदा घन की नड़ी ॥८३॥

लहरते नलिनी - नव - पत्र हैं
पड़ रहे दल पै जल - बुंद हैं
सरस मौक्तिक रूप दिखो वहां
सुजन पास गये मति शुद्ध हो ॥८४॥

सरित - तीर न नीर रुके कहीं
भंवर - जातक घातक हो रहे
उमड़ती बढ़ती बहती त्वरा
शशिमुखी प्रमुखी वश ज्यों नहीं ॥८५॥

सुम-जुही न गुही मृदु - मालिनी
अरुण रंग जपा अजपा जपे
नव - कदम्ब सुअम्ब फले फुले
सुगुण ग्राहक भौंर विहीन हैं ॥८६॥

कब बकी रुकती, बकती रहे
बक विगीत१ प्रतीत न प्रीत हो
बसत स्वार्थ परार्थ न चित्त में
मद भरा रहता मन में सदा ॥८७॥

हरित हार बहार बढ़ी महा
यवसर जोर अथोर न भूमि में
बढ़ रहो भरुही वन बाग में
सुख समीप छिपा दुख भो रहे ॥८८॥

१ गाली, निंदा, २ घाव,

मुदित मीन अपीन न नीर में
चल रहीं उलटी, पलटी दशा
सुख मिले जन, दैन्य दिशा चले
सजल - निर्गम२ ऊर्ध उठे गिरे ॥८६॥

अब न धूल उठे नभ - धूल में
पवन पावन - सावन संग है
सुमति की गति गौरव शुद्ध हो
जब कुसंगति से जन दूर हों ॥६०॥

पथिक प्रात प्रपात१ प्रभाव से
गमन भी करते डरते रहें
बरसता करता रव आ रहा
घन घने, घर से निकलो नहीं ॥६१॥

मुदिर मेदुरता त्वरता किये
बरसता रस रूप अनूप दे
सित स्वरूप कुरूप किये फिरे
शुचि - पदार्थ कुस्वार्थ विनाशता ॥६२॥

घन घटा - घुमड़ी उमड़ी वधू
मन मनोज्ञ उरोज सँभालती
शुचि सती सॅसती हॅसती नहीं
पति न पास सुपास कहां मिले ॥६३॥

---

२ फव्वारा १ झरना ।

पति समेत निकेत निवासिनी
चमकती चपला सुख चूमती
कह गई विरही न बनो कभी
सुख विलास हुलास रहे सदा ॥६४॥

शिखिन१ का रव भैरव सा सुने
विरहिणी - हरिणी - दृग-कामिनी
मन - गुँथी मनगूँथन गूँथती
चित्त - चढ़े न बढ़े गृह में पड़ी ॥६५॥

सघनता घन घोर प्रघोषता
न·अचली, विचली मचली फिरे
जगत की प्रभुता लघुता लिये
क्षण प्रभा न विभा वश नित्य है ॥६६॥

रसिक पावस के वश हो रहे
शुचि सती हसती पति संग में
मदन मादकता मन मोदता
बढ़ रही न रही विरहाकुला ॥६७॥

वसन्त तिलका छंद

आकाश में घन - घटा सुखदा बड़ी है
मेघावली गरजती बरसे धरा पै
शोभा बढ़ी बहु मही सजला हुई है
आनंददा ऋतु यही बरसात की है ॥६८॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य,
अष्टदश सर्ग समाप्तः

---

१ मोर।

अथ एकोनविंशा सर्गः

शरद, हिमंत और शिशिर ऋतुओं का वर्णन।

द्रुतविलम्बित छंद

शरद सौम्य सुधा शशि कर्पिणी
सरसता – रज मार्ग प्रदायिनी
मृदुलता शुचि शीतलता महा
प्रति पदांक पड़े पथिकावली ॥१॥

जल-धराम्बर में अब है नहीं
नवज नील प्रदीप्त अनत है
पर-प्रभाव पड़े जब स्वत्व का
सपदि नाश हुआ करता सदा ॥२॥

विधु विकाश प्रकाश प्रमोद दे
मल विहीन विहायस हो गया
हृद हुआ जब शुद्ध मदादि से
शुचि सतोगुण के गुण आगये ॥३॥

पति समेत निकेत निवासिनी
चमकती चपला मुख चूमती
कह गई विरही न बनो कभी
सुख विलास हुलास रहे सदा ।।६४।।

शिखिन१ का रव भैरव सा सुने
विरहिणी - हरिणी - दृग-कामिनी
मन - गुँथी मनगूँथन गूँथती
चित्त - चढ़े न बढ़े गृह में पड़ी ।।६५।।

सघनता घन घोर प्रघोषता
न'अचली, विचली मचली फिरे
जगत की प्रभुता लघुता लिये
क्षण प्रभा न विभा वश नित्य है ।।६६।।

रसिक पावस के वश हो रहे
शुचि सती बसती पति संग में
मदन मादकता मन मोदता
बढ रही न रही विरहाकुला ।।६७।।

वसन्त तिलका छंद

आकाश में घन - घटा सुखदा बड़ी है
मेघावली गरजती बरसे धरा पै
शोभा बढ़ी बहु मही सजला हुई
आनंददा ऋतु यही बरसात की

इति श्री रागतिलकोत्सव ।

अष्टदश सर्ग समाप्त:

१ मोर।

रवि हिमांशु बनी सम हो रहे
शमन ताप प्रभाकर की करें
सहज शीतलता शशि रश्मि से
निकलती मिलती महि मोददा ॥९॥

क्षिति[1] क्षपाकर[2] से सित हो रही
किरण शीतलता प्रकटे महा
अनुक[3]–अब्ज[4] प्रभाव रसार्द्र हो
मन मनोज नरी नर के जगे ॥१०॥

सर सरोज अनेक प्रकार के
खिल रहे सित रक्त सुरंग के
मधुप मांग रहे मकरंद को
क्षुधित जांचत द्वार उदार के ॥११॥

प्रबल-वेग नदी कम हो गया
भ्रमर की अवली जल में कहां
धवल-धार प्रतीर न काटती
गलित-यौवन हो युवती यथा ॥१२॥

विशद निर्मल नीर स्वरूपिणी
पुलिन अंग खुले अब आपगा
सिकुड़ती बहती सरि जा रही
पति प्रवास सती वन संयमी ॥१३॥

---

१ पृथ्वी; २ चन्द्रमा; ३ जिसको विषय की बड़ी इच्छा हो, ४ चन्द्रमा,

शरद की सुखदा शुचि शर्वरी
सित किया नभ को निज रूप दे
असित, श्वेत समान निशा दिखे
जन-बुरे सत हों सतसंग से ॥४॥

सरस- ओस पड़े तृण पत्र पै
सहज शोभित हों सब प्रातमें
सलिल-सीकर कौन कहे इन्हें
सुघर मौक्तिक दाम बिना मिले ॥५॥

तपन - ताप दिनादि हुए यदा
मनुज क्या, पशु व्याकुल हो रहे
धरणि बाष्प उठे बहु घाम हो
नृपति क्रूर, प्रजा दुख दे रहा ॥६॥

यम-दिशा चलता रवि जा रहा
पर स्वभाव कुशील न त्यागता
बदल कौन सके निज रूप को
मरण काल न त्याग विमोह को ॥७।

कर रहा उपकार सवितृ[१] है
रस - रसा हरता पथ खोलता
रवि - प्रताप पकीं सब औषधी
विधि बँधे जन शासन तीव्र से ॥८॥

---

१ सूर्य ।

रवि हिमांशु बनी अब होड़ है
शमन ताप प्रभाकर की करें
सहज शीतलता शशि रश्मि से
निकलती मिलती महि मोददा ॥९॥

क्षिति१ छपाकर२ से सित हो रही
किरण शीतलता प्रकटे महा
अनुक३-अब्ज४ प्रभाव रसाद्र हो
मन मनोज नरी नर के जगे ॥१०॥

सर सरोज अनेक प्रकार के
खिल रहे सित रक्त सुरंग के
मधुप मांग रहे मकरंद को
क्षुधित जांचत द्वार उदार के ॥११॥

प्रबल वेग नदी कम हो गया
भ्रमर की अवली जल में बहां
धवल धार प्रतीर न काटती
गलित यौवन हो युवती यथा ॥१२॥

विशद निर्मल नीर स्वरूपिणी
पुलिन अंग खुले अब आपगा
सिकुड़ती बहती सरि जा रही
पति प्रवास सती बन संयमी ॥१३॥

---

१ पृथ्वी, २ चन्द्रमा, ३ जिसको विषय की बड़ा इच्छा हो, ४ चन्द्रमा,

अब न बादल के दल हैं कहीं
न अवरोध रहा पथ शोध हो
हरसिंगार शृंगार किये रहे
सुमन मेहँदि दे गुलमेंहदी ॥१४॥

पितर आ घर नागर नागरी
मुदित दें वरदान विधान से
सुद्विज पूज रहे सत-भाव से
शुचि - विचार प्रचार सुखीं रखें ॥१५॥

निशि विशेष न शेष प्रदेश में
उमस ताप प्रताप कहां रहा
रवि अमंद न, मंद हुए दिखें
दुखदही दुख पा दुखिया बने ॥१६॥

पर प्रभाव पड़ा जन जो रहे
वह बने उसका प्रतिरूप ही
कब रहे घर में अधिकार है
जब स्वकार्य स्वयं न सँभालता ॥१७॥

हेमंत ऋतु वर्णन

शरद अंत हुआ हिमवत आ
कर रहा वह मगल कार्य है
युवतियां गवने अब जा रहीं
उमगती सरि सावन ज्यों बहे ॥१८॥

पहनते जन ऊन सुवस्त्र हैं
चल दिखे जनता बहु त्रस्त है
तपन१ – ताप दिया तप२ तीव्र था
बहुत मार्ग३ सहस्य४ प्रशीत दे ॥१६॥

सुख सके कब दे रख तीव्रता
सुखद मध्यम – मार्ग कहा गया
मद मथे अधिकार हुआ जहा
अनय५, व्यक्ति–महत्व विनाशता ॥२०॥

जन अकिंचन को हिमवत आ
तन कँपाकर के दुख दे रहा
असन वस्त्र विहीन मलीन है
सुख उन्हें मिलता कब शीत में ॥२१॥

कँप रहा तन नग्न न वस्त्र है
निकट आसन्न अग्नि कहीं नहीं
अनिल - झोंक न रोक हुई कहीं
अधन - धाम महा दुःख दे रहा ॥२२॥

निशि न नींद प्रशीत प्रभाव से
दृग बसी न, दुखी दुख दून दे
उठ प्रभात प्रभा रवि खोजता
अनल तापत शापत शीत को ॥२३॥

---

१ सूर्य, २ जेठ महीना, ३ अगहन मास, ४ पौष मास, ५ अनीति,

रवि प्रभाव नहीं अब पूस में
कमल का कुल नाश हुआ जहां
नृप प्रताप घटे दुखिया दुखी
विधि विधान बिना कब न्याय हो ॥२४॥

शिशिर

अनिल का मिलना हिलना बढ़े
तन कँपा करता बहु शीत में
शिशिर रग उमग रँगा रहे
मिलन मित्र पवित्र प्रमाण है ॥२५॥
सदन में शुचि१ की रुचि है बढ़ी
दहन१ ज्वाल प्रज्वाल प्रवृद्धि हो
सब युवा अयुवा नर नारियां
घिर घरी दुघरी निशि तापती ॥२६॥
गिरि तुषार अपार जमा हुआ
शिशिर शासन शासित जीव हैं
हिम अचेतन चेतन को दुखी
कर रहा नृप - क्रूर, प्रजा यथा ॥२७॥
ऋतु प्रभाव स्वभाव समीर का
शिशिर-शीत-सभीत न कौन है
पर निदाघ न माघ तुषारता
सगुण हीन अधीन सदा रहे ॥२८॥

---

१ अग्नि ।

तुहिन पाकर चाकर-वायु को
निज स्वभाव प्रभाव दिखा रहा
तन-कँपाकर क्या मिलता उसे
प्रमुद का सुख, दे दुख दीन को ॥२६॥

शिशिर मास अवास निवास हो,
मधुर बोल अमोल प्रिया वदे
विशद सम्बल कम्बल तूलिका१
नवल दम्पति कम्पित सी करें ॥३०॥

रवि दिशा-यम जा जमही चुका
हिम-भरा हिम-आलय से कढ़ा
जम-चुका जल, वेग रुका रहे
तुहिनता बरसे झरसे रसा ॥३१॥

मुख छिपा करके नर औ नरी
निकलती नगरी घन नागरी
शिशिर है वर, या वन-अम्बिका
नव-वधू, अथवा अवला सभी ॥३२॥

शिशिर-शासक धूम दवा रहा
गगन ओर न जा सकता कहीं
निकट भूमि प्रसारित हो रहा
नर निषेद किये कब जा सके ॥३३॥

---

१ सेन ।

शिशिर ने रवि दूर खदेड़ के
कह दिया किरणों मृदु हों दिवा
उठ प्रभात सभी जन घाम लें
नृपति-शासन से सुख हों प्रजा ॥३४॥

शिशिरता तरती जल में महा
नर करें मुख सी, कर से छुये
व्यथित मज्जन आ। करें सभी
पर-प्रभाव पड़े द्रव बुद्धि हो ॥३५॥

वदन वद किये दिन रात्रि हैं
रुचिर राङ्कव१ वस्त्र वराशिर ले
वहु महाधन३ भूपति ओढ़ते
विपद में सबको दुख आ मिले ॥३६॥

सब कहीं नरमी, गरमी नहीं
कपट का पट आ झट ही खुला
सरसता रसता न रखे कहीं
नलिन का कुल का कुलनाश है ॥३७॥

रवि भगा नभ-गात प्रशीतता
तपन का तपना कम ना रहे
पर तुषार प्रसार हुआ जहां
निवल क्या वलवान दवा सके ॥३८॥

---

१ कची वस्त्र २ मोटा कपड़ा, ३ वड़े मूल्य का वस्त्र दुशाला ।

शिशिर - सिंह किये भयभीत हैं;
वदन मूंद पड़े सब पौरुषी
नर नरी पशु पंक्ति कँपें खड़े
नृपति क्रूर, प्रजा डरती महा ॥३९॥

अनिल आशु चले रव घोर हो
हरि दहाड़ रहा वन में मनो
निशि प्रभाव महा सब हैं छिपे
शिशिर - केहरि का भयभूरि है ॥४०॥

शिशिर श्वेत प्रदेश प्रतीचि२ के
नियत केन्द्र किया उसने वहां
पर प्रसार हुआ वह पूर्व में
किरण सूर्य प्रकाशित दूर लों ॥४१॥

रज - रसां पग को अति शीत दे
अँगुलियाँ अँकड़ी अब जा रहीं
पड़ गईं सब गुप्त प्रशीत से
नृपति इंगित पा दुख नीच दें ॥४२॥

मालिनी छंद

सुखद सदन ऊष्मा अग्नि निर्धूम से हो
परम प्रियतमा के संग आनंद पाते
मुदित विशद पक्वान्न खाते खवाते
"सिरस" कवि वहाते भक्ति की काव्य धारा ॥४३॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
एकोनविंश सर्गः समाप्तम्

---

१ शीघ्र, २ पश्चिम ।

अथ विंश सर्गः

"आखेट"

इन्द्रवज्रा छन्द

आखेट आमोद प्रधानता थी
हिंसादिकों की गति - वृद्धि, रोके,
धात्वादि अन्वेषण अद्रि होता
कान्तार के शोधन की प्रथा थी ॥१॥

थे जीव - हिंस्रा बहु वन्य बाढ़े
उन्मत्त आते पुर नाशते थे
चीत्कार - चर्चा चलती जहाँ थी
दुष्टादि को दण्ड विधान देता ॥२॥

कर्तव्य था राम नरेश का भी,
आखेट - यात्रा करके उदीची१
आहार्य२ में दें - सुख - शांति जाके,
जीमूत३ ज्यों पर्वत वारि - वर्षे ॥३॥

१ उत्तर दिशा, २ पर्वत, ३ मेघ ।

आहार्य – पाषाण - तुषार शृंगी
मानो पताका-सित-शांति की थीं
योगी यती योग जहां जगावे
आनद दाता हिम - अद्रि ही था ॥४॥

ऊँची-शिखा, सानु१ समीप में थी
वृक्षावली शैल - विशाल बाढ़ी
पाषाढ़ कोरी घट - चारु भी थी
छोटे, बड़ों की निज भिन्न शोभा ॥५॥

नीचे गिरे जोर प्रपात२ पानी
थे उत्स३ नाना झरना अनेकों
पाषाण पोढ़े रव - वारि होता
काठिन्यता कोमलता लिये ज्यों ॥६॥

थीं पाद-माला४ शिखरोच सगी
शोभा बढ़ाती हिम शृंग की वे
घेरे सम्हाले उसको उठातीं
छोटा, बड़े का बन ज्यों सहायी ॥७॥

नाना दरी गह्वर५-अद्रि में थे
अन्तर गुहा गूढ़ महांध भी थीं
सूर्यांशु की दीप्ति न देख पातीं
मानो तमिस्रा६ तम ले छिपी थी ॥८॥

---

१ पर्वत की समतल भूमि, २ पहड़ों में पानी गिरने का स्थान, ३ टपक कर पानी गिरनेका स्थान, ४ छोटी छोटी पहाड़ी, ५ खोहेंदार बिल, ६ रात्रि।

नीचे मिली भूमि उपत्यका१ थी
थे गर्त२ गम्भीर सकाश३ ही में
आकर्षणी – शक्ति महीध्र४ की हैं
दावे रहे आढ्य५ पड़ोसियों को ॥९॥

थे गण्डशैलादि६ अधित्यका७ में
हेमादि औ गैरिक धातु नाना
हीरादि की आकर अद्रि में थी
ज्यों उच्च होता गुण उच्च होते ॥१०॥

पञ्चास्य८ शार्दूल९ मृगादनी१० थे
भूदार११ भल्लूक वलीमुखी१२ थे
गोमायु१३ गैंडा मृग वृन्द नाना
थे भेड़िया शम्बर१४ तेंदुवा भी ॥११॥

जीवादि थे योनि अनेक रूपी
थे तामसी वाह्य प्रवृत्ति प्रेमी
युद्धोन्मुखी युद्ध सदैव चाहें
बाह्यांग का भाग कठोर होता। १२॥

---

१ पहाड़ के नीचे की भूमि, २ गढ़, ३ निकट, ४ पर्वत, ५ धनवान, ६ पहाड़ से गिरी चट्टान, ७ पहाड़ की ऊंची भूमि, ८ सिंह, ९ बाघ, १० चीता, ११ सुअर, १२ बन्दर, १३ सियार, १४ बारासिंघा।

काकोल१-काले-विष श्याम नाना
थे शैल में सर्प विभिन्न रंगी
था क्रोध का शौर्य फणा फुलाये
दुष्टादि हों प्राकृत नीच संगी ॥१३॥

पीनाग थे वाहस२-वन्य-वासी
खींचें सभी को वल स्वास ही से
सिंहादि को भय भूरि देते
नीचाश्रयी से सुख कौन पाता ॥१४॥

थे मग्न औ वायस चिल्ल३ चण्डी
थे श्येन४ के यूथ विहंग-भक्षी
कान्तार-पक्षी भय से विलोके
दुष्टादि से सज्जन दुख पाते ॥१५॥

सिंहादि-संख्या बहु बाढ़ में थी
वन्यादि के जीव विनाश होते
भागे बचें वे वध हिंसकों से
हो क्रूर-कर्मी नृप दुख देता ॥१६॥

सङ्गी सहस्रों रघुनाथ के थे
डेरा लगाया हिम – अद्रि पै था
आनन्द पाते गिरि उच्च देखे
दे वस्तु आश्चर्य महा अनोखी ॥१७॥

१ एक प्रकार का महा विष, २ अजगर, ३ चील, ४ बाज।

श्रीराम ने सिंह अनेक मारे
रक्षा किया स्वल्प मृगादिकों को
आतङ्क छाया वन में बड़ा था
होता प्रतापी जन वीरता से ॥१८॥

शौर्याश्रयी सिंह पराक्रमी थे
अङ्गांग निद्धी बहु गर्जते थे
पंजों बिदारें मुख फाड़ते थे
क्या वीर भी शत्रु अधीन होता ॥१६॥

युद्ध वर्णन

आगे बढ़े, तो पुर एक देखा
घेरे हुए शृङ्ग-तुषार के थे
आगार नाना गिरि आश्रयी थे
गम्भीरता-आकर, रत्न-मेधा ॥२०॥

श्रीराम का दूत गया वहाँ था
बोला बनो दीन, नहीं लड़ो आ
वे वीर थे, युद्ध विनोद माते
काव्याग से ज्यों कवि मोद पाता ॥२१॥

सकेत जाना समझी न भाषा
ले बाण आगे निकले सहस्रों
होने लगा युद्ध महा विघाती
वीची उठें ज्यों युग सिन्धु ऊँचे ॥२२॥

ये वीर वे, थे वर-वीर हीं थे
होता महा युद्ध प्रकंपकारी
वे हार माने न, अजेय ये थे
दो सांड मानो लड़ना न छोड़े ॥२३॥

सेना गिरायी गिरि-गर्त में जा
ज्यों दुर्ग में बद्ध घिरी पड़ी हो
थे कूटकारी१ कुटिलांध क्रोधी
निर्भीक निष्णात२ निपरय३ नेत्री ॥२४॥

श्रीराम ही एक बचे तहां थे
वे थे अनेकों रण रङ्ग माते
माया-मनीषी मद-मन्त्र दक्षी
आत्मा यथा वेष्टित वासना से ॥२५॥

थे धीर श्रीराम प्रयुक्तिकारी
की बाण-वर्षा इक से सहस्रों
सोपान निर्माण किया शरों से
सेना चढ़ी ऊपर गर्त के थी ॥२६॥

धूमांध छाया अरि बाण से था
जाने न पाते किसने किया है
प्राणाहुती दे रघुवंश योधा
चारों दिशाएँ शर छोड़ते थे ॥२७॥

---

१ मायावी, २ कुशल, ३ युद्धभूमि।

श्रीराम ने आयुग१-अस्त्र मारा
डोली महावात२- प्रचण्डकारी
था धूम जो साथ समीर भागा
देखे गये शत्रु समीप ही में ।२८॥

मारो धरो बोल उठे सभी थे
वे भी बड़े कौशल युद्ध में थे
की वाण - वर्षा विष से भरी थी
.श्रीराम तत्काल सुधा सुंघाया ॥२९॥

पीछे खड़े हो ललकारते थे
आगे शतघ्नी चलतीं अनेकों
घेरा घिराया रघुवंशियों ने
ज्यों बाढ़ आई कटरी नदी के ॥३०॥

दी बांट सेना तब दो दिशा में
तो शैल के ऊपर शत्रु गर्जा

पाताल जाके शर छोंडते थे
योधा गिरें, शब्द न बोल पातें
पाया न जाता अरि का पता क्या
प्रारब्ध ज्यों कष्ट महान देता ॥३३।

थे वीर योधा अवधेश के भी
वे देवतों के बनते सहायी
माया कि कुंजी सब जानते थे
प्रासाद में बाढ़ न बारि आती ॥३४॥

ब्रह्मास्त्र मारा गिरि चूर्ण होके
पाताल - आगार सभी ढहे थे
जो थे बचे ऊपर द्वंद - कर्मी
आके लड़ें शूर सयान शौर्यी ॥३५॥

की अग्नि - वर्षा जलते सभी थे
श्रीराम ने की जल – बाढ़ भारी
घेरा बनाया शर व्यूह का था
हो बद्ध बंदी रघुवंश के वे ॥३६॥

आये जहां राम समीप में थे
की थी प्रशंसा प्रभु वीरता की
द्वंदाभिलाषी वर वीर योधा
बोलो बताओ अब चाहना क्या ॥३७॥

जो युद्ध चाहो तुम मुक्त होके
कीजे महा युद्ध प्रकपकारी
युद्धाभिलाषी रघुवंश योधा
आनद माने शर हाथ में ले ॥३८॥

या शत्रु नेता मृदु वाक्य बोला
दे युद्ध को भोग क्षुधा निपाटो
स्वीकार कीजे मम मित्रता को
जीमूत देता जल, भूमि जाके ॥३९॥

श्रीराम ने मित्र उसे बनाया
सारा दिया राज्य महीध्र का भी
शैलाधिवासी शिर नाय बोला
"माथा नवा है उपकार आगे" ॥४०॥

"जो वीर को जीत, अजीत माने
योधा मनीषी मति - मन्त्रदाता
होते सभी शूर अधीन जाके
जीमूत का भी जलसिन्धु जाता" ॥४१॥

"है खेल ही के सम युद्ध-द्वन्दी
चूका जहा चाल गिरा खिलाड़ी
जीता सहस्रों जिसने लड़ाई
सो हार खाता, पुनि जीतता है" ॥४२॥

है हार आधार जयेन्द्र ही की
संग्राम साथी किस का बना है
जो हारता, सो विजयी हराता
तैराक डूबे पुनि पार जाता ॥४१॥
"जो वीरता के अभिमान में आ
कर्तव्य को त्याग प्रमत्त होता
पाता वही हार अवश्य ही है
जो आंख मूंदे चलता गिरेगा" ।४२॥
"मैंने सुना था अवधेश धन्वी[१]
श्रीराम ने रावण को हराया
आदेश मानें सुरभूप - भौमीर[२]
आदित्य ही को सब अर्घ देते" ॥४३॥
"ले भेंट - मैत्री वर वीरता की
आनन्द पाता शुचि सौख्य घेरे
शङ्का नहीं मित्र बना लिया है
है भोर भूला मिल साँझ जाता" ॥४४॥

श्रीराम का उत्तर

सत्यानुयायी–अरि, धर्म सेवी
धारा - प्रवाही रण-नीर धाता
कापट्य कूलान्त न पास जाता
सो सन्धि - अम्बोधि मिले प्रहर्षी ॥४५॥

---

१ धनुष चलाने में चतुर २ पृथ्वी के राजे।

स्वार्थान्ध लोभी धन भूमि के जो
वे कूटकारी छलते छली हैं
लोभार्थ योधा जन प्राण लेते
पक्षीन्द्र हो क्या बक-मीन-भक्षी ॥४६॥

हो मित्र पीछे, यदि वीर - वैरी
न्यायी मनीषी सतसङ्ग-गामी
होता विजेता रण में प्रचण्डी
आवर्त्त घूमे फिर अग्र जाता ॥४७॥

हैं वीर धन्वी वर आप न्यारे
पाके महा मित्र स्वभाग्य मानूं
जो जोठ जोते युग बैल जाते
खेती बड़ी उत्तम धान्य की हो ॥४८॥

आनन्द से भोग सुभूमि कीजे
आज्ञा दिये पै भरतादि आवें
जो शत्रु हो इन्द्र, उसे हरावें
हो मित्र रक्षा निज मित्र ही से ॥४९॥

आज्ञा मिले तो पुर लौट जाऊँ
आखेट – कांक्षी वन मित्र पाया
न्यायी बने राज्य सदैव कीजे
सत्यानुगामी जग जीत लेता ॥५०॥

ले भेंट नाना मणि मंजु हीरा
वातायु१, वाघाम्बर, वस्त्र-ऊनी
कस्तूरि पाषाण - अमूल्य जो थे
स्वीकार कीजे कर जोड़ बोला ॥५१॥

श्रीराम ने भेंट सहर्ष ली थी
ज्यों बन्धु देता धन बन्धु को है
ले के विदाई पुर को पधारे
आये जहां था सरयू किनारा ॥५२॥

मालिनी छन्द

नगर नर-नरी आनद की थाह लेते
अनुज सहित लौटे राम आखेट से हैं
प्रमुदित मन माताएं सुना पुत्र आये
निज पति लख पत्नी आरती आ उतारें ॥५३॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
एकोनविंश सर्ग समाप्तम्

---

१ हिरन ।

-:अथ एक विंशति सर्गः-

संसार रहस्य

उपेन्द्र वज्रा छन्द

मुनीन्द्र आते बहु थे, अयोध्या
गृहस्थ, त्यागी, सतसङ्ग होता
अनेक गुत्थी खुलती तहां थी
विचार की पुण्य-पुरी-कसौटी ॥ १ ॥

विवेक सिद्धान्त किया अकेले
चले परीक्षा हित ले अयोध्या
धरा सभा सन्मुख सिद्ध ने आ
विचार होता उस पै वहां था ॥ २ ॥

विरोध होता प्रतिपादनार्थी
महान व्याख्या करके सुभाता
रहस्य सिद्धान्त प्रसिद्ध होता
खुला जहां सम्पुट मूर्ति देखा ॥ ३ ॥

सुरेश आते सुर - लोक त्यागे
विशेष इच्छा सुख-नित्य की ले
मिला नहीं शाश्वत-सौख्य-स्वर्गी[१]
सुमेर, आकाश न अन्त पाता ॥ ४ ॥

महेश ब्रह्मा वसु विष्णु भी आ
रहस्य - आत्मा, जग, के सुनें वे
प्रसन्न होते, नव - सिद्धि खोजे
असीमता - ब्रह्म न माप में हो ॥ ५ ॥

सभा लगी राम-नरेश की थी
विशेष विद्वान, सुधी, मनीषी
मुनीन्द्र, योगी, सुर, इन्द्र आये
त्रिलोक-तर्की, नवनीत-सी थी ॥ ६ ॥

रहस्य – संसार विचार होगा
वशिष्ठ बोले वर मंजु वाणी
मुनीन्द्र कोई अब मन्त्र बोलें
सभा-सुधी-चातक सी दिखाती ॥ ७ ॥

सुधा सने नारद वाक्य बोले
वशिष्ट ब्रह्मा-सुत हो बखानें
असार - संसार असारता में
विशेष क्या सार उसे बतावें ॥ ८ ॥

---

१ नित्य ।

सभी उठे बोल महान – आत्मा
पयोधि के सम्मुख आपगा क्या
वशिष्ट सा बोध भला किसे है
मयूर ही पावस कूकता है ॥ ६ ॥

सभा सँवारे शुचि चातुरी से
कुशाग्र-सी बुद्धि विवेक पूर्णा
स्वमन्त्र दे के जन जीत लेती
विशेष आकर्षण शक्ति होती ॥१०॥

सभी गुणालङ्कृत गौरवी हो
महान आत्मा जग सूक्ष्म-दर्शी
विवेक अम्बोधि अनन्त द्रष्टा
सुमेरु ही पर्वत में बड़ा है ॥११॥

वशिष्ट बोले कर जोड़ के थे
न जान पाया जग को किसी ने
तथापि आज्ञा शिर रावरी है
कहूँ यथा सूझ पड़ा मुझे है ॥१२॥

निरूप - माया रत ब्रह्म में है
प्रसार पाती जग जन्म दे के
शरीर होता गुण तीन से हैं
प्रधान है कर्म सुकर्म के वे ॥१३॥

सतो गुणी इन्द्रिय-ज्ञान की है
रजो तथा तामस – कर्म- इन्द्री
शरीर – विस्तार •हुए बढ़ें वे
नदी यथा पावस बाढ़ आती ॥१४॥

प्रसार पाती जग ओर को है
कुरुमें खींचे मन ज्ञान- इन्द्री
प्रभाव होने कम सत्व पाता
गिरा दिया लगड़ भार भारी ॥१५॥

प्रसार होता जब सत्व का है
विनीत होतीं तब कर्म – इन्द्रीं
विवेक के भार तले पड़ी हैं
न रेंग पाती सिला-निम्न चींटी ॥१६।

कहूँ कथा इन्द्रिय - कर्म की है
प्रसार पातीं पड वर्ग को ले
दशो दिशाएँ जग फैलती है
प्रलब शाखें वट - वृक्ष की ज्यों ॥१७॥

प्रशाख शाखा बढ़ती सदा वे
प्रवासना से रहती हरी हैं
अनेक कर्मों -गत वृद्धि होती
प्रपाह बाढ़े सरिकूल ढाहे ॥१८॥

कुकर्म-छाया मन पै पडी जो
रगा उन्हीं के रग में स्वयं भी
दबा दिया सत्व, अशांति आई
दिनान्त पीछे तम छा गया ज्यों ॥१६॥

बचे हुए कर्म विकाश चाहें
प्रभाग आधार शरीर ही है
प्रभूत१ - प्रारब्ध लिये बढाते
अनेक जन्मा तक वृद्धि पाते ॥२०॥

प्रभाव होता मन बुद्धि पै है
जिसे बढा इन्द्रिय वृन्द को दें
क्रिया करें वे अनुकूल ही हैं
प्रगाढता हों जग ओर ही को ॥२१॥

प्रसग ही से सब दोष बाढे
प्रभाव से पीडित कर्म कर्ता
करे वही जो मन छाप छाई
घटा घिरी मेघ न सूर्य दीखे ॥२२॥

रजो तथा तामस बद्ध होके
असार - ससार प्रसार चाहे
लगे रहे स्वार्थ अनर्थ ही में
विसारद२ ज्या नीर न त्यागती है ॥२३॥

---

१ निकला हुआ २ मछली ।

दबा हुआ सत्व, रजादि दों से
महान - माया - मत मत्त होके
करें सदा कार्य स्वअर्थ साने
न भार को ले शिर थाम पाता ॥२४॥

अनेक कर्मों वश जीव होता
बने रहे कारण जन्म के जो
प्रवृद्धि पाते बढ़ते सदा हैं
तड़ाग बाढ़ा जल बाढ़ ही से ॥२५॥

करे सदा साधन स्वार्थ ही के
न भूल से भी हरि – चिंतना हो
मनुष्य की योनि न जीव पाता
विमूढ़ - पक्षी - पशु - कीट होता ॥२६॥

सदैव भूखे चरते रहैं वे
न जान पाते सुख – सौम्य कोई
अजस्र - चिन्ता निज पेट की हो
भ्रमा लिये घोर तमिस्र छावें ॥२७॥

बढ़े, गिरें, तिर्यक - योनि में जा
प्रमत्त होते निज स्वार्थ ही में
सदैव देते पर - जीव पीड़ा
यथा मशा, मूषक, सर्प विच्छू ॥२८॥

क्षुधार्त होके पर–प्राण लेते
वही दशा हो उनकी बली मे
मिला उन्हें क्या सुख, स्वार्थ से है
विनाश बालू कर लेन–लेती ॥२९॥

बढ़ा जहां जो जग में घटा है
प्रकाश के पृष्ट तमिस्र धावे
न वस्तु कोई इक रूप की है
विवर्त१ व्योपार विडम्बना है ॥३०॥

सुरूप शोभा दिखती बड़ी है
मयंक से भी छवि वृद्धि पाती
अकाल ही काल दबा लिया जो
विरूपता से उससे घृणा हो ॥३१॥

विशाल वृक्षावलि बाग में है
पलाश से पल्लव पति बाढ़ी
विहग बोलें छद–वृन्द–छाया
कटे गिरे तो उनका पता क्या ॥३२॥

तड़ाग शोभा जल से बढ़ी थी
विहग घेरे तट को सदा थे
परंतु सूखा जल, तीर सूना
न स्वार्थ होता तब कौन नाता ॥३३॥

न वस्तु कोई जग, नित्य सी है
बढ़े, घटे, नाश, विकास पाती
न तत्व ही एक समान होते
विनाश पाते प्रलयाग्नि में वे ॥३४॥

विकाश की संगति नाश की है
न नाश भी शून्य विकाश से है
अभिन्न अन्योन्य प्रपीड़कारी
न जन्म औ मृत्यु प्रमोद देगी ॥३५॥

इसीलिये तापस त्यागते हैं
निकेत नाता – सुत पौत्र पत्नी
विवेक से शुद्ध सतोगुणी हो
विराग से बंधन – मोह तोड़े ॥३६॥

सतोगुणी में तम – गौण होता
विकार - संसार न अग्र धावे
न खींच पाता जग जोर से है
बँधी न जो नाव, बहे नदी में ॥३७॥

विचार - ऊँचे उठ सत्व से हैं
विवेक चाहे मन तोष आता
सुबुद्धि हो तो मन मौन होता
घटा घिरी जो गरमी घटाती ॥३८॥

प्रपंच - माया मन न्यून होता
विराग की ओर सुबुद्धि जाती
क्रिया जभी संयम ज्ञान का है
उठा चला ऊर्ध्व सदैव जाता ॥३६॥

रहस्य – संसार असारता का
विवेक से साधक देख पाता
प्रसिद्ध जो सिद्धि प्रसाद लेके
लिये खड़ी हैं यश, द्रव्य, दारा ॥४०॥

न देखता जो उस ओर को है
बढ़ा चले ऊर्ध्व निकेत त्यागे
अभीष्ट पाके जग - मुक्ति पाता
विहंग छोड़े पिंजड़ा खुले को ॥४१॥

सुबुद्धि ने की यदि भूल भारी
प्रलोभ ,पाके मुड़ ज्ञान त्यागा
समा गया आ जग जाल ही में
अपक्ष - पक्षी तरु से गिरा ज्यों ॥४२॥

रमेश 'की जो शरणागती ले
चला चले 'ऊर्ध्व ' न पृष्ठ देखे
सँभालते श्रीपति ही उसे हैं
यथा पिता चिंतित पुत्र रक्षा ॥४३॥

मुकुंद देते सब सिद्धियाँ हैं
न लिप्त होता जन, सिद्ध होके
बढ़ा चले सो हरि की कृपा से
यथा-बहाता जल-वेग नौका ॥४४॥

महान-आत्मा सुख-आत्म पाता
अनंत-आनंद स्वचित्त में है
परंतु चाहे शरणागती को
पुकारता माधव प्रेम से है ॥४५॥

अशक्ति पाई जग स्पष्टता१ की
सुरेन्द्र देवादि करें प्रशंसा
परंतु दीखे घनश्याम ही को
पुकारता चातक मेघ को ज्यों ॥४६॥

वसंत को कोकिल, मेघ केका
मिलिंद जैसे मकरंद पाता
मिली वधू ज्यों वर प्रेम से है
रमेश पाये जन त्यों सुखी हो ॥४७॥

प्रसून से पल्लव, मूल पानी
तृषा यथा शीतल नीर से हो
दरिद्र-दोषी-दुख, द्रव्य पाये
प्रसन्न त्यों बिन्दु पयोधि में जा ॥४८॥

१ रचना।

न मूक होता पटु–वाक्य-वक्ता
न पंगु छूता शिखरोच्च ही को
न सिन्धु - वीची मरु रेणु भीगे
न मूढ़ जाने हरि की कृपा को ॥४९॥

रहस्य - संसार कथा यही है
रमेश की भक्ति करे करारी
प्रसन्न होके हरि - अंक भेंटे
अनंत - आनंद अजस्र होता ॥५०॥

मालिनी छंद

भव – निधि भय देता, कौन है जो न भागे
डगमग पग डोलें, धीरता धीर खोते
विरति-मति-जनों को शीघ्र माया गिराती
हरि-पद मन लाये पार तत्काल होता ॥५१॥

इति श्री रामतिलकोत्सव. महाकाव्य

एक विंशति सर्गः समाप्तम्

—: अथ द्वाविंश सर्ग :—

श्री कौशिला भ्रम

वसंत तिलका छंद

थी वर्ष-गांठ रघुनन्दन की प्रमोदी
माता महोत्सव करे सुख-सान्द्र१ सानी
पूजा विधान युत हो कुल-देवता की
देते सहाय सुर-सौम्य सदा जनों को ॥१॥

श्रीरंग-पूज्य - कुल श्री रघुवंश के थे
साजा गया मधुर - मंदिर मोतियों से
थी अष्ट-याम-विधि-पूजन भिन्न भूपा
है भावना - हृदय, श्रीपति पूजने में ॥२॥

प्राचीन - मंदिर - महा रघुवंश का था
इक्ष्वाकु की अमर-कीर्ति-प्रतीक सा था
ऊँचा महा शिखर, आयत में बड़ा था
वैकुण्ठ श्रीपति - निकेत वसुन्धरा का ॥ ॥

---

१ गाढ़ा, २ मनोहर ।

वाद्यादि वेद विधि से बजते तहां थे
नैपुण्य - नाटक – नटी-नट नाचते थे
संगीत-सांग शुचि सन्मुख गान होता
श्रद्धालु की रुचि रमेश रिझा रही थी ।४।

श्वेताम्बरा सत-वृत्ती सम-चित्त सीमा
साफल्य-साधन, सदुत्तर - शत्रु दात्री
सम्बोधिनी-सदय-सत्य सुशील सेव्या
राकेश-राम-जननी शुचि कौशिला थी ॥५॥

आनंद-सिन्धु मन मग्न किये महा थी,
आई विनीत-वपु, मंदिर राम-माता
देखा वहां मधुर - राम प्रतीक में था
आश्चर्य मान दृग-दोष विशेष जाना ॥६॥

धीरंग जोड़ कर मंगल - राम चाहे
थी राम-रूप शुचि मूर्ति, विलोक माता
मांगे सुपुत्र मम वर्ष सहस्र जीवे
आनन्द - भोग पुहुमी करता रहे सो ॥७॥

नैवेद्य लेकर खड़ी अवधेश - माता
खाते दिखा रघुनंदन को स्वयं ही
खींचा सकौर-कर, मूर्ति खड़ी दिखाती
पक्वान्न सन्मुख रखा, लख राम आगे ॥८॥

योलो न विष्णु अपमान सुपुत्र कीजे
देवादि देव मम देव त्रिलोक स्वामी
चापल्यता कर, न अग्र रमेश के हो
श्रीनाथ से विनय मैं करती खड़ी हूं ॥९॥

है राम-बुद्धि-बहु-बाल - विनोद - श्रद्धा
मैने किया सब समर्पण आप को है
खाया उसे सुत प्रसाद समान ही है
कीजे क्षमा हृदय के सब भाव जानो ॥१०॥

देखा न राम-प्रिय, मंदिर में कहीं था
तो पुत्र को गृह बुलाकर पूंछती थीं
क्या श्रीरंग-मंदिर गये मम साथ में थे
औ मूर्ति सन्मुख खड़े सब वस्तु खाई ॥११॥

माता न मंदिर गया न पदार्थ खाया
श्री विष्णु ने मम स्वरूप तुझे दिखाया
हैं सर्व - व्यापक रमेश त्रिलोक-स्वामी
वे भी तुझे सुत स्वरूप दिखा भ्रमाया ॥१२॥

माता मुझे बहुत भूख सता रही है
श्रीरंग से बचा मुझको खिला तू
हूं धन्य पुत्र तुम भोजन मांगते हो
पक्वान्न लेकर परोस प्रसन्न होती ॥१३॥

खाते हुए बहु, न राम कभी अघाते
ला अंब और यह वस्तु भली बनी है
माता प्रसन्न-मुख, ले बहु बार देती
पै मांगना कम पड़ा रघुनाथ का क्या ? ॥१४॥

श्री कौशिला सकुचती, कहती नहीं हैं
भंडार में कुछ पदार्थ रहे नहीं हैं
क्या राम को उदर-व्याधि सता रही है
खाओ न लाल अब और अजीर्ण होगा ॥१५॥

तू तो अजीर्ण-भय अंब न अन्न देती
खाली पड़ा उदर भूख सता रही है
देती नहीं सकुचती मम मातु क्यों है
क्या जन्म के दिन रखे सुत, मातृ भूखा ॥१६।

आये इसी समय नारद गान गाते
श्रीनाथ में मन लगा उनका सदा है
दे अर्घ पाद्य मुनि को सम - चित्त रानी
बोलीं मुनीन्द्र किस कारण हैं पधारे ॥१७॥

रानी मुझे आज क्षुधा लगी है
श्री कौशिला सुन महा सहमी खड़ी हैं
"भंडार जाकर पदार्थ मुनीन्द्र दीजे"
श्रीराम ने विनय की तब अंब से यों ॥१८॥

"भंडार में कुछ पदार्थ बचे नहीं हैं
मैं कौन वस्तु अब थार परोस लाऊँ"
देखा वहां विविध पाक भरे पड़े हैं
आश्चर्य हर्ष मन से मुनि को खिलाया ॥१६॥

भंडार - शून्य - घटना मुनि से बताई
श्री कौशिला हँस कहे सब राम ने खा
मांगा पदार्थ, जब रहा कुछ भी नहीं था
तत्काल आप निज दर्शन दे कहा था । २०॥

"लागी क्षुधा बहुत, भोजन शीघ्र दीजे"
मैं सोचती कि अब क्या मुनि को खिलाऊं
आ राम ने तब कहा मुनि को खिलाओ
भंडार में सब पदार्थ धरे हुए हैं ॥२१॥

कैसे हुआ यह रहस्य विशेष क्या है
बोले मुनीन्द्र मुझको न क्षुधा सताती
पें भूख ने निज प्रभाव दिखा दिया था
जाना रहस्य अब किया रघुनाथ ने जो ॥२२॥

जैसे पयोनिधि प्रभाव हिमांशु प है
सम्बन्ध भक्त, हरि बीच रहे सदा है
खींचा गया प्रभु-कृपा इस ओर को था
ज्यों कौतुकी कर पतंग लिये घुमाता ॥२३॥

तेरे समान नर देव, मुनीन्द्र को है
श्रीनाथ हैं तनय, तू जननी कहाती
तू धन्य राम करते सुख मोद क्रीणा
आनन्द-आलय न अन्य समान तेरे ॥ ४॥

साकार रूप प्रभु जो धरते कभी हैं
लेके मुझे तब करें, निज भक्ति लीला
होता जहां रस - रमेश-महेश का है
जाता वहां मधुप ज्यों मकरंद अर्थी ॥२५॥

जो भक्त नित्य हरि की शरणागती में
आसक्त हैं सुम - सुगंध मिलिंद जैसे
लेते मुकुंद सब भार स्वयं उसी का
संसार मुक्त करते निज शक्ति ही से ॥२६॥

तू भक्ति रूप, सुत राम - रमेश पाया
क्या और वस्तु कुछ अन्य विशेष चाहे
संसार में सुख तथा परलोक में क्या
आनद है न बढ़के इससे यहीं भी ॥२७॥

होके प्रसन्न जननी सुत से कहे यों
क्या लाल नारद - मुनीन्द्र असत्य भाषे
जो सत्य, तो जगत-नाथ तुम्हें बताते
क्या सूर्य सम्मुख तमांध विकाश पाता ॥२८॥

मेरे हुए यदि रमापति पुत्र प्यारे
तो भी मुझे प्रकृति - पाश न त्यागती है
अज्ञानिनी-सहज - मैं कुछ भी न जाना
काटा गुलाब - तरु कोमल पुष्प होता ॥२६॥

होता प्रकाश रवि - रश्मि जहां दिखाती
तो अन्धकार कब हो उदयाचली में
पै मैं महा प्रकृति शासन शासिता हूं
ज्यों उच्च कूल सरि के जल हीन होवे ॥३०॥

जो राम वास्तविकता यह सत्य ही हो
लोकोक्ति साँच "तल-दीप रहै अँधेरा"
विश्वेश राम-सुत, प्राकृत-अज्ञ-मैं हू
क्या दीप्तिदा मणि न बाहर दीप्ति फेंके ॥३१॥

माया-प्रवाह मुझ में अति वेग का है
मेधा-दुकूल-दृढ़ को, बल से ढहाती
विज्ञान - घाट जल मग्न पड़ा हुआ है
हा, लाल-राम - जगदीश करो न रक्षा ॥३२॥

है तो भुजङ्ग पर रज्जु विशेष माने
हीरा पड़ा रज - रसा - गत-लोष्ट दीखे
शैलोच्च भी घन - घटा दृग दोष से हो
हा राम मैं जगतनाथ तुम्हें न जाना ॥३३॥

होके बड़े सहज छोट रहे गये हो
क्या सिन्धु का सलिल के कण वाष्प होते
क्या वृक्ष बीज बनता बहु रूप में है
माया विकास सब, ब्रह्म स्वरूप ही है ॥३४॥

माता विलोक बहु व्याकुल, राम बोले
तू क्यों पड़ी जननि नारद के कहे में
वे ब्रह्म रूप लखते सब में सदा हैं
ज्यों मध्य सिन्धु जलहीन न वस्तु दीखे ॥३५॥

तेरे विचार मन के मम प्रेम सीझे
वे नेत्र दृष्टि करके अनुकूल मेरे
दी छाप मूर्ति पर भी निज प्रीति की है
ज्यों स्वप्न-दृश्य लग्न जाग्रत की दशा को ॥३६॥

क्या था न मैं शिशु, जिसे जननी न पाला
छोटा रहा अबल, अंब किया सयाना
शिक्षा दिया निशि सदा, कहती कहानी
क्या जन्म श्रीपति धरें, गुणहीन न्यारे ॥३७॥

हाँ बात सत्य यह, तू बहु भाग्यशीला
श्रीनाथ-भक्ति रत सती शुचि कर्म धीरा
तेरे प्रसाद वश हों सब कार्य मेरे
ज्यों धान, मेघ बरसे जल से हरे हों ॥३८॥

क्या विष्णु मान अब करे मम अर्चना तू
हो साधना हरि बनूँ कर चक्र लेके
लाखों मनुष्य दिन रात्रि रमेश ध्यावें
क्या हो विशेष घटना तव संग तेरे ॥३६॥

जो तू मुझे प्रिय स्वपुत्र सदैव माने
आनंद - सिन्धु उमड़े हृद – तीर में आ
वात्सल्यता - लहर प्रीति उतंग बाढ़े
राका - पयोधि बढ़ता शशि को दिखे स ॥४०॥

जो विष्णु जान मुझको कर नित्य पूजा
आराध्य – देव मन मान सदा रिझावे
होंगे प्रसन्न कब निर्भर सत्य सेवा
संतोष वा वर तुझे हरि आप देंगे ॥४१॥

फीकी लगे निरगुणात्मक – ब्रह्म-सेवा
तो पुत्र मान, मम चुंबन क्यों न लेती
प्रेमोपहार तुझको मिल सब जाता
हुंकार धेनु सुन वत्स सुदुग्ध पीता ॥४२॥

तू प्राण से अधिक लाल, बड़ा सयाना
ली मातु चुंबन कहे कि रहस्य जाना
मैं पुत्र ही समझती हृद में लगाऊँ
ज्यों वानरी शिशु दबा उर मध्य गाते ॥४३॥

अथ त्रयोविंशति सर्गः

संस्कृति

इन्द्रवज्रा छंद

श्रीराम बैठे संग बंधुओं के
पूछा तभी लक्ष्मण हाथ जोड़े
आचार नाना नर भिन्न भूषा
धारे हुए देश विदेश में हैं ॥१॥

आचार आधार विचार के है
होता न क्यों एक प्रकार का है
विश्वास विश्वेश विभिन्न होता
पै योनि है एक स्वभाव नाना ॥२॥

श्रीराम बोले प्रिय बंधु से यों
है वर्ग[१] – नाना नर योनि ही में
वे देश औ जाति विभेद से हैं
व्याख्या सुनो मैं तुमको बताऊँ ॥३॥

---

१ समूह।

मालिनी छंद

प्रिय सुत जननी अम्बोधि - आनद थाहे
सवत मन बसा है पुत्र के सौख्य ही में
रघुवर लख शोभा-सिन्धु, हर्षान्विता है
"सिरस" समुद गाता राम की प्रेम-लीला ॥४४॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
द्वात्रिंश सर्गः समाप्तम्

अथ त्रयोविंशत्ति सर्गः

संस्कृति

इन्द्रवज्रा छंद

श्रीराम बैठे सँग बधुओं के
पूँछा तभी लक्ष्मण हाथ जोड़े
आचार नाना नर भिन्न भूपा
धारे हुए देश विदेश में हैं ॥१॥
आचार आधार विचार के है
होता न क्यों एक प्रकार का है.
विश्वास विश्वेश विभिन्न होता
पै योनि है एक स्वभाव नाना ॥२॥
श्रीराम बोले प्रिय बधु से यों
है वर्ग[1] – नाना नर योनि ही में
वे देश औ जाति विभेद से हैं
व्याख्या सुनो मैं तुमको बताऊँ ॥३॥

---

१ समूह ।

प्राधान्य है मानव ज्ञान ही का
आचार औदार्य विवेक बोधी
देशानुसारी रुचि, भाव, होते
पै व्यक्तिता का अपवाद भी हो ॥४॥

आचार आधार विचार के हैं
पै भेद से भिन्न प्रकार के हैं
हैं सात्वकी, औ रज सत्व साने
हो राजसी औ रज तामसी भी ॥५॥

हैं तामसी, मानव - जातियाँ जो
वे क्रूर - कर्मी नर को बनातीं
बॉटी हुई पॉच प्रकार में यों
संसार की मानव - जातिया हैं । ६॥

खाद्यादि भूपा रॅग वेश जो हों
वे देश ही के अनुसार होवे
जैसे नदी - नीर सभी बहातीं
पै भिन्न - धारा, गति, भूमि, होती ॥७॥

संसार को सत्य न, सत्व माने
देखे सभी वस्तु अनित्य ही है
आधार है ज्ञान, विवेक ही का

जो ज्ञान की प्राप्ति करे विवेकी
त्यों त्याग सांसारिक वस्तु से हो
मेधा महा-तीव्र - विचार - बोधी
ज्यों धार चाकू पर सान तीखी ॥९॥

संसार के गुप्त - रहस्य - ज्ञाता
आत्मोन्नती से बनते विधाता
तत्वादि के शासक सृष्टि - स्रष्टा
ज्या बिंदु जा सिन्धु स्वयं बहाता ॥१०॥

श्री कान्त - सेवी शरणार्त होता
सीधे जगाते हरि - ध्यान को है
पाता सहारा प्रभु की कृपा का
ज्यों वायु ऊँचे रज को उठावे ॥११॥

गाते गवाते हरि – गीत गाथा
लीला अनोखी प्रभु की कराते
संसार में सार रमेश को ले
पाया छुये पारस, लोह सोना ॥१२॥

क्या सेतु को नीर - नदी बहाता
क्या वायु मे पर्वत भी हिले हैं
क्या दीप्ति – आदित्य तमिस्र लाती
माया न, मायापति – दास दाबे ॥१३॥

है प्रेम, आत्मर्पित - विष्णु आवें
त्रैलोक्य के नाथ जहाँ बसे आ
घेरे सभी सन्मुख सिद्धियाँ हैं
हो रत्न रत्नाकर में अनोखे ॥१४॥

है बीज का वृक्ष विशाल बाढ़ा
औ मृत्तिका का कण श्वेत हीरा
आकाश का रूप अनंत ही है
त्यों दास जो श्रीपति श्रेय देते ॥१५॥

उर्ध्वाभिगामी जग में रहे यों
ज्यों ताल में कंज न नीर छूता
तोपी तितिक्षी[१] तप तेज तप्ती
है विप्र ऐसा जग - वंद्य अग्री ॥१६॥

सत्यानुयायी शुचि सौम्य श्रोत्री
त्यागी तुरीया - तट के निवासी
सम्पन्न हैं शील क्षमा दया से
वे शांति की मूर्ति परोपकारी ॥१७॥

ऐसे बने अग्र - समाज के जो
आचार में और विचार में भी
प्राधान्य है धर्म - विधान की ही
तो गर्त - माया पड़ता न कोई ॥१८॥

---

१ शीतोष्ण सहने वाला ।

देते सहारा दुखिया - जनों को
कर्तव्य - सीमा निज - धर्म माने
लेता नहीं जो पर - भूमि भूले
होता न स्वार्थी पर अर्थ लेके ॥१९॥

जो अग्रता विप्र विचार की हो
तो ऊर्ध्व की ओर समाज जाता
संसार - ज्ञाता दुख से बचाता
जैसे नदी नाविक नाव खेता ॥२०॥

हैं धर्म साने जग कार्य सारे
प्राधान्य देता उसको सभी में
हैं लोक में पै परलोक दीखे
ज्यों वृक्ष सूखे रस से भरा जो ॥२१॥

जो नित्य नैमित्तिक कार्य सारे
वे धर्म की छाप छुये सभी हैं
श्रीनाथ पूजें मन, देह से हैं
छूता नहीं कूपक१ नीर धारा ॥२२॥

वर्णाश्रमी - धर्म धरे धरा में
आनंद से सर्व स्वधर्म पालें
हैं विप्र आगे करते सफाई
ज्यों अग्रधारा सरिता सहारे ॥२३॥

---
१ नाव का मस्तूल ।

क्षत्री पधारें अवकाश देके
तो कर्म - सीमा उनकी वहाँ हो
कर्त्तव्य रक्षा उनके लिये है
तारावली को शिशुमार[१] थांमें ॥२४॥

हैं वैश्य उत्पादक धान्य नाना
व्योपार से द्रव्य सदा कमाते
मैदान भारी अवकाश लेते
ज्यों पंख हो त्यों गति व्योम पक्षी ॥२५॥

कर्तव्य सेवा जन शूद्र का हैं
होते सहायी त्रय - वर्ण के हैं
लें पृष्ठ में वे अवकाश भारी
अंगाग थाभे पग देह के ज्यों ॥२६॥

संसार की ओर पयान जो हो
तो श्रम - कर्ता बन शूद्र जाता
पीछे रहें विप्र, न अग्र धावें
ज्यों भूमि में मीन न तैरती है ॥२७॥

वर्णाश्रमी - पाश बँधे हुए हैं
पीछे कभी जा सकते नहीं हैं
ज्यों विप्र आगे पग को बढ़ाते
शूद्रादि तैसे बढ श्रम धावें ॥२८॥

---

१ आकाश में तारों का चक्र।

कर्तव्य न्यारे सबके बने हैं
सिद्धान्त है एक परे पधारें
है जन्म औ मृत्यु सदोष दोनों
जो ऊर्ध्व जाता वह मुक्ति पाता ॥२६॥

सिद्धान्त की रज्जु न त्यागता जो
पाता वही मुक्ति क्रमोन्नती से
हो शूद्र ही विप्र बढ़ा चले जो
गंगांबु हो ज्यों जल - मार्ग - गंदा ॥३०॥

सिद्धान्त को त्याग बढ़ा चहे जो
तो कर्म प्रारब्ध सविघ्न आके
दें मोड़ पीछे जग - गर्त में जा
पाता महा दुख न पार होता ॥३१॥

कालादि के चक्र प्रभाव हीं से
कर्तव्य में विप्र न प्रौढ़ होते
चत्री तथा वैश्य न अग्र धावें
पै शूद्र में चाह पयान की हो ॥३२॥

क्या शूद्र आगे बढ़ भी सकेंगे
जो विप्र चत्री रुक्ते जभी हैं
उद्योग सारा उनका वृथा हो
सन्ध्या हुई, प्रात - प्रभा न होती ॥३३॥

जो ब्रह्मवादी द्विज चूक जाते
तो लोक के इच्छुक क्यों न चूकें
सिद्धान्त था ऊर्ध्व पयान का जो
उल्टा चले वे जग ओर धावें ॥३४॥

स्वार्थी बने वे बगमेल दौड़े
कोई किसी का न सहाय होता
चूका जहाँ जो गिर गर्त जाता
हैं मत्त, छीना झपटी करें वे ॥३५॥

अज्ञान - अंधे, हृद स्वार्थ दाबे
पाते टटोले न सगा बिराना
सम्बन्ध नाता सब बांध ढाहे
नाचें, नचावें मन इन्द्रियां हैं ॥३६॥

द्रव्यादि अर्थी धन अन्य का लें
पै राख सकते उसको नहीं हैं
रोगावली, युद्ध, विलासिता में
सो नष्ट होता सुत पौत्र द्वारा ॥३७॥

जाता सभी द्रव्य स्वधाम का भी
बालू बहे ज्यों जल साथ में आ
होके दरिद्री पर - धाम मांगे
ले अन्य की वस्तु स्वअर्थ खोता ॥३८॥

हो द्रव्य से हीन समाज सारा
पाता महा दुख दरिद्रता से
भूखो मरे अन्न न दृष्टि आता
कष्टादि भोगें सुविधान तोड़े ॥३९॥

आके सताती पर-जातियां हैं
वे भी सभी भ्रान्त भविष्य भूलीं
उन्मत्त होतीं मद-पान पीके
आसार१ ही से अवग्राह२ होता ॥४०॥

पत्नी पराये पति में रता है
है कंत मोही पर-कामिनी पे
दोनों विरोधी इक दूसरे के
अन्योन्य-आनंद उन्हें मिले क्यों ॥४१॥

संतान भी जारज युक्ति जोरे
सींची गई इन्द्रिय काम से है
शाखा प्रशाखा बढती सदा है
वे वर्ण औ जाति विधान त्यागें ॥४२॥

होते सभी संकर-वर्ण के हैं
पुत्री पतोहू सुत भ्रात नाता
माने नहीं इन्द्रिय-अंध होके
व्योपार सारा पशु सा किये हैं ॥४३॥

---

१ मूसलधार पानी बरसना, २ बिना पानी का सुपेद मेघ ।

पाता महा दुख समाज सारा
स्वार्थान्धता से नर और नारी
हो भोग भुक्ती विकलाग रोते
ज्यों याद से सभ्य विनष्ट होता ॥४४॥

संघर्ष आचार-विचार का हो
ले ऊर्ध्व जावें वर-विप्र क्षत्री
वैश्यादि भागें जग की दिशा को
रस्सा खिचाई चल-बुद्धि की हो ॥४५॥

जैसे दही को मथती मथानी
संघर्ष त्यों घोर समाज होता
साढ़ी तथा मस्त१ समानता में
आघात से हों इक रूप के वे ॥४६॥

संघर्षता से रस द्रप्स२ होता
उत्पन्न हो यों नवनीत न्यारा
सो नीर का अंश कृशानु पाके
हो दग्ध तो आज्य३ विशुद्ध दीखे ॥४७॥

त्यों जातियाँ भी सब एक होके
संघर्ष को वे करती रहेंगी-
उत्पन्न साढ़ी कर आज्य को ज्यों
त्यों विप्र क्षत्री मिल सत्य साधें ॥४८॥

---

१ दही से निकलने वाला पानी, २ पतला दही, ३ घृत।

हो शेष दण्डाहत१ जातियां जो
संसार का भोग किया करेंगी
दे आज्य सत्री वल देह दूना
औ ज्योति भूदेव प्रदीप देंगे ॥४९॥

तो ऊर्ध्व को ज्योति समाज जावे
हों लोक स्वामी परलोक सोची
आधार हो धर्म विशुद्धता का
आनंद में मग्न सभी रहेंगे ॥५०॥

हों नष्ट सारी सब जातियाँ भी
संघर्षता में बहती मिलेंगी
ऐकीय - उद्देश्य सभी सुहावे
ज्यों आपगा-सर्व, पयोधि धावे ॥५१॥

ज्यों चक्र कालान्तर घूमता है
होती कृपा - श्रीपति की अनोखी
तो चित्त में वृत्ति सुधार आती
घूमे दिशा ऊर्ध्व समाज सो है ॥५२॥

लोकोपकारी जन वृत्ति धारे
कोई न स्वार्थी पर-स्वार्थ सेवी
अन्योन्य आनंद मिले सभी को
दण्डाभिजाती ससमाज होता ॥५३॥

१ मद्दा, ।

धीनाथ की प्रीत प्रतीत चाहें
लोकोत्तरानंद रमेश ध्याये
ऐसी दशा हो सुरत सिद्धता की
अज्ञान जाता मति हो विवेकी ॥५४॥

त्यागी तपस्वी शुचि विप्र होते
लोकोपकारी मति शुद्ध जानें
लेते स्वयं भार समाज का वे
सो पूज्य माने धन धान्य देके ॥५५॥

सम्राट - क्षत्री वर - वंश का हो
आज्ञा उसी की सब भूप मानें
युद्धाभिमानी, पर शांति चाहें
विज्ञान में जीत विदेश को लें ॥५६॥

विज्ञान में विज्ञ विदेशगामी
व्योपार - आचार्य विदेशियों के
हो देश - प्रेमी धन द्रव्य देके
ऐसे बड़े वैश्य महान होते ॥५७॥

हों संयमी - शूद्र समानता में
सम्मान पावें बल वीर्य ही से
रक्षा करें वे त्रय - वर्ण को ले
होवें सभी पूज्य विदेशियों से ॥५८॥

वे मान देंगे द्विज मात्र ही को
सम्मान से पूजित अन्य से हों
दे राष्ट्र को ओज बने सयाने
ज्यों रीढ़ रक्षा कर अस्थियों की ॥५९॥

ऊर्ध्वाभिगामी हरि को पुकारें
दीनोपकारी - प्रभु की कृपा से
शूद्रादि को सौंप विशुद्धता दें
वर्णाश्रयी - मार्ग प्रशस्त दीखे ॥६०॥

जो मात्र हो नास्तिकता प्रगाढ़े
औ हीन आचार विचारता के
संघर्ष ही में सब नष्ट होते
उत्ताल बीची तट रेत फेंरे ॥६१॥

हो सात्वकी राजस तामसी भी
चक्रानुसारी बदले सभी वे
पै बीज का नाश कभी न होता
सोई बढ़ाता निज रूप को है ॥६२॥

है सात्वकी भारतवर्ष आगे
दे आत्म-शिक्षा जग को सदा है
पीछे रहें अन्य विदेश जो हैं
ऊँचे दिखें कूपक[१] नाव के हैं ॥६३॥

१ नाव का मस्तूल ।

जो सत्व औ राजस से मिले हैं
भोगी बने ऊर्ध्व तर्क कभी वे
आचार होता सब राजसी है
क्यों नीर तेरे शिर को उठाये ॥६४॥

वे वीर होते बल वीर्य शाली
युद्धाभिलाषी रण रंग चोखे
विज्ञान के विज्ञ विशाल काया
विद्वान वाग्मी वर - वाण विद्या ॥६५॥

अन्वेषकी औषधि वस्तु नाना
सूक्ष्मातिसूक्ष्मी जग जन्तु के वे
निर्वाह निर्माण पदार्थ से हो
वे स्वाभिमानी निज देश के हैं ॥६६॥

है सत्यवादी, विधि - कार्य-कर्ता
पै कूटकारी निज अर्थ को ले
खोजें सदा नूतन वस्तु नाना
वे खानि से लें मणि रत्न हीरा ॥६७॥

हों शत्रु पै क्रूर न, न्याय दीखें
वे चाहते लें जग जीत सारा
ऐसा सकें क्या कर भी कभी हैं

सन्मान देते सब को बड़ा हैं
व्योपार-विद्या कुशलों बड़े वे
भोगादि भोगें निज वेश धारे
वाणिज्य-शिक्षा परदेश से लें ॥६९॥

सत्यानुयायी निज भाव से हैं
भूपाल को ईश स्वरूप मानें
आज्ञा उसी की जन मान्य होती
आधार आधेय समान दीखे ॥७०॥

युद्धाभिलाषी कर प्राण लेके
जावें जहां युद्ध प्रचंड होता
योधा जुरे युद्ध करें मयाने
वे जीत लें शत्रु छलादिहीं से ॥७१॥

जो राजसी तामसी वृत्ति धारे
हैं वे विलासी वर वाम संगी
नाचें नचावें सँग नारियों के
कामान्ध लज्जा कब जानता है ॥७२॥

कापट्यता पूर्ण स्वभाव होता
मीठे बड़े वाक्य उचारते हैं
पै क्रूर वे अन्तर वृत्ति में हैं
है आम मीठा गुठली कड़ी ज्यों ॥७३॥

६८–६९–७० जापान निवासी सदृश, ७१-७२ फ्रांस सदृश।

ज्यों ऽर्ध्व के अंचल ओर में है
वे सत्य की खोज करें विलासी
पाते पता क्या सतमार्ग का है
आकाश दीखे कब कोठरी से ॥७४॥

हैं अर्थ के साधक वे सयाने
धोखा न पाया नर कौन, ऐसा
हैं मित्र पै शत्रु बने सताते
कापट्य - शिक्षा इनको मिली है ॥७५॥

संसार में श्रेष्ठ स्वदेश माने
उत्थान चाहें निज राष्ट्र ही का
घातें लगाये परदेश छीने
क्या चोर की द्रव्य चुरा न जाती ।७६॥

हो तामसी जो तम से घिरे हैं
वे स्वार्थ आगे कुछ भी न देखें
हो अर्थ का नाश सक्रोध होवे
मारें मरें न्याय न देख पाते ॥७७।

हो स्वार्थ – सीमा न, परार्थ रखें
ले अन्य का अर्थ, स्वअर्थ खोवे
रखा सके क्या कर संग लेके
क्या वायु बंदी उपधान१ में हो ॥७८॥

---

१ तकिया ।

क्या धूम आकाश न उड़ जाता
क्या चक्र संसार न घूमता है
क्या नीर-धारा अचली कभी हो
उत्खातती[1] - मूल न जानती है ॥७६॥
बोले तभी लक्ष्मण मंजु वाणी
श्रीमान है संशय एक मेरे
कीजे समाधान उसे महात्मा
देता यथा है गुरु शिष्य शिक्षा ॥८०॥
सत्वादि में देश बटे हुए क्या
है कौन कैसा सत आदि साधे
क्या तामसी, सत्व गुणादि के हां
क्या सत्व को तामस आ दबाता ॥८१॥
क्या एक ही काल समानता से
होता प्रभावी गुण एक ही है
हो सत्य ऐसा गुण अन्य हो क्या
क्या देश बांटे उनमें नहीं हैं ॥८२॥

श्रीराम जी का उत्तर

है सत्व का भारत केन्द्र न्यारा
औ पूर्व में राजस – सत्व दीखे
है राजसी पश्चिम प्रांत आगे
होता उदीची अति, तामसी है ॥८३॥

---

१ उखड़ा हुई।

जो राजसी - तामस देश नामी
सो हैं मतीची अति दूर - देशी
पै काल के चक्र चढ़े हुए हैं
मैं पराधीन बने सयाने ॥८४॥

हो तामसी, सत्व प्रभाव में जा
औ सत्व भी तामस सा दिखावे
ऐसे, सभी राजस आदि होते
आज्ञा चलाते सब देश में हैं ॥८५॥

होता जभी सत्व प्रभाव भू पै
सो राजसी तामस देश जो हैं
वे सत्व ही के गुण पालते हैं
पै भेद नेरे अति दूर का है ॥८६॥

दोनों दबे राजस तामसी हों
औ सत्व को तामस भी दबाता
हो एक का शासन अन्य मौनी
है एक ही श्रेष्ट वसुन्धरा पै ॥८७॥

पै भेद होता निज रूप लेके
है सत्व पै शासन तामसी का
तो सत्व का अंश कहीं रहेगा
ज्यों नीर थोड़ा सरि ग्रीष्म होता ॥८८॥

जो सत्व से शासित तामसी हों
तो तामसी भाव छिपा रहेगा
ऐसी दशा मिश्रित रूप की हो
हो लाल-रोड़ी मिल हल्दि चूना ॥८९॥

सरकार होते शुचि सत्व के है
सत्वानुयायी हरि के सहारे
संसार के कार्य सभी सँभाले
निर्द्वंद हो बालक देख माता ॥९०॥

जो तामसी-भाव - प्रभाव में हो
स्वार्थांधता - बाढ बड़े सभी में
माने नहीं शास्त्र-विधान को वे
ज्यों रज्जु को तोड महोक्ष[1] भागे ॥९१॥

वे शास्त्र सामाजिक को न माने
औ ईश में भी कुछ हो न श्रद्धा
वे इन्द्रियों के वश भोग भोगें
लज्जा लजीला लख लाड़िली को ॥९२॥

हो वर्ण भी नष्ट समानता हो
क्षत्री तथा विप्र न धर्म पाले
आगे बढ़े शूद्र समाज जाते
पावें प्रतिष्ठा सब में बडे हो ॥९३॥

---

1 बड़ा बैल ।

आचार से हीन, न शास्त्र मानें
हो धर्म का ध्यान न चित्त भूले
स्वार्थांधता श्रेष्ट अभीष्ट होती
माया मदांधी मन गर्व गूथे ॥६४॥

सत्यानुयायी यर विप्र बोधी
श्रीनाथ की जा शरणागतो में
दीनार्त हो देश सुधार चाहें
तो वायु का मंडल ओरही हो ॥६५॥

सत्यादि सम्पन्न समाज होवे
हो शास्त्र में बुद्धि प्रवेश प्रौढ़ी
आचार के शुद्ध, विचार ऊंचे
होवे सभी के, प्रभु प्रीति पोढ़ी ॥६६॥

जो आदि से वायु तुषार को ले
शीतार्त होते पर - देश - वासी
त्यों सत्य के भाव विदेश जाते
सत्यानुयायी बनते सभी वे ॥६७॥

हो व्याप्त भू-मंडल सत्य ही से
धर्माभिलाषी जनता सभी हो
आचार औदार्य विचार ऊंचे
होवें क्षमा शील परोपकारी ॥६८॥

आनंद-अम्बोधि विसार से हो
आह्वान - अल्हाद करें मनीषी
अन्योन्य प्रेमी बन प्रीत जोड़े
कालानुसारी बुध - बुद्धि होती ॥९९॥

स्वार्थांधता द्वेष विरोधी बाधा
ईर्षा लड़ाई मद मोह पीड़ा
देखी न जाती महि में कहीं भी
कैसे तपे ग्रीषम माघ में जा ॥१००॥

नारी पराये पति को न देखें
अन्योन्य हो दम्पति प्रेम पोढ़ा
विश्वास से संशय को दबाया
हो क्यों खटाई जब आम्र पक्का ॥१०१॥

है सत्य ही जो जग से उबारे
लेना सहारा इसका भला है
संसार से मुक्त अवश्य होता
जो चित्त में श्रीपति ध्यान लाता ॥१०२॥

श्री राम से लक्ष्मण वन्द्य बोले
वर्णाश्रमाचार विदेशियों में
पाया न जाता सब एक से हैं
समान्य दीखे सतह्राम्बु में ज्यों ॥१०३॥

जो नीच कर्तव्य करें बड़े के
होता बड़ा सो गुणवान होके
ऊँचा गिरा तो वह नीच होता
आकाश पाताल न मध्य कोई ॥ ०४॥

चाण्डाल है पितृ स्वकार्य साधे
पै पुत्र सर्वोच्च - स्वराज्य का है
कोई न बाधा उस देश में है
जो रोकती नीच न अग्र जावें ॥१०५॥

कर्मानुसारी जन मान पाते
होता नहीं बन्धन जाति का - है
होती नहीं रोक कहीं किसी को
तैरे यथा शक्ति तरंगिणी में ॥१०६॥

क्यों जाति की रोक समाज में हो
छोटे बड़े तो बन कर्म द्वारा
क्यों जन्म से ज्ञाति भवान माने
कीजे समाधान महान – आत्मा ॥१०७॥

श्री राम ने उत्तर दे सराहा
मेधा – महा - उत्तम बन्धु की है
शंका किया युक्ति प्रयुक्ति सानी
प्रश्नावली - तर्क - वितर्क - पूर्णा ॥१०८॥

लोटा बँधा डोर न कूप जाता
कैसे खिंचा निर्मल-नीर आता
जाती न की जो मति-ग्रन्थ-शोधें
तो भेद भारी खुलता न भूले ॥१०९॥

जो देश वर्णाश्रम को न माने
सो भ्रष्ट औ नीच दशा दबा है
नीचाश्रयी भी बन श्रेष्ठ जाता
पै त्याग क्या प्राकृत-भाव का हो ॥११०॥

बौंडी चढ़ी शाख लपेटती है
औ वृद्धि रोके तरु की सदा सो
है विघ्न बाधा फल फूलने में
बालू बहे तो जल शक्ति रोके ॥१११॥

क्या धूल में शक्ति अनन्त बाँधी
दे वायु धक्के उठती तभी है
आकाश में व्याप्त प्रकाश रोके
छोटे बड़े ता दुख दें बड़ों को ॥११२॥

ऊँचे नहीं स्थिरता कभी हो
स्वार्थान्धता से झुक निम्न जाता
त्यागे नहीं प्राकृत-भाव मूर्ख
क्या खोखला वृक्ष रसाढ्य होता ॥११३॥

होता कभी शासक रूप में जो
अन्याय - चालें चलता सदा सो
हो स्वार्थ का साधन सद्य जैसे
तैसा करे कार्य अनीति साना। ११४॥

सामान्य - सम्बन्ध-समाज होता
तो नीच सीधे पहुँचे शिखा पै
होती नहीं मध्य विशेष शोभा
ज्यों ताड़ बाढ़ा न प्रकाण्ड शाखा। ११५॥

श्रेष्टत्वता की गति नीच होती
नीचे गिरे निर्गम – नीर जैसे
ज्यों भूमि आकर्षण वस्तु का हो
त्यों उच्च को नीच घसीटता है ॥११६।

ऐसी दशा में कब ऊर्ध्व जावे
है उच्च जो, नीच समान ही है
बौना बना बालक सा दिखाता
वैदेशिकी व्यूह – समाज वैसा ॥११७॥

छोटी–बड़ी–मीन – तरंगिणी की
पाथोधि–तीमिङ्गिल से बड़ी क्या ?
वैदेशिकी - साम्य-समाज भी त्यों
भू गर्भ – वासी कब स्वर्ग सेवें ॥११८॥

चाण्डाल-चोला - सुत अम्रता ले
श्रेष्टत्वता तौल-समाज की त्यों
ज्यों शक्ति हो त्यों रवराङ्ग बाढ़े
आगे बढ़ाये वह टूट जाता ॥११६॥

होता नहीं भेद, समान दोनो
वे वाम औ दक्षिण हाथ से हैं
ज्यों मीन को है थल दुखदायी
वे ऊर्ध्व को त्यों सुख शून्य माने ॥१२०॥

स्वार्थान्धता से बढ वे न पाते
संसार को सार - विशेष माने
ऊँचा कहाता यह निम्न ही है
क्या बास से भी नर-हाथ लम्बा ॥१२१॥

होती नहीं जाति जहां विभिन्ना
भेड़ी बना पूर्ण - समाज होता
वे एक ही - राग अलापते हैं
औ ऊर्ध्वगामी बनते नहीं हैं ॥१२२॥

सोपान का साधन जो नहीं है
तो लोग कैसे चढते अटा पै
हैं वर्ण त्यों ऊर्ध्व - प्रयाण ही का
यात्रा - बड़ी में टिकते गली में ॥१२३॥

धर्मानुगा - भारत - भूमि - भारी
सत्त्वानुयायी नर हैं यहाँ के
सम्बन्ध सीधे हरि - लोक से है
हीरा भरे अद्रि - विभाग में ज्यों ॥१२४॥

त्यागी तितिक्षु तप तीव्र तोषी
सत्यानुयायी रत धर्म में जो
संसार की ओर न दृष्टि देते
ऊर्ध्वाभिलाषी, जग निंद्य माने ॥१२५॥

वे · भोग में रोग अनेक देखें
सारांश - संसार ,न दृष्टि आता
पक्षी - बसेरा सम काल काटें
वे मुक्त होते जग से सदा को ॥१२६॥

संसार से ले जन जो बिदाई
उत्पन्न हो भारत - भूमि में आ
मेधा - मथानी मन को मथे सो
चांचल्य - चोखी उसकी मिटाता ॥१२७॥

होता अहंकार विनाश .जैसे
आनंद - आत्मा मिलता उसे ,है
मालिन्य - माया न प्रतीर जाती
स्वच्छोदधि में धूल-प्रसार न हो ज्यों ॥१२८॥

क्या जन्म जीवादि नवीन धारें
या जन्म की हैं कड़ियां अनेकों
पूर्वाजिता – गांठ स्वकर्म की है
आधार है जो इस जन्म का भी ॥१२९॥

माता, पिता, वर्ण, स्ववंश जो हैं
रूपादि औ आकृति भाव जैसे
होते यथा पूर्व-स्वकर्म ही से
ज्यों स्रोत है कारण वेग-धारा ॥१३०॥

पूंजी पुरानी अनुसार थैली
खाली भरी कंचन कांच से है
द्रव्यानुसारी क्रय कर्म होते
आधार मिट्टी घट की कहाती ॥१३१॥

प्रारब्ध ही प्रेरक कर्म का है
सो जीव के संचित अंश से है
थे जन्म आगे इस जन्म से भी
सम्बन्ध सीधा क्रम रूप से है ॥१३२॥

जो पूर्व प्रारब्ध न मानते हो
तो जन्म से जीव समान होवें
पै भिन्नता आकृति भाव की है
क्यों भेद भारी रँग रूप में है ॥१३३॥

जो काल औ देश विभिन्नता जो
हो जन्म नाना इक देश ही में
होते तथा एक मुहूर्त में भी
पै भिन्नता हो इक दूसरे से ॥१३४॥

है जन्म से जाति, न कर्म से है
हो कर्म से, आकृति, रूप, को भी
कर्मादि से अन्य स्वरूप धारो
स्वातन्त्र्य का मार्ग खुला हुआ है ॥१३५॥

मालिनी छन्द

जगत-गति बँधी हैं काल--चक्रानुसारी
सत, रज तम के ही रंग में रंग लाती
हरि, भव-भय नाशें, प्रेम से ध्यान लाये
सुकवि सिरस गाता गीत-गोविन्द के हैं ॥१३६॥

इति श्री रागतिलकोत्सव महाकाव्य,
त्रयोविंशति सर्ग समाप्तः

अथ चतुर्विंश सर्गः

नय अनय

इन्द्रवज्रा छंद

श्रीराम भूप - विदेश - देशो
की लांचना संसद[1] राष्ट्र की हो
हो न्याय अन्याय विशेष चर्चा
कल्याण - शिक्षा रघुनाथ दीजे ॥१॥

थे चक्रवर्ती - रघुनाथ - नामी
की मन्त्रणा संग सुमन्त्रियों के
"है विश्व-कल्याण, अवश्य कीजे"
ऐसा किया निश्चय मंत्रियों ने ॥२॥

आगार निर्माण अनेक कीन्हें
उल्लोचर[2] नाना उपकारिका[3] थीं
पत्रोण[4] पीले बहु रंग के थे
थी स्वर्ग ही सी नगरी - नवीना ॥३॥

---

१ सभा, २ सामियाना,-चदवा, ३ राजों के रहने योग्य कपड़े के तम्बू, ४ धुले हुए रेशमी कपड़े ।

यन्त्रादि लागे जल के वहा थे
था उष्ण औ शीतल-नीर-न्यारा
थी वाटिका - वृन्द निकेत घेरे
पुष्पावली थी बहु भांति की भी ॥४॥

घटा पथों की अवली अनेकों
चारों दिशा व्यूह समान फैली
ऐरावती१ की तरु - दीप - पंक्ती
थी मार्ग औ धाम प्रकाश देतीं ॥५॥

चौड़े बड़े थे पथ वाहनों के
थे पार्श्व में मार्ग पदाति के भी
चौराह में सूचक - मार्ग लागे
घटा - पथों में प्रहरी खड़े थे ॥६॥

वे वाहनों को भिड़ने न देते
चौराह के चालक थे सयाने
श्रीराम थे चौदह - लोक - स्वामी
आश्चर्य क्या पत्तन२ स्वर्ग सा था ॥७॥

भूपाल आये बहु देश के थे
थे भिन्न भूषा वपु वेश वाले
थी भिन्न भाषा उनकी विदेशी
पै राष्ट्र भाषा सब बोलते थे ॥८॥

---

१ [illegible] २ [illegible]

श्री देव – वाणी शुचि राष्ट्र भाषा
बोली सभी देश विदेश जाती
प्रांतीय - भाषा सरि - भिन्न नाना
थी मेघ – वर्षा इव राष्ट्र - भाषा ॥६॥

वंगांग१ पंचानद२ चोल३ चेदी४
थे आन्ध्र५ औ केकय६ पाड्य७ ओड्र८
चम्पा९ महाराष्ट्र विदर्भ१०-वासी
सौवीर११ काश्मीर विदेह ज्ञाता ॥१०॥

कौमार१२-द्वीपी पशुशील१३ क्रौंची१४
सूर्यारिका१५ थे बहु इन्द्रद्वीपी१६
तुरुष्क१७ थे मारक१८ ब्रह्मदेशी
गांधार१९-गर्वी. रुष२०, पारटो२१ थे ॥११॥

वाल्हीक२२ आवर्त२३ तुखार२४-तोषी
पारस्य२५ थे बहुचरी २६ अनेकों
आये सभी देश नरेश नाना
प्रेमी बड़े श्रीरघुनाथ के थे ॥१२॥

---

१ वंगाल-विहार, २ पंजाब, ३ कर्नाटक, ४ चदेरी, ५ तिलगानो, ६ हिरात, ७ मलाबार, ८ उड़ीसा, ९ भागलपुर, १० बरार ११ सिन्धुदेश, १२ अमेरिका, १३ पोर्तगाल, १४ जरमनी, १५ अफ्रीका, १६ इंगलैंड, १७ टर्की, १८ डेनमार्क, १९ कन्धार, २० रूस २१ चीन, २२ बलख, २३ अरब, २४ बुखारा, २५ ईरान २६ इटली ।

आतिथ्य-सत्कार विचित्र ही था
जो था जहा का उस रूप में था
आश्चर्य में थे नृप वृन्द नाना
थीं वे पुरी में निज, या अयोध्या ॥१३॥

थीं नाट्यशाला बहु नाटकी थे
थी नायिका नृत्य करे नताङ्गी
आमोद नाना नव – नित्य ही थे
जो देखके लज्जित इन्द्र होते ॥१४॥

देते वहां थे नट सौम्य शिक्षा
सत्मार्ग – सेवी बनते सभी थे
क्या न्याय अन्याय विपाक होता
क्या सत्य से सौख्य मनुष्य पाता ॥१५॥

क्या कर्म- निष्काम–विपाक लाता
क्या काम्य१ का था परिणाम होता -
ससार का बधन बासना है
वे थे दिखाते सब नाटकों में ॥१६॥

शृंगार के भेद विभेद जो हैं
वे दृश्य में ही सब देखते थे
आनद देतीं नव - अङ्गना आ
थीं अप्सरा सीनटिनी – नवोढ़ा ॥१७॥

---

१ कामना से किया गया कर्म

हास्यादि शोभा, करुणा कहानी
युद्धाभिलाषी वर - वीरता का
शौर्यादि के दृश्य सभी दिखाते
सानद थे दर्शक देखने में ॥१८॥

श्रीराम औ बंधु सभी सखा से
आनद देते प्रति भूप को जा
थे प्रेम मे वद्ध, अवद्ध होके
है चित्त जो शुद्ध प्रशाति पाता ॥१९॥

आयोजना थी नृप - वृन्द ही की
श्रीराम आके कृपया बतावें
अन्याय औ न्याय विशेष क्या है
दोषी, अदोषी, परिणाम हो क्या ॥२०॥

होती सभा थी सब भूप आये
विद्वान वाग्मी बुध वैश्य क्षत्री
थे शूद्र सेवा - रत - बुद्धिशाली
हो शुद्ध-आत्मा सुख दौड़ आता ॥२१॥

श्रीराम बोले मृदु - वाक्य-वाग्मी
विद्वान - नाना - नृप हैं सयाने
संकोच हो पै शिर मान्य आज्ञा
ज्यों भारती प्रेरित उक्ति आनी ॥२२॥

जो भाग्य – भोगी सतसंग पाता
हो सत्य - सेवी बन शुद्ध–आत्मा
आचार औ शुद्ध – विचार होते
तो धर्म - धारा बहती वहाँ है ।।२३।।

प्राचीर - पोढ़ी दृढ़ धर्म की हो
तो शांति औ न्याय निवास देती
त्यागी तितिक्षी जन को बनाती
ज्यों कोपलों से फल फूल आशा ।।२४।।

जो रोष – दोषी, सतसंग द्वारा
शिक्षा मिली थी क्षमता क्षमा की
हो शीलशाली[1] सुख अन्य को दें
पानी रुके, ऊसर खेत होता ।।२५।।

ज्यों वृक्ष होता शुचि आम्र का है
शाखा प्रशाखा फल फूल लागे
पक्षी, पथी जो जन पास जाता
वे भेंट दें मिष्ट - रसाल - पीले ।।२६।।

त्यों न्याय को जो जन मान देता
सत्कार से ला हृद में बसाता
पाता सभी लोक प्रमोद नाना
ज्यों दुग्ध पीता गृह धेनु पाले ।।२७।।

---

१ विनीत नम्र ।

आनंद पाता परलोक में जा
औ भोग भोगे सुख सौख्य नाना
मर्याद - सीमा न उलंघता जो
कैसे मिले दुःख, सुमार्ग सीधा ॥२८॥

जो न्याय का पालन पात्र होता
हो शांत गंभीर विवेक बोधी
मर्याद बांधे मन न्याय - घेरा
जाता नहीं बाहर भूल से भी ॥२९॥

हो चित्त में क्षोभ न लाख लाये
लोभादि गंदा मल ही बहाता
जाता न नेरे दृढ़ वृत्ति - धारे
क्या बाढ़ में कूल बचे नदी के ॥३०॥

हो सत्य - सेवी सत्मार्ग जाता
लागे न काटा उसके कभी भी
आगे बढ़ा चित्त अभीष्ट पाता
ले नीर - गंगा, जल - कूप त्यागे ॥३१॥

सत्मार्ग से जो मुड़ता नहीं है
अन्याय-आंधी कर ही सके क्या
है मूल - मोटी - दृढ़ता - रसीली
सिद्धान्त सोधे बनता विरोधी ॥३२॥

हो जो विरोधी, संग न्याय लेके
अन्याय से शत्रु न दण्ड देता
मर्याद आगे बढ़ता न भूले
वीनाह१ से कूप गिरे, बड़ा जो ॥३३॥
त्यागे सगे को जब न्याय पीछे
तौले तुला में नय - वृत्ति धारे
जो निम्न जाता उसको हटाता
आत्मीयता का न विभेद राखे ॥३४॥

वंशस्थ छंद

कपाय२ की जो परिपक्वता हुई
मलीनता हो पतभार पत्र ज्यों
प्रभाव होता षडवर्ग का नहीं
निशांत में भास्कर का प्रकाश हो ॥३५॥
प्रशांति का अंकुर चित्त में उगे
यही बड़ा कोंपल सत्य का हुआ
पलाशता - पल्लव - धर्म की हुई

मिलिंद - मानी नत मस्तकी हुए
अजस्रता गुंजन - कीर्ति छा रही
सतिक्त-फैरी-सुरस लोक की लगी
विमूढ़ खाते पकने न दें उन्हें ॥३८॥

सुकाल पाये पक प्रौढ़ता हुई
रमेश का प्रेम – प्रसाद पा गया
मुमुक्षु होके रस - राग त्यागता
सुपुण्य का बीज जगे अनेक हों ॥३९॥

फलादि पोषी परिवार प्रौढ़ हो
सुपुत्र औ पौत्र प्रिय। प्रपौत्र भी
तथा धनाशा परिपूर्ण प्राप्ति से
न अन्य भूखे रहते वहां गये ॥४०॥

शरीर - अष्टांग - सकर्म सूक्ष्म जो
उठा चला विद्रत - शक्ति साथ ले
प्रशांति हो प्राप्ति यथार्थ लोक में
स्वधाम विश्राम श्रमी करें यथा ॥४१॥

रमेश के रंग रँगा हुआ चले
विहीन आशा परिपूर्ण भक्ति ले
विराग औ राग प्रभोग योग भी
बने न साथी तन त्याग काल में ॥४२॥

कहाँ व्यथा दे धन द्रव्य कामिनी
कहाँ धरा देश नरेश दासता
पयोधि-वीची कण का हिलाव क्या
वसुंधरा व्योम प्रकंप हो कहाँ ।४८॥

अदिव्य-तत्वादि न जा सकें वहां
प्रदिव्यता-दीप्ति दिखा सभी रही
अचेत औ चेतन चित्त चेत में
हिलाव होता सब ज्ञात हो रहा ॥४६॥

न यन्त्र सम्बन्ध न तार है वहां
न वायु, आकाश, न नीर मेदिनी
प्रबंध पूरा सब दिव्य शक्ति से
हिसाब कौड़ी कण का सदा रहे ॥५०।

अपार आनंद समीर सा बहे
सुगंध आलौकिकता मिली हुई
क्षुधा त्रपा सी छिपके कहां गई
विचार थोरे मन वासना नहीं ॥५१॥

स्वसृष्टि स्रष्टा गुण तीन से परे
अमंद द्रष्टा जग जन्म मृत्यु का
विलेप था शासित, आज शासकी
अनेक ब्रह्मांड - नरेश हो गया ॥५२॥

तुषारता - भक्ति सरोज कर्म को
जला दिया प्रेम - प्रशीत में भले
विनाश होते मन इन्द्रियां सभी
विशुद्ध बोधी तब जीव हो गया ॥४३॥

कृपा लिये गोद सुभक्त को चली
प्रयाण में पितृ, सुरेश, आ मिले
प्रसन्नता दर्शन प्राप्ति से हुई
अजेय, जीता परलोक लोक को ॥४४॥

विचित्र वैकुंठ निवास में गया
मुनीन्द्र श्रीनारद भक्त मान दें
प्रसन्न हो माधव अंक में लगा
कहा रहो शांति अनत पा गये ॥४५॥

वैकुंठ

विशाल वैकुंठ न आदि अंत का
विवर्त ब्रह्मांड प्रकांड पुंज से
घिरा घना है घन श्याम घोष से
पुरी यथा विद्युत - धाम से बँधी ॥४६॥

तृणादि का भी हिलना कहां हुआ
कहाँ किसी के मन वासना जगी
मनोज लोभादि किसे दबा रहे
कहां मड़ा मूढ़ महान मान ले ॥४७॥

कहाँ व्यथा दे धन द्रव्य कामिनी
कहाँ धरा देश नरेश शाश्वता
पयोधि-वीची कण का हिलाव क्या
वसुंधरा व्योम प्रकंप हो कहाँ ।४८॥

अदिव्य-तत्वादि न जा सकें वहां
प्रदिव्यता-दीप्ति दिखा सभी रही
अचेत औ चेतन चित्त चेत में
हिलाव होता सब ज्ञात हो रहा ॥४९॥

न यन्त्र सम्बन्ध न तार है वहां
न वायु, आकाश, न नीर मेदिनी
प्रबंध पूरा सब दिव्य शक्ति से
हिसाब कौड़ी कण का सदा रहे ॥५०।

अपार आनंद समीर सा बहे
सुगंध आलौकिकता मिली हुई
क्षुधा तृषा सी छिपके कहां गई
विचार बोरे मन वासना नहीं ॥५१॥

स्वसृष्टि स्रष्टा गुण तीन से परे
अमंद द्रष्टा जग जन्म मृत्यु का
विलोप था शासित, आज शासकी
अनेक ब्रह्मांड - नरेश हो गया ॥५२॥

सहस्र - आदित्य प्रकाश हो वहाँ
सहस्र – शीतांशु प्रशीत शांति है
दिवा निशा हीन, विहीन वासना
अजस्र आनंद अमंदता रहे ॥५३॥
न लोकपालादि सुरेश जा सकें
न दूर नेरे, पड़ता न दृष्टि में
मुकुंद का चक्र सदा चला करे
अनंत का अंत भला किसे मिला ॥५४॥
स्वतन्त्र हो भक्त अखंड रूप में
सदैव श्रीनाथ समीप में रहे
कृपालु श्रीकान्त स्ववेश भाव दें
सहस्र - स्वाराष्ट्र[१] प्रभोग भोगता ॥५५॥
अनेक ब्रह्मांड विलोकता रहे
प्रसन्न साक्षी सदभाव श्रोत का
मुकुंद का प्रेम प्रमोद दे सदा
प्रकाश हो विद्युत - धाम से यथा ॥५६॥

अन्याय

दिवान्त-अन्याय प्रकाश हीन है
उलूक देखे वह अंधकार में
परंतु क्या सूर्य - प्रभा विलोकता
न रंग पाता वह, व्योम क्या उड़े ॥५७॥

---

१ इन्द्र।

प्रवृत्ति जो तामस राजसी मिली
शरीर के भोग विहार ही रुचे
सुस्वाद जिह्वा-रत भोज्य-वस्तु में
प्रमोद संगीत सुवाद्य नृत्य में ॥५८॥

मयूर भेकी बरसात वृद्धि हो
वढ़े वढ़ाये खडवर्ग - बाढ़ त्यों
कुबुद्धि से मोह प्रलोभ क्रोध से
सकाम - कामी मद मत्तता मढ़े ॥५९॥

पदादि, विद्या, धन, रूप, शौर्य का
रहे नहीं नव कभी स्वसग में
विनाश होते रहते सदा नहीं
पथी मिला मार्ग न वधु-प्रेम हो ॥६०॥

जमा लिया जंगम१-वृत्त चित्त में
विनीत - व्योपार-विहग भागता
तले न छाया सुख कौन पा सका
बढ़ा महा-ताड़ न आड़ दे सका ॥६१॥

प्रलोभ - वीची उठ सिन्धु-चित्त में
विमोह आंधी – बल वृद्धि दें वहाँ
न संग आया तब कौन जा सके
नया बनाया परिवार यद्ध है ॥६२॥

---

१ वधिक की टट्टी ।

स्वगोत्र की आड़ न राख वे सकें
कुबुद्धि कामी मन इन्द्रियांध हैं
न देख पाता पशु सा स्वसा सगी
पवित्र, जूठा, मन श्वान भेद क्या ॥६३॥

स्वगोत्र मर्याद-विनाश जो किया
स्ववंश का कारण नाश का हुआ
अछिद्र था बांध, प्रबद्ध – नीर था
खुला कि खाली जल-धर्म होगया ॥६४॥

अनीति से उन्नति अल्प काल हो
पयाल - ज्वाला बढ़के बुझे यथा
न मान पाता अभिमान जो करे
न अंग छाया पकड़े मिले कभी ॥६५॥

नरेश - लोभी पर - देश छीनता
अधीन होता बल – हीन भूप है
अनीति से वीर बना प्रचंड है
स्वभूमि खोता कुछ काल में वही ॥६६॥

प्रजा सताता धन द्रव्य के लिये
बलात् लेता, निज कोष वृद्धि दे
स्वद्रव्य होती व्यय, अन्य जांचता
पदार्थ प[illegible] मह[illegible] वि[illegible] ने ॥६७॥

न मोह औ लोभ न कोर काम भी
न गर्व ईर्षा वश चित्त को करे
अजेय ये हैं छलते मुनीन्द्र को
कहो भला पामर जीव क्या करे ॥७८॥

अवश्य ऐसे बल - वीर हैं सभी
गजेन्द्र क्या पार पयोधि जा सके
रमेश की भक्ति-विभूति जो लगी
छिपें यथा प्रात उलूक ध्वान्त में ॥७९॥

नरेश होना जग दृष्टि श्रेष्ट है
परंतु घेरें षड्वर्ग जोर से
नितम्बिनी—योषित अग्र को किये
प्रवेश पाते युवराग भर में ॥८०॥

अभिन्न ये हैं इक संग सर्व हैं
बढ़ा जहाँ एक, प्रसुप्त अन्य हो
प्रलोभ आता जब अग्र में कभी
विमोह थांभे उसको रहे सदा ।८१॥

हुआ जहां काम प्रभाव अग्र है
प्रसुप्त हो क्रोध, सगर्व लोभ भी
विमोहता मंद न हो नितम्बिनी
सदा सहायी बन प्रेम रूप में ॥८२॥

अनीति की दौड़ न दूर की रहे
नरेश - नाना रण – रंग में रँगे
कुकर्म से बुद्धि विनाश होगई
स्वदेश खोया मृत सा पड़ा कहीं ॥७३॥

कुकर्म ही का फल ध्वान्त दुख है
न वारि पाता मृग दौड़ता रहे
परन्तु तृष्णा बुझती न उष्ण में
करे यथा कर्म तथा विपाक हो ॥७४॥

विशिष्ट मर्याद विचार से बँधी
उलंघता है यदि गर्व – अंध हो
अवश्य भोगे दुख, दैन्य दाबता
निकेत से बाहर घाम घोर हो ॥७५॥

अनीति के ये षडवर्ग मूल हैं
बढ़े जहां तो रुकती कुरीति है
अधर्म बाढ़े मति हो तमोगुणी
विनाश होता जब पाप वृद्धि हो ॥७६॥

मनुष्य पारब्ध परे न हो सके
स्वतन्त्रता, व्यक्ति – विचार की उसे
निदाघ में उष्ण जलाक जोर हो
उशीर क्या शीतलता न दे वहां ७७॥

न मोह औ लोभ न क्रोध काम भी
न गर्व ईर्षा वश चित्त को करे
अजेय ये हैं छलते मुनीन्द्र को
कहो भला पामर जीव क्या करे ॥७८॥

अवश्य ऐसे बल - वीर हैं सभी
गजेन्द्र क्या पार पयोधि जा सके
रमेश की भक्ति-विभूति जो लगी
छिपें यथा प्रात उलूक ध्वान्त में ॥७६॥

नरेश होना जग दृष्टि श्रेष्ठ है
परंतु घेरें षडवर्ग जोर से
नितम्बिनी-योषित अग्र को किये
प्रवेश पाते युवरांत - भूप में ॥८०॥

अभिन्न ये हैं इक संग सर्व हैं
बढ़ा जहाँ एक, प्रसुप्त अन्य हो।
प्रलोभ आता जब अग्र में कभी
विमोह थांमे उसको रहे सदा। ८१॥

हुआ जहां काम प्रभाव अग्र है
प्रसुप्त हो क्रोध, सगर्व लोभ भी
विमोहता मंद न हो नितम्बिनी
सदा सहायी बन प्रेम रूप में ॥८२॥

प्रभाव में ले मन को, सुबुद्धि के
चले जहा रोक लगी विचार की
सदैव रोकूँ बल - नाम - इष्ट ले
यथा यजी विद्युत - घंटिका छुये ॥८८॥

विशेष - अभ्यास अनेक वर्ष लों
किया, हुई बुद्धि प्रभाव कारिणी
अभिन्न होके मन बुद्धि में बंधा
न वासना वासित ज्यों विराग हो ॥८९॥

किया बड़ा संयम या प्रशांति का
विवेक से बुद्धि विशुद्ध हो गई
न वासना भोग पदादि को जगी
मयूरनी है षडवर्ग मेघ की ॥९०॥

सुशीलता, सत्य, स्वधर्म - बीज हो
जमे बढ़े अंकुर वृक्ष रूप हो
मदादि, छाया छुप हो छिपे पड़े
न नाश होते जब लों शरीर है ॥९१॥

विवेक-विद्या - बल बोध भी बढ़ा
असार संसार न सार दीखता
विचार विस्तार सदा बढ़ा चले
सुबुद्धि ही से मन जीत था लिया ॥९२॥

अहं बचा सो पवि सा कठोर था
बने यही कारण अन्य शेष का
विवेक – विज्ञान-विचार से दबा
स्वव्यक्ति का बंधन ढाल होगया ॥६३॥

समष्टि[१] की वृद्धि हुई स्वचित्त में
स्वव्यक्तिता त्यों काम हा चली वहां
सुबुद्धि साधे , उपकार को सदा
अस्वार्थ ही स्वार्थ समान दीखता ॥६४॥

अनेक को एक प्रभाव में लिये
बढ़ा चले चेतन औ अचेत ले
समग्र संसार अधीन होगया
यथा बड़ा शैल, – शिखा तथा बढ़ी ॥६५॥

प्रभावकारी – जन-अग्र-गेन्द्र हो
अमोघ-आज्ञा अगुणी गुणी सभी
सहर्ष मानें उसके अधीन हो
कुटुम्ब-नेता सब को सँभाल ज्यों ॥६६॥

जहां कहीं कष्ट निकृष्ट दीखता
विचार ले कारण स्वारम मूल में
सुधार देता सब कष्ट नष्ट हो
न धूर हो अग्नि बुझा दिया जहां ॥६७॥

---

१ सब का समूह, कुल एक साथ ।

— पडी जहां गांठ कुत्वार्थ – चित्त में
न छूटती ऐंठन हो कठोरता
उपाय हैं केवल काट दो उसे
अदोषता का तब रूप शुद्ध हो ॥९८॥

विचार बाह्य तृण, वृक्ष, वाटिका
पयोधि, औ पर्वत, नीर, रेत में
विलोक तत्वादि स्वदृष्टि–दिव्य में
अचेत औ चेतन देख वे पड़ें ॥९९॥

प्रयोग – अभ्यास किया करें सदा
वही बने साधन सिद्धि का वहां
मुझे न होता सुख दुःख व्यक्ति का
सदैव आकाश समान ज्यों रहे।१००॥

विचार हो जो मम चित्त में जहां
प्रजा स्वयं बात विचारती वही
न द्वैत भूपाल, प्रजा विलोकती
अभिन्न - आकाश प्रभेदता नहीं ॥१०१॥

प्रजा दुखी, भूप सुखी बना हुआ
अवश्य खींचा कुछ भाग है गया
दुखी सदा हो सुख ओर को चले
सुखी रहे क्यों दुख अन्य को दिये ॥१०२

प्रजा सुखी, औं दुख भूप पा रहा
आयोग्यता शासन की दिखा रही
प्रमत्त - भूपाल स्वयं न शासकी
प्रबंध-भूलें-अधिकारि - वर्ग की ॥१०३

नरेश न्यायी निज कार्य को करे
प्रबंध देखे अधिकारि हाथ से
विधान की पालनता कहां नहीं
अवश्य पूछे मत मन्त्रणा लिये ॥१०४॥

हुई प्रशंसा सब ओर से जहां
प्रशांत - आत्मा रघुनाथ की महा
हुआ बड़ा लाभ नरेश यों कहे
सुरत्न रत्नाकर में मिले हमें ॥१०५॥

मालिनी छंद

प्रमुदित यश गावें राम का भूप सारे
रघुवर रुख दीखें चित्त में चाहना है
अब प्रभु हमको आनंद-दाता तुम्ही हो
वर ऋतुपति पाके गीत गाती पिकी है ॥१०६॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
चतुर्विंश सर्ग समाप्तम्

अथ पंचविंश सर्गः

व्योम – विहार – वर्णन

वंशस्थ छंद

विनीत - वाणी - नृप-वृन्द बोलते
"भवान-आज्ञा भ्रमणार्थ चाहिये
हिमाद्रि कैलाश अनेक प्रांत में"
प्रसन्न हो राम, विमान को बुला ॥१॥

कहा, चलो देश अनेक देख लो
प्रभात ही उत्तर का प्रयाण हो
मुहूर्त यात्रा – शुभदायिनी बड़ी
महान - आनंद सदा सभी मिले ॥२॥

पुष्पक विमान

विमान था पुष्पक जो कुबेर का
गया मँगाया नृप - वृन्द के लिये
विराम हो व्योम - विहार में नहीं
अनत - आनंद अनंत आँकता ॥३॥

महोन्नतांगी - मणि मंजु पुंज का
अनेक आगार विचित्र आकृती
विशाल-शाला१ शतमन्यु२ शांतिदा
महीप्रसा मार्जित३ मान४ नाक५ का ॥४॥
अजीव-जीवी दिव६ दिव्य-शक्ति का
मनोज्ञ७ माहेन्द्र८ महत्व से मढ़ा
अनंतता अंत अनंत की वता
प्रवेगगामी मन - नंद जीतता ॥५॥
प्रवीणता मानस - ज्ञान की चढ़ी
बिना बुलाये उड़ता अभीष्ट को
आदित्य भी दिव्य हुआ चढ़ा जहां
विशेष - विज्ञान सजा विमान था ॥६॥
अपारता पार न पंक्ति - पुंज दें
न रिक्तता - भाग समेट कोटि लौं
विनोद-शाला नट नृत्य की जहां
अलक्ष्य, हां लक्षित लक्ष अप्सरा ॥७॥
विषाद-बाधा-बल को विनाशता
प्रमोद-प्राकाम्य९ प्रभूत१० प्रेरता
अपार आनंद न मंद हो कभी
विमान ऐसा सुर-शीश-स्वर्ग था ॥८॥

---

१ सभा, २ इन्द्र, ३ साफ, ४ नाप, ५ आकाश, ६ स्वर्ग, ७ सुंदर,

विहीनता - वाहक थी विमान में
स्वयं चले चालक चेतना बिना
अदृष्ट दृष्टा दुख दोष दावता
विहायसी१ - वाहन किन्नरेश२ का ॥९॥
अनार नारंगि रसाल यूप३ थे
प्रियाल४ जम्बू कदली सुधा मनो
विभिन्न द्राक्षा५-दल-पुंज चोरिका
छुहार अक्षोट फलादि लाङ्गली६ ॥१०॥
अनेक मिष्ठान्न प्रकार भिन्न के
मरीच शुण्ठी पृथु हिंगु सैन्धवी
पदार्थ नाना रुचि चित्त चित्त के
लिये खड़े पार्षद दिव्य देव थे ॥११॥
प्रकार नाना शुचि इष्टगंध७ ले
सुगंधवाहा८ बहती विमान में
प्रवेश हो पुष्पक द्वार पुंज में
प्रसन्नता प्रेरत पंक्ति पंक्ति में ॥१२॥

हिमालय पर्वत

विमान आकाश अलक्ष हो गया
चला उदीची दिश शीघ्र चाल से
हिमाद्रि के ऊपर व्योम में खड़ा
मनो बना मंदिर था अनंत में॥१३॥

१आकाश, २कुबेर ३सदतूत, ४चिरौंजी, ५अंगूर ६नारियल, ७खुशबू, ८वायु।

विलोकि ये रूप हिमाद्रि श्वेत है
उतंग फैला दिश - पूर्व प्रांत में
विभिन्न नागा-गिरि नाम भी कहे
शरीर के अंग भुजा कपोल ज्यों ॥१४॥
चला प्रतीची दिश भी गया तहां
विभाग दे कैकय औ स्वदेश को
तुषार - सेवी शिखरोच्च हैं महा
मनोज्ञ - कैलाश निवास शंभु का ॥१५॥
तुषार ही सार प्रसारता महा
अपार है 'औषधि गुल्म मूल भी
विहंग नाना पशु-वन्य - हिंसकी
करें महा - साधन सिद्ध साधकी ॥१६॥
गिरीन्द्र गौरी१-शिव-नाम कूट है
महोच्च श्वेताम्बर ओढ़ के खड़ा
बता रहा देव महेश हैं बड़े
बड़ा बना है पहुंचा अनंत में ॥१७॥

तिब्बत

उदीच्य में तिब्बत - शीत-देश है
मनुष्य मैले भ्रमणार्थ घूमते
वनौषधी कम्बल माणिमन्थ२ को
लिये हुए भारतवर्ष बेंचते ॥१८॥

---

१ गौरीशंकर शिखर; २ निमक।

ब्रह्मदेश

चला अवाची[१] दिश ब्रह्मदेश को
जहां दिखाया सरिता इरावदी
प्रवेग - धारा बहती प्रसार में
मना रसा की रस - राशि रूप है ॥१६॥

सउष्ण है मध्य - प्रदेश ब्रह्म का
परंतु हो शीत हिमंत में बड़ा
अनेक हैं पर्वत - खानि - धातुदा
मनुष्य हैं सुन्दर पीतरंग के ॥ ०॥

चीन देश

बढ़ा उदीची[२] दिश चीन आ मिला
सुदेश - प्राचीन प्रसार में बड़ा
हिमंत में वायु तुषार ले बहे
प्रतीच्य के पर्वत वातु से भरे ॥२१॥

सुवर्ण, चांदी, बहु ताम्र लौह भी
मिले यहां पुष्कल, - भूमि-रत्नदा
नदी -'नतङ्गी-अभिसारिका बनी
नदीश के पास चली सप्रेम से ॥२२॥

---

१ दक्षिण दिशा, २ उत्तर।

जापान

उदीच्य-प्राची दिश ओर को बढ़ा
प्रसन्नता रोचिप१ देख के हुई
महीध्र-ज्वालामुख, वन्य भूरि है
विभिन्न हैं चार प्रदीप देश में ॥२३॥

यही कहाते मिल देश एक है
कुशाग्र - मेधा नर शीलवान हैं
विनीत व्योपार प्रवीण नाविकी
नितम्बिनी सुंदर रूप की सती ॥२४॥

साइबेरिया

उदीच्य औ पश्चिम ओर को मुड़ा
यही कहाता रुप२ - उत्तरांग है
प्रदेश तुन्द्रा अति पंकली महा
न जीव कोई बसते त्रिकाल में ॥२५॥

प्रदेश तैगा पशु - वन्य - जीव हैं
सउर्वरा - भूमि प्रदेश सावन
महीध्र - माला, मरु पूर्ण देश है
नदी यनेसो, अय्‌लेन, ओब, है ॥२६॥

---

१ जापान, २ रूस का साइबेरिया प्रदेश ।

रूस

चला प्रतीची रूप१ देश आ मिला
उदीच्य भू-भाग तुपार से मढ़ा
न सूर्य दीखे, पट-मास रात्रि हो
अपूर्व है विश्व 'प्रदेश का यही ॥२७॥
न दूर है लाप२-प्रदेश सिन्धु के
मनुष्य, भक्षी जल-कीट-मत्स्य के
विसार—दुर्गन्ध शरीर से उठे
करें यथा कर्म तथा विपाक हो ॥२८॥
प्रतीच्य औ दक्षिण प्रांत में बसे
मनुष्य योधा चढ़ते तुरंग पै
स्वगुन्त३ को छाछठ हाथ फेंकते
सुअन्नदायी तट-पोल-भूमि है ॥२९॥
मनुष्य साधारण—बुद्धि के यहां
अधीर होते रण में कभी नहीं
तुपार-तोपी, न हिमन्त में कँपे
परन्तु कांपे मन, क्रोध से तपा ॥३०॥

जरमनी

विमान जा क्रौंच४ समीप में गया
मनुष्य हैं वीर सुधीर विज्ञ ये
नवीन विज्ञान गवेषणा करें
अनेक भाषा, लिपि लेख को पढ़ें ॥३०॥

---

१ रूस देश, २ लापलेंड, ३ अपने भाले को, ४ जरमनी।

इंगलैंड

समुद्र घेरे इस इन्द्रद्वीप[१] को
सदैव रत्ता करता त्रिद्वीप की
मनुष्य गम्भीर विशेष, सभ्य हैं
स्वदेश प्रेमी वलि रक्त की करें ॥३२॥

परन्तु स्वार्थी निज अर्थ के लिये
न सत्य सीमा हित धैर्य धारते
प्रसिद्ध नेता सब कूट नीति में
प्रवीण व्योपार विशेष नाविकी ॥३३॥

फ्रांस

तुहाकर में वेश विशेष रूप से
सँवांरते हैं नर औ नरी सभी
प्रसिद्ध आभूषण पाट-वस्त्र में
विनीत—वाणी वदते प्रवीण हैं ॥३४॥

महान-द्राक्षा-वन से सुरा बने
प्रदेश है दक्षिण उष्णता लिये
उदीच्य में शीतलता बड़ी रहे
विलास प्रेमी नर नृत्य गीत के ॥३५॥

---

१ इंगलैंड, २ फ्रांस ।

इटली

उड़ा गया पट्टचरी[१] सुदेश को
महान अल्पाद्रि[२] प्रधान है यहां
प्रतीर में सागर-मध्य के बसा
उदीच्य का भाग दुखी प्रशीत से ॥३६॥

वहे जहां वायु तुषार-शैल से
दिशा अवाची कुछ उष्ण देश है
समीर धावे मरु-रेत को लिये
अनेक द्राक्षा-वन वाटिका जहां ॥३७॥

अफ्रीका

विमान सूर्यारिक[३] देश को गया
विशेष नंगे-नर औ नरी सभी
भरे पड़े मध्य-प्रदेश सिंह हैं
गजेन्द्र, चीता, मृग भांति भांति के ॥३८॥

सहस्र संख्या कपि भिन्न रूप के
भुजंग भारी बहु भांति भांति के
विहंग[४] बालू निज चोंच को छिपा
मनो सदा रक्षित आपको गिने ॥३९॥

---

१ इटली, २ अल्पस पहाड़, ३ अफ्रीका ४ एक प्रकार का पक्षी जो बालू में अपनी चोंच छिपा लेता है ।

अरब

अनन्त आवर्त१ विमान हो चला
नदी किनारे नर हैं बसे सभी
महान-आंधी मरु भूमि में उठे
यहां छुहारा वन बाग पुञ्ज हैं ॥४०॥

फारस देश

प्रदीप्त पारस्यर महीध्र से घिरा
प्रभाग भरी मरु-भूमि अद्रि हैं
निदाघ में उष्ण, हिमन्त शीत है
प्रतीच्य औ उत्तर भूमि उर्वरा ॥४१॥

काश्मीर

विमान आया कशमीर देश में
गया उतारा सम भूमि पै जहां
वनस्थली बाग विहङ्ग वाटिका
सुमेर-शोभा लखके प्रसन्न हैं ॥४२॥

शिरस्त्र३ से हैं शिखरी४ शिखा५ सभी
लता लदी हैं सुमनावली लिये
झुके झकोरे झट वायु कम्प से
विचित्र वस्त्रांग विनीत हैं धरे ॥४३॥

---

१ अरब २ फारस देश, ३ पगड़ी, ४ वृक्ष, ५ ऊपर की चोटी।

धरा धरे धीर नहीं वियोग में
खड़े किये शाल-विशाल दूत से
समीर साधे शिर को हिला रहे
बुला रहे व्याकुल वारिवाह को ॥४४॥
गिरीन्द्र गर्वी कहता उतंग हूं
कहे पलासी१ पद क्या न पूजता
समीर ने विज्ञप्ति सुरेश को किया
महीध्र ऊँचे, तरु उच्च आदि से ॥४५॥
स्वयंव – पृथ्वी, तरु – पुत्र पूजते
विशिष्ट-मीठे फल भाँति भाँति के
प्रसन्न देते सबको समीप में
उदार – दानी धन दान दे मनो ॥४६॥
सकूट - धाहार्य२ अनेक रूप के
तुषार आवेष्टक३ श्वेत रूप का
गिरीन्द्र है चामर छत्र से सजा
सुधाम्बु चूता अभिषेक हो रहा ॥४७॥
महीध्र - पद्यान्या४ परमोच्च-प्रेरती
कहीं चली निम्न-थली नदी मिली
कहीं गुहा में गिरि पार हो गई
कहीं मिलाती मुनि सिद्ध तापसी ॥४८॥

---

१ वृक्ष, २ पर्वत, ३ ढाकन वाला, ४ चलता।

गिरीन्द्र का गौरव ज्ञान गीत में
विहग वृक्षावलि बैठ गा रहे
मृगेन्द्र डोलें प्रहरी बने हुए
नदी नवोढ़ा मिल गोत्र१ भेंटती ॥४६॥
अनार द्राक्षा – दल गुच्छ हैं लगे
विशिष्ट मीठे रस से भरे हुए
अदेव औ देव न सेव त्यागते
सुरक्तता रंजित चीकने बड़े ॥५०॥
समान दूर्वा – दल है बिछा हुआ
गुलाब के पुष्प मिलिंद मोहते
सुगंधवाहा बहता सुगंध ले
परोसती सुंदरि है सुधा मनो ॥५१॥
विचित्र रंगांकित पुष्प हैं भरे
सुगंध से हीन न एक भी वहाँ
कली कला पूर्ण प्रफुल्ल हो हुई
गुणावली ज्यों दिखला रहा गुणी ॥५२॥

कश्मीर कामिनी

तरंगिणी२ में तरिणी३ नवांगना४
लिये चलाती कर - कंज क्षेपणी५
झुके झमाके बल - यौवनांकिनी
प्रशक्ति दे साहस कोमलांगिनी ॥५३॥

---

१ पर्वत, २ नदी, ३ नाव, ४ नवयौवना सुंदर स्त्री, ५ डाँड़ ।

प्रतीर में धीर धरें नहीं, युवा
पुकारते बाल - विनोद में बंधे
न ध्यान देती नव – यौवना सुने
कली खुले क्यों, अलि अंग में लगे ॥५४॥

अतीर तैरे तरिणी तरंग में
मनो न माने मन मानिनी यथा
अनग अगांकित अंगना अड़ी
बँधी हुई मान, प्रबद्ध ज्यों नदी ॥५५॥

प्रतीर आई मन की तरंग में
कुमारिका यौवन–योग-योगिनी
अलिप्त थी, लक्ष अलक्ष था वहां
घनावली ज्यों इक बूंद दें नहीं ॥५६॥

मिलिंद की गूंज गुँथी सुगान में
कली-मृगी ने मुख खोल जो दिया
सराग रागी अलि अंक में लिया
नदी मिली आतुर ज्यों नदीश मे ॥५७॥

विहग - रोमावलि उष्णता लिये
बंटे बने राङ्कव मूल्य में बड़े
कला-क्रिया-कौशल-कामिनी यहाँ
सुवस्त्र को सुंदरि अंग ओढ़तीं ॥५८॥

गुलाब, शुभ्रांशु, सरोज, सेब, से
कपोल हैं गोल - नवीन - नायिका
उतंगता ओज उरोज आ गई
सुगंध सानी मुसकान मंजरी ॥५९॥

विलोलनेत्रा – नव – अंग–अंगना
सलज्जता–संपुट मूर्ति - भाव की
पतिंवरा प्रीतम प्रीत में पगी
प्रमोद पाती पति प्रेम पोषिणी ॥६०॥

बता रही प्रीत प्रतीत - दूतिका
विधान वेधी वदनाम्बुजा - वधू
वसंत वासंतिक - वायु - वेगता
विलोकती बाहु अबद्ध बोधिनी ॥६१॥

सुगंधवाहा बहती सुगंध ले
प्रसूनता पादप पुंज प्रौढ़ता
लता लवङ्गी लपटी वितान सी
वहाँ न क्यों सुंदरि हों सुधांशु सी ॥६२॥

वरानना वाक्य-विचित्र-व्यक्ता१
गुलाब सा गात्र सुगौर गर्विता
उतंगता अग उरोज ओजनी२
मुदा मृगाक्षी-वरवर्णिनी३ – वशा४ ॥६३॥

---

१ प्रकाशित करना, २ बलयुक्त, ३ अच्छे मुखवाली स्त्री, ४ ६

प्रसून गूथे गुण गर्विता महा
सुकेश चूड़ा कबरी५ अलकृता
सुअंग सौम्या कुलजा६ कृशोदरी७
स्वकंत – भक्ता गजगामिनी प्रिया ॥६४॥
विनोद वाद्यादि प्रवीण गायिका
प्रसन्नता– मूर्ति प्रमोद - दायिनी
मनोज आकर्षण योग्य यन्त्रिका
पतंग – प्रेमी-नर दीप्त - दीपिका ॥६५॥
विनोदशीला परिहास प्रेरती
प्रमोद उल्लास उदात्त१ दायिनी
विलासिनी वैभव भोग-भोगिनी
अनंग अगाकित प्रीत पूजिता ॥६६॥
मनोहरा थी शारदेन्दु-रूपिणी
विनीत वाक्यावलि वाल बोलती
सुरूप शोभा, मन मंजु मुग्ध था
यही कहावी कशमीर- कामिनी ॥६७॥

पंजाब

प्रसन्न थे भूपति देश देख के
विमान बैठे रघुनाथ साथ में
उड़ा, गया पच-नदी–प्रदेश में
अरावली पर्वत पार हो रहा ॥६८॥

---

१ बालों में पाटी सँवारना, २ अच्छे कुल वाली, ३ जिसका पेट पतला हो।
४ मनोहर।

राजपूताना

यही कहाता मरु देश शून्य है
कहीं कहीं ग्राम बसे हुए दिखें
अनीरता, रेत महान कष्ट दें
तथापि होता सुख, कष्ट साथ में ॥६९॥

समुद्र

समुद्र के तीर विमान आरूढ़ा
प्रसन्न हो के उतरे नरेश थे
उतंग-वीची नभ ओर को बढ़े
न शांति पाता जल-सिन्धु का कभी ॥७०॥
विशिष्ट-आकर्षण-सूर्य-चन्द्र का
प्रज्वार-भाटा करता पयोधि में
सन्नद्ध हो ज्यों, उछला समुद्र त्यों
बढ़े कहीं पै जल षष्टि-हाथ लों ॥७१॥
समानता हो ध्रुव-वायु-नीर में
सदैव सर्वत्र पयोधि-निम्न में
कबंध होता ध्रुव शीत औ गरू
सउष्ण भू मध्यक अल्प भार हो ॥७२॥
प्रवाह होता ध्रुव-शीत-नीर का
सदैव भू-मध्य दिशा गरू गुना
तथापि भू मध्य कबंध उष्ण भी
प्रवाह लौटे ध्रुव-ओर को सदा ॥७३॥

प्रभाव – वीची तल लौं बढ़ा चले
प्रतीर आते उपलाश साथ में
सदैव डोलें बन अल्प चीकने
सुसग, अभ्यास प्रभाव हो सुधी ॥७४॥

तुषार का रूप प्रशीत देश में
पयोधि में द्वादश हाथ निम्न हो
गले, बढ़े सो जब उष्ण काल में
कुसंग औसग१, प्रभाव को करे ॥७५॥

प्रतीर चट्टान खड़े कठोर हो
प्रवेग वीची बल अल्पता लिये
अनल्प-अभ्यास किये गिरा दिया
लगा रहा जो हरि प्राप्ति को करे ॥७६॥

अथाह औ थाह पयोधि की कहीं
अगाध होती पर भेद रूप है
प्रतीर थोड़ा जल, मध्य में महा
विचित्र ससार समानता कहा ॥७७॥

महान है मत्स्य पयोधि में पड़े
दिखे उसे तो झखराज भी भगे
प्रभावशाली बल हीन वश हो
सभीत हो के बलवान भी डरें ॥७८॥

---

१ सिद्ध सग ।

घिसार वेधें मछुआ महा जहां
सुरत्न, मुक्ता, मणियां निकालते
प्रतीर में साधक साधना करें
स्वपोत लादे वणिकावली मिले ॥७६॥

विदेशवासी गमने स्वदेश को
जहाज जाता जल चीरता हुआ
अनेक थे साधन सिद्ध पोत में
परन्तु वीची पथ रोंकती रहें ॥८०॥

महान ऐश्चर्य पयोधि को मिला
सभीत पृथ्वी लवणादि द्रव्य दे
समीर सेवा लहरादि से करे
सुनीति-मर्याद न सिन्धु त्यागता ॥८१॥

प्रचंड आंधी जब जोर से उठे
उतंग – वीची उठतीं प्रवेग से
जहाज ऊँचे उठते गिरें उठें
अजस्र हो घात विघात पोत पै ॥८२॥

प्रशांत हो नाविक नीर से बचा
गवाक्ष औ द्वार खुले रखें नहीं
स्वहस्त ले शासक-यन्त्र जोर दे
बचा रहे धीर धरे विपत्ति में ॥८३॥

प्रतीर नौका बहु माल लादतीं
जहाज से यन्त्र उतारते उन्हें
पदार्थ नाना फिर लाद के चलें
स्वकर्म सौदा जन जन्म जन्म लें ॥७४॥

चित्रकूट

विमान-यात्रा रघुनाथ ने किया
स्वमित्र भूपाल सभी लिये हुए
प्रदेश नाना कर पार आ गये
प्रशांति दाता-जग - चित्रकूट है ॥८५॥
निवास मेरा वनवास-काल में
यहीं हुआ था सुख-स्रोत को बहा
दया प्रदाता दल-दोष दायता
विमोहता का रुज-रोष नाशता ॥८६॥
विलासिता-वास, निवास आशता
दुरुक्त[1], दारा, दुख-पाश खोलता
न क्षोभ-छाया, समता क्षमा छटा
विशाल वक्षस्थल दक्ष पक्ष का ॥८७॥
अबोधता, क्रोध, विरोध-बंधुता
सद्वेषता वेष्टित ईर्षणा महा
प्रमत्तता में मद मदता महा
न दृष्टि आते दल-दोष दैन्य हैं ॥८८॥

---

१ शाप, बुराकहा गया।

अवैरता, आस्तिकता, अदोषता
प्रशांतिता प्राप्ति परेश पोषता
अलिप्तता तामस से, त्रिताप से
मनो मनीषी सम चित्रकूट था ॥९९॥

विहंग—माला वन में, वनान्त में
शिरीष-शाखा शिखरी स्ववास में
प्रतीर में औ पुलिनान्त प्रांत में
तरङ्गिणी में तरतीं सतर्क हो ॥१००॥

प्रतीर में पल्वल,१ पल्लवादर थे
वहीं खड़ा था पशुराज-सिंह भी
न क्षुब्ध होता मृग-वृन्द देख के
सुशील ने तामस-वृत्ति को हरा ॥१०१॥

निकुञ्ज-नाना नव लम्बिनी-लता
यहीं; वहीं; वृक्ष वितान सी तनी
सपत्रता पल्लव—पुञ्ज प्रेखते३
मनो बुलाते पथ से पथी सभी ॥१०२॥

मयरनी मोर स्वशौर्य मौज में
स्वसंग लेके चुन' चूमती शिखा
अभेद मे संयम शीलता यहां
महा तपस्वी यह चित्रकूट है ॥१०३॥

---

१ छोटा तालाब, २ हरिण, ३ हिलना।

न मंद मंदाकिनि वेग-वारि से
अनेक—आवर्त, गँभीर-नीर में
प्रवाह धारा जल बूंद घूमता
सुबुद्धि शोधे सतमार्ग पे चले ॥१०४।
प्रतीर शैलोच्च—शिला—कठोरता
विशुद्ध शोधा द्रव-अम्बु मध्य में
मनुष्य मस्तिष्क रहे अनादि से
अद्वंदता द्वंद सनी हुई सदा ॥१०५॥
विशाल शाखा तरु पुञ्ज-पंक्ति की
वितान-छाया-अचला सदा रहे
समूह सानंद शकुंत[1] बोलते
समाज पाता सुख, लोक सात्वकी ॥१०६॥

प्रयाग

प्रयाग आया नभ-मार्ग नापता
विमान नीचे गति—मंद से चला
खड़ा हुआ जा पुलिनाङ्क जान्हवी
अभीष्ट पाके मन तुष्टि ज्यों हुई ॥१०७॥
निमज्जते संगम में नरेश थे
अहो यही है जल-अन्तर, मध्य में
महान आश्चर्य करें हँसें सभी
स्वधर्म की संधि सदैव शांतिदा ॥१०८॥

---

१ पक्षी।

सवेग – गंगा मिलती कलिंदि से
घुसी चली जा, यमुना भुजा भरे
मिलीं, चलीं वे मिल एक हो गई
मिलाप में भिन्न हितार्थ त्याग हो ॥१०९॥

सुश्वेत था निर्मल रूप गंग का
अश्वेतता अंग मिली हुई वहाँ
स्वनाम त्यागा यमुना भुजा भरे
परंतु दोनों गुण गौण हैं नहीं ॥११०॥

प्रयाग को गौरव पूर्ण रूप से
मिला जहाँ संगम आपगा हुआ
पुनीतता आश्रम आ गई महा
महत्त्व बाढ़े जल स्रोत के हुए ॥१११॥

प्रयाग को तीर्थ सभी स्वशक्ति दें
इसे बनाया निज तीर्थराज है
मिले यहीं पे सब – तीर्थ-पुण्य हैं
किया जहाँ मज्जन पाप नाश हो ॥११२॥

काशी

प्रयाग से पूर्व चला विमान था
मिली प्रदात्री-सुख - काशिकापुरी
स्वयं विराजे प्रभु विश्वनाथ हैं
अखंडता खंड न हो सकी कभी ॥११३॥

विशेष - विद्वान प्रमाण – पारखी
विशिष्ट वेदान्त अद्वैत द्वैत भी
पुराण मीमांसक न्याय सांख्य के
त्रिपुण्ड धारे शुचि शब्द–साधकी ॥११४॥

विवेकता, बुद्धिमता, प्रवीणता
सुशीलता, निर्मलता, नवीनता
अदोषता अंग अरोषता बसी
स्वकर्म - कर्ता जग देव से बड़े ॥११५॥

पुरी प्रदात्री, पुर - इन्द्र शंभु की
मनोज्ञता, मानवता सुधारती
प्रसन्नता, पौष्टिकता, अरोगता
प्रमोदता मानस मंजु वर्षिणी ॥११६॥

सुगंधवाहा शुचि गंधवाहिनी
प्रसाधिका[१] अन्त धृति साधिका
दुरुक्त[२] दुर्गंध – प्रभाव नाशती
सुभाग शोभा प्रद काशिकापुरी ११७॥

अभाग्यता-ओघ–अनेक नाशिनी
मुमुक्षता में कण मृत्तिका चढ़े
लगा जहां अंग अनंग शत्रु से
मिला दिया, शंकर आशुतोष से ॥११८॥

१ सजानेवाली, २ शाप।

न नाश होती प्रलयाग्नि में कभी
त्रिशूल आधार धरे त्रिशूलि हैं
प्रशांत ईशान बसें प्रशांति हो
न उष्णता ज्यों ध्रुव देश में कभी ॥११९॥

प्रभात काशी शिव वंदि के चले
मिली अयोध्या सुखदायिनी पुरी
विनोद नाना दिन रात्रि हो रहे
नरेश सेवा रत राम हैं स्वयं ॥१२०॥

कहें सभी भूप विशेषता लिये
अनंत – आनंद मिले 'यहाँ सदा
न चित्त चिन्ता, सुख भूरि पा रहे'
न व्योम में पंकिलता कभी रहे ॥१२१॥

बसे पुरी में नृप दीर्घ काल लौं
विनीत वाणी कर जोड़ के किया
मयूख-माला रवि त्याग क्या सकें
तथापि जाती महि को प्रकाशती ॥१२२॥

राजाओं की विदाई

प्रयाण-इच्छा अब है स्वदेश की
कृपालु आज्ञा रघुनाथ दीजिये
अनेक रत्नादि दिये नृपेन्द्र को
पदार्थ देते गणना न हो सकी ॥१२३॥

विमान बैठे सब भूप जा तभी
कहा तभी राम विमान को सुना
स्वदेश-जाते-नृप, शीघ्र जाइये
तथा कुबेराश्रम को पधारिये ॥१२४॥

गया सभी देश बतारता हुआ
न देर लागी पहुँचे स्वदेश में
करें बड़ाई रघुनाथ की सभी
प्रशांत-आत्मा जग धन्य राम हैं ॥१२५॥

मालिनी छन्द

रघुपति सब देखे कर्म होवे सभी के
नृपति, सुत-प्रजा में भेद देखा न जाता
किरण –रवि, प्रभेदी क्या कभी अन्य दीखें
"सिरस" शरण पाया राम के पाद में है ॥१२६॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
पंचविंश सर्ग समाप्तम्

अथ षट विंश सर्ग

सम्प्रदाय-संघर्ष

इन्द्र वज्रा छन्द

था भूप—चेटी—पटु बोलने में
श्रीराम से सो कर—जोड़ बोला
अन्याय औ न्याय विभेद जाना
पै एक संशय है चित्त मेरे ॥१॥

कीजे उसे दूर महान—आत्मा
जीमूत[१] को वायु वली भगाता
आम्नाय[२] के रूप विभिन्न होते
क्यों हों अनेकों, जब ईश ऐ क्यी ॥२॥

होते बसे ये इक—राज्य में जो
संघर्ष होता इनमें बड़ा है
काठिन्यता शासक को बड़ी हो
वे हों विरोधी लड़ते सदा हैं ॥३॥

---

१ मेघ, २ सम्प्रदाय ।

भूपाल आम्नाय न मानता हो
कोई करे द्वेष न भूल से भी
आम्नाय-दोषी क्य हो सकेगा
माने उसे "लौकिक-राज्य" राजा ॥४॥

आम्नाय माने करते लड़ाई
ले भूप सेना उनको हटाता
दे दण्ड दोषी, सबको सँभाले
ज्यों अग्नि से स्वर्ण प्रदीप्ति पाता ॥५॥

स्वतन्त्रता भिन्न विचार – वादी
देता सभी को भिड़ने नहीं है
दे राज्य में स्थान समानता से
राज्यांश माने उनको निवाहे ॥६॥

भूपाल जो ईश्वर को न माने
आम्नाय कोई न कहीं दिखाता
धारे प्रजा मेल-मिलाप-माला
आनंद पाती जनता वहाँ है ॥७॥

देखा कभी ईश्वर को किसी ने
क्या साधना से वह सिद्ध होता
योगी तपी तप्त हुए न पाते
क्या स्वप्न भी जाग्रत सा दिखाता ॥८॥

माना हुआ है अनुमान ही से
पै सिद्ध होता कब साधना से
"हौवा" कहे ज्यों भय बाल पाते
त्यों ईश की स्वीकृति भी भ्रमाते ॥९॥

जो देखने में नर के न आता
कोई पता भी रहता कहाँ है
क्या लाभ है ईश्वर-नाम लेके
क्या शून्य से भी कुछ प्राप्ति होती ॥१०॥

श्रीमान की बुद्धि विवेक बोरी
सूक्ष्माति सूक्ष्मी सब वस्तु लाती
आम्नाय औ ईश पदार्थ हैं क्या
मेधा - महात्मा कृपया बतावें ॥११॥

श्रीराम बोले मृदु-मंजु - वाणी
चेदी - महाराज - वितर्क-तर्की
है बुद्धि - पैनी-खर - प्रश्न-कर्त्री
ज्यों काटती लोह सुतीक्ष्ण-छूरी ॥१२॥

आम्नाय हैं रश्मि समान फैले
ज्यों दूर होती रवि से विभिन्ना
संघर्ष होता मिल भिन्न होतीं
ज्यों केन्द्र-त्यागी सुदविष्ट१-रेखा ॥१३॥

---

१ अधिक दूर।

आम्नाय-धारा, सु-समाज - गंगा
वे भिन्न रूपा बहतीं यहां हैं
क्या जीव कोई न समाज में हैं
संसार में वायु किसे न छूता ॥१४॥

सारे बँधे भूप, समाज में हैं
आम्नाय – धारा बहते सभी हैं
कोई कहे दूर प्रवाह से है
सो है नदी का परित्यक्त - पानी ॥१५॥

रेती पड़ी बीच समाज-गंगा
त्यागा पड़ा नीर-मलीन - मैला
जो त्यागता स्वीय[1]-समाज को है
होती बुरी यों उसकी–दशा है ॥१६॥

हैं निम्न औ उच्च समाज सारे
ईशानुरागी पथ - भिन्न वाले
श्रद्धानुकूली - मति - मन्त्र धारे
विश्वास विश्वेश किये सदा हैं ॥१७॥

आम्नानुयायी सब जीव होते
राजा प्रजा वंश–परम्परा से
सिद्धान्त आचार विचार को ले
प्रत्येक - प्राणी जग योग देता ॥१८॥

---

१ अपना ।

भिन्नावलंबी - मत देशवासी
हों तो वहाँ शासक-न्यायकर्ता
मर्याद – सीमा सब-धर्म - शोधे
ज्यों वाहनों को प्रहरी बचाता ।।१९।।

भूपाल जो लौकिक-राज्य भोगे
प्रधान्यता-धर्म - स्वयं न माने
तो देश में भौतिक-बुद्धि बाढ़े
ज्यों शीत में धूम न बधे जाता ।।२०।।

भोगानुरागी बनते सभी हैं
लोभाग्नि, कामाग्नि' उन्हें जलाती
संसार-सेवी नृप औ प्रजा हो
प्राणान्त पाते सुख-लोक क्या वे ।।२१।।

ऐश्वर्यशाली जग-जाल जोड़े
जाते बढ़े हैं, कर अन्य पीछे
पै दाबता आकर दूसरा है
बीची विलोको बनती नशाती ।।२२।।

संकीर्णता लौकिक-राज्य की है
सर्वस्व है संपति - लोक ही की
कालान्त में शासक शून्य सा है
प्रत्यूष१ होते शशि स्वत्वर क्या है ।।२३।।

प्रातःकाल, २ अधिकार ।

द्वारान्त दौड़े कर बाल क्रीड़ा
संसार-सारा, शिशु धाम जाने
विश्वास ऐसा भ्रम-बुद्धि का है
पच्छू कहे पूर्व दिशा भ्रमी ज्यों ॥२४॥

जो धर्म-धारा धरके न धावे
वो लोक-आलोक उसे दिखाता
जाता चला पार्श्व प्रतीर को है
गंभीरता - नीर वहा कहा हैं ॥२५॥

पकादि शैवाल तमो रजो की
बाहुल्यता - वेग - प्रभाव होता
स्वार्थान्धता मंद मलीनता हो
मेघाम्बु मैला, रज संग मे हो ॥२६॥

ज्यों जेठ होती गरमी बड़ी है
त्यों स्वार्थ हो लौकिक-राज्य साथी
संकीर्णता - व्यूह. घना तभी है
बाह्यांश क्या गूलर - कीट जाने ॥२७॥

ज्योंही किसी ने धन या धरा को
दाबा कहीं पै बन शत्रु जाता
सग्राम जोड़े दुख दौड़ आता
होता धली भी. अबली तभी है ॥२८॥

भादों—अमा को नभ मेघ घेरे
आकाश धाराधर वारि वर्षे
जो रात्रि ऐसी नर मार्ग जाता
दोषा दुखार्ता भ्रमता रहे सो ॥२६॥

होती दशा स्वार्थ-समाधि ऐसी
चिन्ता चुरेलें चिपटी चिढ़ातीं
पाता नहीं शांति, अशांत होता
वीची पड़ा जो सहता थपेड़े ॥३०॥

दे सांत्वना एक, अनेक द्वंदी
उत्पन्न होते उस देश में हैं
संघर्ष से भूप प्रजा दुखी हो
मांसास्थि को श्वान-समूह खींचें ॥३१॥

है लोक की संपति स्वार्थ सानी
स्वार्थान्धता नाश सुबुद्धि को दे
कैसे मिले शांति, अशांत को है
उच्चाद्रि पै पंगु चढ़े कभी क्या ॥३२॥

राजा प्रजा में न मिलाप होता
द्वंदाभिगामी दबते न दोनों
संघर्ष ही में सुख सौख्य जाता
पात्राग्नि में नीर—कणाश दौड़े ॥३३॥

होता कहीं ताल मणीन्द्र - मुक्त
आकाश भी ठोस कहीं दिखाता
अन्धा न पाता लख सूर्य को है
त्यों शांति को "लौकिक-राज्य-राजा" ॥३४॥

लोकानुसारी जब राज्य होता
पर्यावलम्बी कब हो सका है
लोकान्तरी हो लड़ता लड़ाता
आनन्द पाता न प्रजा न राजा ॥३५॥

आम्नाय को शासक जो न माने
आधार है नाम, विचार का क्या
कोई बना नास्तिक हो कहीं पै
आम्नाय होता उसका वही है ॥३६॥

नाना-नरी-औ-नर एक हैं क्या
होते कहीं एक विचार के हैं
कैसे चलेंगे सब एक होके
सामूहिकी—लोक विचित्रता हो ॥३७॥

संस्था बनाते जन भिन्न नाना
क्या लोक-सेवा, प्रतिद्वंद्वता में
स्वार्थांधता से निज स्वार्थ साधें
विद्वान वाग्मी, पशु-वृत्ति के हो ॥३८॥

ऊंचे नहीं जा सकते कहीं हैं
है—लोक का अथ स्वअर्थ साना
दौड़े सभी एक पदार्थ ही को
हा, ढूंढता, हो प्रतिद्वंदता में ॥३६॥

होती नहीं शांति, अशांति बाढ़े
मारें मरें लौकिक-राज्य पाके
पाते नहीं अग्र सुमार्ग को हैं
अन्धा अँधेरा दिखता दिवा में ॥४०॥

आम्नाय—आचार अनेक हैं जो
वे मार्ग - सीधे, परलोक के हैं
जाते बढ़े मानुष वर्ग को हैं
ऊंचे उठे धूम, गवाक्ष से ज्यों ॥४१॥

हैं भिन्न—भाषी, वपु रूपवाले
आचार, आकार, विचार नाना
कैसे रहें एक - समूह में वे
एकाग्र हैं क्या फल भिन्न शाखा ॥४२॥

बांटा हुआ मानुष - वर्ग है यों
ज्यों भृन्ड – पक्षी तरु भिन्न सेवें
भिन्नावलंबी स्व - समूह को ले
आनन्द पाता प्रति भाग में है ॥४३॥

जो अल्प ही – जीवन लोक में है
जाता कहाँ जीव स्वदेह त्यागे
लोकोत्तरी – आर्य - विवेक शाली
पाया पता स्वर्ग समीप ही में ॥४४॥

आनन्द दाता वह लोक से है
होते नहीं राग न द्वेष कोई
जाता वहाँ शीघ्र सुकर्म - कर्ता
पै लौट आता इस लोक से है ॥४५॥

लौटे न जाके फिर लोक कोई
वैकुन्ठ ही में नर मुक्त होता
गोविन्द, स्वामी इस सृष्टि के हैं
वे मुक्ति देते जन शुद्ध पाके ॥४६॥

श्रीनाथ सेवें नर मार्ग – नाना
आम्नाय ही हैं हरि को मिलाते
कैसे कहे जा सकते बुरे हैं
होती सुधा क्या विष सी विषैली ॥४७॥

दुर्गन्धता – लोक, मलीनता दे
द्वेषाग्नि - ज्वाला मन को जलाती
संसर्ग सर्वाङ्ग प्रभाव लाता
ज्यों धूम से श्वेत - निकेत काला ॥४८॥

आम्नाय में दोष कहीं नहीं है
हैं दोष तो लौकिक - भाव ही में
लोकोत्तराङ्गी परलोक - यात्री
दे पंक पीड़ा पथिकावली को ॥४६॥

आम्नाय में दोष न भूल से हैं
ईर्षा तथा द्वेष मनुष्य कर्ता
दे व्यक्ति को दण्ड सदोष पाये
जो लोक का कीचड़ ले उछाले ॥५०॥

जो राज - आम्नाय -पुनीत होता
आदर्श मानें उसको सभी हैं
सत्यानुरागी सबका हितैषी
होता यथा गोपति अग्रगामी ॥५१॥

हो व्यक्ति कोई यदि द्वेष - दोषी
तो भूप दे दण्ड उसे करारा
आम्नाय तो शुद्ध - स्वयं सुस्वर्गी
खट्वा न काटे खट कीट मारे ॥५२॥

आम्नाय है भिन्न, अभिन्न होके
आगे बढ़े वे सम अग्नि-ज्वाला
होते सभी एक अनेक दीखें
दाना यथा राशि - समूह होता ॥५३॥

आम्नाय से हीन न स्वर्ग जाता
औ शांति पाता न यहां कभी है
ईर्षाग्नि - ज्वाला उठ लोक में है
गोविन्द की प्राप्ति यही दिलाता ॥५४॥

कैसे कहे है यह द्वन्दकारी
लोकान्तरी - द्वेष, मनुष्य घेरे
लाता उसी को इसमें मिलाता
हो श्वेत, काला रंग कृष्ण पाके ॥५५॥

आम्नाय को भूप न मानता जो
तो वृत्ति - नीची बढ़ती महा है
देती हिला राज्य अनर्थकारी
सारंग - मक्खी मिल काटती ज्यों ॥५६॥

आम्नाय द्वारा नर स्वर्ग जाता
लोकोत्तरी - वाण्प - विचार-ऊंचे
जाता बढ़ा निर्मल - भाव होते
गन्दी न हो वायु, कपाट खोले ॥५७॥

सर्वस्व संसार कहा गया क्या ?
है सार से हीन प्रसार पाये
दीखे सदा नित्य, अनित्य ही है
है वारि - बुल्ला सम सृष्टि सारी ॥५८॥

संसार के पार परेश ही है
प्रत्येक - आज्ञा विधि से चलाता
निर्मुक्त हैं ये परतन्त्र होवे
जीवादि योगी वश मोह माया ॥५९॥

कर्मादि के बंधन जीव बांधे
न्यारा सभी से सब में समाया
पाता न कोई लख ईश को है
ज्यों वायु का रूप न दीखता है ॥६०॥

आदित्य से भूमि प्रकाश पाती
त्यों चेतना चित्त रमेश से हो
आधार, आधेय संभालता है
क्यों ईश विश्वास न, सर्व-साक्षी ॥६१॥

क्या दौड़ पाता पग नीर डूबे
माया मग्न चित्त न ईश दीखे
हंता जभी प्रेम परेश पाता
ज्यों लोह को चुम्बक ला मिलाता ॥६२॥

गोविन्द से जो मिलता जहां है
सो मुक्ति पाता जग - जाल से है
आम्नाय द्वारा हरि प्राप्ति होती
कैसे कहा जा सकता बुरा सो ॥६३॥

शंका सभी की नर-नाथ-चेदी
आम्नाय कैसे जग ऊर्ध्व जाता
माया दबाती ममता - करों से
जाने न दे ऊपर, खींच लेती ॥६४॥

देती भिड़ा कंचन कामिनी को
ईर्षा तथा द्वेष - अनर्थकारी
लाते उसे हैं निज रंग में वे
तोता पढ़े त्यों नर ज्यों पढ़ाता ॥६५॥

आम्नाय कैसे तब ऊर्ध्व जाके
ईशानुरागी करता नरों को
द्वेषाग्नि से सो जलता जलाता
तो अन्यको क्या सुख सौख्य देता ॥६६॥

होता न आम्नाय विभाग - कर्ता
प्राणी सभी एक समाज में हो
आनन्द पाते सब, बन्धु से हो
ज्यों भार-भारी-कण, राशि में हों ॥६७॥

है कल्पना में परलोक - प्राणी
औ ईश भी कल्पित नाम - कोरा
देखा किसी ने रँग रूप क्या है
तत्वादि ने सृष्टि स्वय रची है ॥६८॥

संसार के पार परेश ही है
प्रत्येक - आज्ञा विधि से चलाता
निर्मुक्त हैं पै परतन्त्र होते
जीवादि योगी वश मोह माया ॥५९॥

कर्मादि के बंधन जीव बांधे
न्यारा सभी से सब में समाया
पाता न कोई लख ईश को है
ज्यों वायु का रूप न दीखता है ॥६०

आदित्य से भूमि प्रकाश पाती
त्यों चेतना चित्त रमेश से हो
आधार, आधेय संभालता
क्यों ईश विश्वास न, सर्व-स

क्या दौड पाता पग नं
माया मढ़ा चित्त न ई
हंता जभी प्रेम परेश
ज्यों लोह को चुम्बक ला मिलाते

गोविन्द से जो मिलता जहां
तो मुक्ति पाता जग - जाल से है
आम्नाय द्वारा हरि प्राप्ति होती
कैसे कहा जा सकता बुरा सो ॥६३॥

ज्यों नीर ले रश्मि दिनेश देती
त्यों बुद्धि भी मानुष को बढ़ाती
जाती चली ईश्वर से मिलाती
धारा बहाती जल, सिन्धु को ज्यों ॥७४॥

ऊर्ध्वाभिगामी यदि हो न कोई
तो जन्म औ मृत्यु न साथ छोड़े
पाता महा कष्ट कहा न जाता
तो मीन सा ऊर्ध्व उछाल लेता ॥७५॥

कान्तार में मार्ग बिना भ्रमे ज्यों
त्यों जीव संसार परे न जाता
आम्नाय की राह इसीलिये है
जावे चला ऊर्ध्व लिये सहारा ॥७६॥

है सत्य, माया बढ़ने न देती
मायेश - प्रेमी क्रम रोकती है
रस्सी सहारे चढ़ता अटारी
आम्नाय से ईश्वर-प्राप्ति हो त्यों ॥७७॥

एक स्वभावी नर हो न सके
हैं भिन्न-भावी-मत-मत्त को ले
प्राणी कहां एक - विचार के हों
क्या एक सी स्वास मनुष्य लेता ॥७८॥

श्रीराम व्यंगात्मक - वाक्य बोले
बेटी - महाराज - विशेष-वक्ता
माधुर्यता भी कटु-स्वाद देती
ज्यों जागता निद्रित सा दिखाता ॥६६॥

हैं नेत्र पै देख परे न पाते
जो देश आगे दृग दृष्टि के हैं
त्यों बुद्धि भी सीमित-शक्ति वाली
कैसे दिखे मह्य - महान - आत्मा ॥७०॥

तत्वादि - सारे - जड़ ही दिखाते
विज्ञान - श्रेणी यदि तत्व में हो
तो वृद्धि पाती वह ऊर्ध्व जाती
कैसे रुकी चेतन - चित्त ही लो ॥७१॥

क्यों योनि होती बहु-भिन्न-रूपा
देशानुसारी इक आकृती के
होते सभी जीव अभिन्न ही से
पै भिन्न हैं आकृति प्राणियों की ॥७२॥

तो तत्व की शक्ति न काम देती
कोई परे है पकड़े न आता
सोई कहाता बहु नाम से है
ज्यों सूर्य की रश्मि अनेक होतीं ॥७३॥

ज्यों नीर ले रश्मि दिनेश देती
त्यों बुद्धि भी मानुष को बढ़ाती
जाती चली ईश्वर से मिलाती
धारा बहाती जल, सिन्धु को ज्यों ॥७४॥

ऊर्ध्वाभिगामी यदि हो न कोई
तो जन्म औ मृत्यु न साथ छोड़े
पाता महा! कष्ट कहा न जाता
तो मीन सा ऊर्ध्व उछाल लेता ॥७५॥

कान्तार में मार्ग बिना भ्रमे ज्यों
त्यों जीव संसार परे न जाता
आम्नाय की राह इसीलिये है
जावे चला ऊर्ध्व लिये सहारा ॥७६॥

है सत्य, माया बढ़ने न देती
मायेश - प्रेमी कम रोकती है
रस्सी सहारे चढ़ता अटारी
आम्नाय से ईश्वर-प्राप्ति हो त्यों ॥७७॥

एक स्वभावी नर हो न सके
हैं भिन्न-भावी-मन-मत्त को ले
प्राणी कहां एक - विचार के हों
क्या एक सी स्वास मनुष्य लेता ॥७८॥

हैं भिन्न प्राणी स्व - समाज लेके
आम्नाय भी भिन्न लिये चलें सो
जो दृष्टि देता दिस - लोक को है
तो गर्त जाता गिर शीघ्र ही हैं ॥७६॥

ज्यों शर्करा से कर दूर चींटी
प्राणी स्वयं भोग उसे लगाता
त्यों कामना - लोक न साथ राखे
आम्नाय - सोपान सु-स्वर्ग का है ॥८०॥

मैंने सुना वाक्य वशिष्ट जी से
सोई सुनाया प्रिय आपको भी
आम्नाय से जीव रमेश पाता
है दोषता लौकिक मिश्रता में ॥८१॥

भूपाल बोले मृदु मंजु वाणी
विज्ञान के सागर आप ही हैं
"आम्नाय को राग न द्वेष घेरे
जाता चढ़ा उच्च महान - आत्मा ॥८२॥

ऐसी सुशिक्षा रघुनाथ ने दी
है दोष - सारा - षडवर्ग ही में
जो चित्त घेरे रहते सदा हैं
आम्नाय में भी निज रंग पोते ॥८३॥

है धन्य चेदी नृप प्रश्न कर्ता
भी विज्ञान - वादत्व सुना सभी ने
शैफालिका राम - भवान हैं हो
चेदी महाराज प्रवीण माली ॥८४॥

* मालिनी छंद *

सब नृप कर जोड़े राम आगे खड़े हैं
प्रभु-वर - यज्ञ-शिक्षा, भेद आम्नाय जाना
दुखित हृदय से कांटा निकाला बड़ा है
तपन तमस हर्ता कंज आनन्द देता ॥८५॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
षष्टविंश सर्ग समाप्त:

अथ श्री सप्तविंश सर्गः

* उपेन्द्रावज्रा छंद *

पुरुषाधिकार के समान स्त्री की मांग

सखी - सयानी सुख-कांक्षिणी हो
सुभद्रि - सीता मिलने चली थीं
न अप्सरा - सुन्दर - स्वर्ग ऐसी
सुवेश भूषा - द्युति - वर्धनी थी ॥१॥

प्रसन्न - पूर्वाजित-भाग्य - वामा
प्रवेश पातीं रनिवास में थीं
हँसे हँसावे पथ - गामिनी थीं
मनो बहावीं सुख-सिन्धु जावीं ॥२॥

प्रवेश प्रासाद किया जहां था
हुआ बड़ा आदर भांति नाना
प्रसन्न-सीता - मृदु - मंजु वाणी

न हंसिनी मानस - ताल जातीं
न कीर्ति पाता नर अद्रि घेरा
गुणी स्वयं ही गुण - दान देते
वसुन्धरा को घन वारि दे ज्यों ॥४॥

सखी - सयानी - स्व-शीश नाये
स्वहस्त - पुष्पाजलि दे कहे यों
"नदी मिली गंग पवित्र हो ज्यों
हुई सुखी हैं हम, आप से त्यों" ॥५॥

स-हास - सीता कहतीं सयानी
कहो कृपा की किस कार्य को ले
अमंद - मेधा मथती सभी हो
विवेक - शोधा - नवनीत पातीं ॥६॥

कहा तभी यों प्रमुखा - प्रमीला
विदेशि बामा मम संग आई
स्वतन्त्रता के रथ पै चढ़ी है
स्वअर्थ साधे पुरुपार्थ चाहे ॥७॥

स्व - वाद के अर्थ यहां पधारी
अपूर्व - सिद्धान्त चहे सुनाना
नदी ; यहां पूर्व बहें सभी हैं
प्रतीचि जातीं वह नर्मदा[१] है ॥८॥

---

१ केलि सखी, नर्मदा नदी जो पश्चिम को बहती है।

स्वकंत - भक्ता - दृढ़-बुद्धि-सीता
कहा प्रिये क्या कहना तुम्हे है
स्वतन्त्रता, क्या तुमको नहीं है
स्वप्रेम की पाश न पास क्या है ? । ९।

विदेशि - वामा कहने लगी यों
सुनो सयानी अब बात - मेरी
अधीन होके नर के दुखी हैं
नितम्बिनी को धव, हा, सतावें ॥१०॥

समान नारी, नर के न माने
अनर्थ अर्धाङ्गि उसे कहें वे
न मान पाती युवती युवा से
अयोग - संयोग समाज में है ॥११॥

वधू विचारी दबती दबाये
कभी न वामा मुख खोल पाती
न बोलने दें नर - अन्य से हैं
न नीर जाता सर से कहीं ज्यों ॥१२॥

न चित्त की चाह, सुराम्र आती
अमंदता, मंद—होती सुबुद्धि
स्व धाम, कारा उसके लिये है
विहंग ज्यों पिंजर पंख मारे ॥१३॥

उच्छिष्ट खाती पति से बचा जो
स्वकंत की सेवकिनी कहाती
न स्वाद - सद्यान्न मिले उसे है
समानता का अधिकार क्या है ॥१४॥

न बुद्धि विद्या बल वक्तता में
प्रबंध औ संयम शीलता में
न न्यून, नारी नर से कहीं है
समाज सन्मान उसे न देता ॥१६॥

अनेक – भार्या नर - एक की हो
वधू बिना कारण त्याग देता
समाज ऐसा किस काम का है
समान प्रत्यंग न रक्त दौड़े ॥१७॥

दुखी महा हो विधवा हुए पै
समाज औ शास्त्र विवाह वर्जे
न ध्यान कोई नर विज्ञ देता
अनाथिनी जीवित हो मरी हैं ॥१८॥

अनेक–नारी, नर भोगते हैं
विधान ऐसा युवती लिये हो
समानता मान्य समाज माने
तभी बुराई न मनुष्य दीखे ॥१६॥

समानता को नर जो न माने
विरक्ति-दासी सम मानिनी हो
करो परित्याग नरी, नरों को
अधीन होना धव के बुरा है ॥२०॥

यथार्थता-आर्य – कुलाङ्गना की
कही गई है हित में तुम्हारे
विवेक से स्वत्व समान चाहो
समाज में तो असमानता है ॥२१॥

सव्यङ्ग बोलीं महिषी-मनोज्ञा
किंवाड़ भी द्वार, न खोल पाई
सुधाम के भीतर-भाग क्या है
अजान है जो, वह जानती क्या ॥२२॥

न आर्य अज्ञान समीप में थे
न वासना इन्द्रिय-भोग की थी
न कामना थी धन द्रव्य ही की
अनित्य संसार असार माना ॥२३॥

अभीष्ठ संसार न आर्य को है
सुकर्म से ऊर्ध्व प्रयाण होता
कहीं हुआ मार्ग निकेत भी है
पयोधि को पार करे सुखी हो ॥२४॥

न जन्म हो कर्म बिना किसी का
स्वकर्म का भोग मनुष्य भोगे
विवेक विज्ञान विचार पाके
विकर्म१ नाशे नर त्याग ही से ॥२५॥

लता पड़ी भूमि कहीं न फन्दी
अनेक बाधा बढ़ने न पाती
सदैव जाती कुचली बिचारी
सदा दुखी हो अबला, वही क्या ॥२६॥

चढ़ी अभी वृक्ष लता-नवीना
सुयोग्य-आधार मिला उसे है
प्रसार पाया नव नित्य बाढ़ी
प्रवाह-वद्धा-सरि, सिन्धु जाती ॥२७।

भरा हुआ थार सुव्यञ्जनों से
सहर्ष खाती, तब कौन मारे
स्वसेज सोती सुख से सयानी
उसे पड़ी क्या वन काष्ट बीने ॥२८॥

सुधारिनी का मन स्वाद लेता
अपाक को पाक-क्रिया किये से
उच्छिष्ट कैसे वह खास की है
सुगन्ध ही से सुख तृप्ति पाते ॥२९॥

१—निषिद्ध कर्म

सुदान देता कब दान लेता
गृही दिला आगत, शेष खाता
पराश्रिता कौन ? स्वआश्रिता सो
शिखा प्रशाखा रस मूल देती ॥३०॥

चकी न जाती, चक अन्य घूमे
सुमंजु-चारा वह खोज लाता
स्वयं धरे सन्मुख ला चकी के
कहाँ चकी सेवकिनी हुई है ॥३१॥

अनन्यता सेवक की जहाँ है
सुसेव्य भी सेवकता दिखाता
सरोग हो सेवक, सेव्य सेवे
चना चढ़ी खोल न भिन्न दाना ॥३२॥

समान कैसे नर के नरी है
बढ़ी चढ़ी ज्ञान विचार में है
जहां पखेरी-गुरु भार होती
पला तले हो सम से बढ़ी है ॥३३॥

मयूरनी-वृन्द मयूर घेरे
प्रसन्न हो के वह नाचता है
हुआ सुखस्राव स-नेत्र-सान्द्री
उसे किया पान हुई सगर्भा ॥३४॥

नदी अनेकों, घन एक ही है
भरे सभी को जल से अकेला
विभिन्न सामर्थ्य विभेद से हो
नरी नरों की समता न होती ॥३५॥

मुखाग्रता पात्र न मेघ दीखे
न भाड औंधा, जल बूंद जाता
अनन्यता-प्रेम न रिक्त हो जो
वियोग, सयोग समीप लाता ॥३६॥

विनीत – वाणी वदती प्रमीला
महान-मेघा-मत मन्त्र सा है
तथापि सीधे उपदेश दीजे
उलूक आदित्य न देख पाता ॥३७॥

प्रसन्न हो के अवधेश-साध्वी
कहा अहो बुद्धिमती सयानी
सुना चहो दम्पति - गूढ-गाथा
सुने, कहूँ मैं प्रमदाव ली भी ॥३८॥

कठोर है पूरुष पुसता में
न कोमलागी समता दिखाती
स-शौर्यता चित्त प्रशक्ति दात्री
दिनेश सा दीप्त दिगन्तकारी ॥३९॥

शरीर सौन्दर्य प्रभा प्रकाशे
स्वभाव शोभा मृदुता वधू की
गुणावली गौरव ज्ञान गूथी
कुलीन-वद्धा– छवि, कूल–लज्जा ॥४०॥

समान कैसे नर औ नरी हैं
स्वभाव में भिन्न विशेष दोनों
तथापि वे भिन्न अभिन्न होते
मिले यथा पेय१ सनीर चीनी ॥४१॥

वधू जभी पूरुष – भाग चाहे
स्वभाग त्यागे, अनरूपता से
परन्तु स्वाभाविकता न होती
यथा जमा पीपल अन्य शाखा ॥४२॥

प्रशांत होतीं नर और नरी जो
तरङ्ग दोनों हृद भाव बाढें
मलीनता बीच न पास आती
विवाह ही कारण शुद्धता है ॥४३॥

नरी दवे स्वीय गुणावली ले
दबाव देता सुख कामिनी को
स कूल मर्याद लिये नदी है
ढहे बहे वारि विभिन्न धारा ॥४४॥

१—पीनेयोग्य शर्बत

प्रयास होता नर-स्वत्व को जो
न सिद्ध पाती कर कामिनी है
गुणावली– स्वीय मलीन होती
गया न सींचा तरु सूखता ज्यों ॥४५॥

विवाह से भिन्न, अभिन्न होते
यथा मिली जाकर शोण गंगा
सुप्रेम और धर्म सुपुष्टकारी
यथा सुहागा कण हेम जोड़े ॥४६।

स्व-चित्त को दे, नर-चित्त लेती
विशुद्ध-सेवा कर, स्वामिनी हो
अधीन होता नर प्रेम पाके
गजेन्द्र पालू बन अन्न खाके ॥४७॥

स्वधर्म से नींव – सुप्रेम पोढ़ी
हिलें नहीं जन्म अनेक बीतें
न प्रेम पोढा करता अकेला
लगाम लागी सुख रज्जु दो हैं ॥४८॥

'स्व' प्रेम जो इन्द्रिय तृप्ति का है
कमी; पड़े पै वह शून्य सा है
स्वअर्थ आ ार सदैव ; होता
विशेषता व्यक्ति न एक से हो ॥४९॥

न कामना प्राप्ति हुई जभी है
उदासिता स्वार्थ हितार्थ होती
अवश्य अन्वेपण अन्य का हो
तृपी यथा कूप तड़ाग दौड़े ॥५०॥

स्व-अर्थ–चिन्ता, हित साधना है
अभीष्ट हो प्रेम न, प्रेमिनी का
निमित्त होता यह स्वार्थ ही का
न कंज फूला जब नीर सूखा ॥५१॥

न वल्क, दौड़े रस, बाहरी में
पड़ी सुखाती चिपटी सड़ी सी
न जानती वृत्त बढ़ा घटा है
वधू यथा स्वार्थ–सनेह -.सानी

परन्तु साध्वी - युवती न ऐसी
हरी भरी अन्तर-छाल सी हैं
स्व-कन्त के सङ्ग रंगी रंगीली
न चित्त चिन्ता अधिकार की है ॥५३॥

स्व-चित्त दे के, पति चित्त सेवें
स्वयं न आभूषण वित्त चाहें
सहर्ष देता ,, पति पूर्णता से
नदी न भादों जल न्यून होता ॥५४॥

स्वयं कमाता पति, हाथ पत्नी
धरे सभी द्रव्य सहर्ष आगे
सुकन्त ने स्वत्व दिया सभी है
सखी, न क्या सो अधिकारिणी है ॥५५॥

हुई 'जभी सेवकिनी सुवामा
बना स्वयं सेवक कन्त आके
अन्योन्य सम्बन्ध, न अन्य कोई
मिले यथा दो तरु एक हो के ॥५६॥

न कन्त खाता, युवती न खाती
दुखी हुए पै दुखिया बनी है
समान दोनों सुख दुख पाते
घड़ी-सुई की गति एक होती ॥५७॥

किया वधू ने पति-प्रीत पोही
न कन्त भी जा सकता कहीं को
न द्वैत दीखे, गति एक होती
बँधी शिखा दो, सँग रज्जु डोलें ॥५८॥

वधू स्वयं जो अधिकार चाहे
समानता के हित व्याकुला है
प्रवेश माया पति चित्त में क्या
प्रवेग - धारा - सरि रोक देती ॥५९॥

वधू मिला स्वत्व-समानता का
स्वयं लिया भार सँभालने का
विभेदता भीतर जा घुसी है
अनन्यता दंपति में न होती ॥६०॥

समानता – स्वत्व – स्वतन्त्रकारी
मिले सहारा न, स्वयं सँभाले
सुमार्ग शोधा उसको न भाता
न नर्मदा ज्यों दिश पूर्व जाती ॥६१॥

वधू हुई यौवन – जोर धारा
चली न सीधे पति-सिन्धु को जो
अनेक - घाटों–नर - अन्य - जाती
मिले सहारा न बसे कहीं है ॥६२॥

प्रवाह - शोभा जब क्षीण होती
न तीर पूंछे, रुज - पंक पाके
पड़ी कराहे तन सूख जाता
स्व-स्वत्व ले के सुख कौन पाया ॥६३॥

वधू बँधावे दिश, बांध चारों
स्वकन्त – पानी बहके न जावे
सय– मेवा कर नीर रोके

वधू करे कन्त अनेक-सेवा
वही प्रदात्री सुख सौख्य की है
न अन्य की सेवकिनी बनी सो
स्व-जाल फेंका सर, मीन लाता ॥६५॥

स्वकन्त पाती रत अन्य-नारी
स्वयं सदोपा युवती बनी है
न बांध राखा अज को स्व-खूंटा
सुफूल फूले वह जा चरेगा ॥६६॥

प्रधान कर्तव्य वधू यही है
स्व-शक्ति पूरी पति में लगावे
स्व-मार्ग से तो हटने न देवे
प्रयत्न-पोढ़े करती रहे सो ॥६७॥

शरीर औ चित्त सचेत राखे
मिला रखे कन्त सुखी बना के
न अन्य की ओर तके कभी सो
सुसेज सोता-जन, दौड़ता क्या ॥६८॥

चढा युवा – जोर स्व-कन्त दीखे
प्रवाह रोके कर नित्य सेवा
रुके नहीं तो बहु-युक्ति शोचे
न अन्त होता तब दुःखदायी

नवीन होता, तरु रुचि, राखे
सदैव माली जल सींचता है
विशाल बाढ़ा फल फूल देता
स्वकन्त की मालिन कामिनी है ॥७०॥

नारी अकेली नर के बिना है
कहाँ सुखी यौवन-भार ले के
बिना, नरी है, नर नित्य चिन्ता
मिले रहे, दम्पति - शांति - पाते ॥७१॥

मिलाप कैसा जब भाग, बांटे
समानता स्वत्व लिये हटे हैं
सदैव चिन्ता निज - भाग्य की है
स्वकन्त से भिन्न, स्वचित्त राखे ॥७२॥

शरीर - सौंदर्य सभी मिला है
न चित्त देती, पति को प्रवीणा
महा - अनारी वह कामिनी है
मिलाप चाहे, मुख मोड़ती है ॥७३॥

वियोग होता- पति प्राण, त्यागे
हुई न सन्तान रही अकेली
सुकन्त, प्रारब्ध -, प्रभाव हो ने
— [illegible] गमनी - रखो हो ॥७४॥

स्वकर्म ही जन्म व मृत्यु देता
वियोग संयोग वही कराता
सुकर्म से स्वर्ग कुकर्म कर्ता
दुखी हुआ तिर्यक-योनि जाता ॥७५॥

शरीर का इन्द्रिय-भोग जानों
अनित्य है मृत्यु परे न जाता
विवेक से उन्नति-आत्म की हो
पदार्थ-संसार न संग देवे ॥७६॥

विवेकिनी, इन्द्रिय-भोग त्यागे
लगी रहे उन्नति आत्ममें है
शरीर शोभा बदले, बुरी हो
उमङ्ग औ यौवन साथ छोड़ें ॥७७॥

उन्हें तुम्हारी कब चाहना है
चलें जभी प्रौढ़ हुई नवेली
न वृद्ध-बाला नर को रिझावे
विचार लो इन्द्रिय-भोग क्या है ॥७८॥

विचित्र-संसार विचित्रता ले
भला बुरा मिश्रित-भाव राखे
विवेक-प्राणी चुनते भले को
मराल लेता पय त्याग पानी ॥७९॥

परन्तु भोगी भव भोगते हैं
अधोमुखी तिर्यक - योनि पाता
अनेक कष्टादिक भोगता है
मिली - मिठाई विष प्राण लेती ॥८०॥

जिसे रुचे जो करता यहां है
मलीनता इन्द्रिय-भोग से है
प्रशांति हो संयम - इन्द्रियों से
सखी यही - जीवन, अन्त क्या है ॥८१॥

अनेक हैं जन्म कड़ी जुड़ी हैं
सुकर्म ही से कटती कड़ी हैं
सुकर्म की प्राप्ति न भोग से है
परन्तु होती भव - त्याग से है ॥८२॥

प्रयाण होता तब उर्ध्व को है
सुकर्म से दम्पति स्वर्ग जाते
फँसे यहाँ इन्द्रिय – भोग में जो
गिरें महा-गर्त दुखी सदा हैं ॥८३॥

यथार्थ - बातें सखि वृन्द मैंने
कहीं, विचारो मन में सयानी
विवेक से निर्णय कीजियेगा
पयोधि - रत्नाकर, रत्न देता ॥८४॥

विदेशि - वामा कर जोड़ बोली
मुझे मिली शांति - बड़ी यहां है
तृषा बुझानी भव-भोग की है
सुसङ्ग से संयम त्याग जाना ॥८५॥

समानता - माग, अभाग्यदात्री
स्वकन्त ही कारण सौख्य का है
असार संसार न भोग का है
सुकर्म से त्याग किये भला है ॥८६॥

मालिनी छन्द

प्रमुदित सखियां सन्तोष पाके कहे यों
सुखद - समय आया आज ही पास आली
सुपथ-पथिकिनी - सीता - सखी ने बताया
पति-पद- शुचि सेवा मुक्ति औमुक्तिदात्री ॥८७॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य

सप्तविंश सर्ग समाप्त

अथ अष्टविंश सर्ग

साम्यवाद

इन्द्र वज्रा छन्द

होती जहां संसद[1]-भूप की थी
बोला वहां एक मनुष्य आके
भूपाल – भोग्या-अप्रजा-सभा है
कैसे सुखी भूप बिना प्रजा के ॥१॥

उत्पत्ति कैसे नवनीत की हो
जो अग्नि पे दुग्ध न उष्ण होवे
नाशे मथानी दधि रूप को जो
तो क्षीर छोड़े रस-आज्य साना ॥२॥

सौराष्ट्र – सेवी – नृप ने कहा यों
माली सदा सिंचन – कार्य करता
पुष्पादिकों को करता सुसेवा
होती प्रजा के हित में सभा है ॥३॥

---

१ सभा ।

बोला त्रिदेशी मृदु वाक्य में यों
आज्ञा मिले तो विनती करूं मैं
भूपाल का शासन दुखदायी"
प्रार्थी चहूं मैं उसको सुनाना ॥४॥

श्रीराम ने हर्ष समेत आज्ञा
दी थी उसे, सम्यक-शक्ति - बोले
विद्वान वाग्मी मृदु वाक्य बोला
माधुर्य बोली पिक ज्यों सुनाती ॥५॥

शाखा सभी को रस मूल देती
पै भिन्नता क्यों, फल न्यून से हो
आधिक्यता अन्य प्रशाख में हैं
वैषम्यता ही विष सी दिखाती ॥६॥

राजा रँगा रंग स्वअर्थ में जो
तो भोग नाना विधि के करे सो
आनन्द माने निज स्वार्थ ही में
लेता प्रजा - स्वत्व स्वकोष में है ॥७॥

लेता प्रजा की धन धान्य दारा
हो आततायी बहु दुख देता
द्रव्यादि छीने कर द्वार नाना
पानी बहे ज्यों घट छिद्र होते ॥८॥

राजा – प्रथा ही दुखदा बड़ी हैं
सारी प्रजा घोर विरोध करती
आश्चर्य है एक, अनेक दाबे
अज्ञान का लाभ नरेश लेता ।१४॥

छोटा - बड़ा - भेद मनुष्य में हैं
स्वार्थान्धता से असमानता है
भूखा पड़ा एक न वस्त्र भी हैं
पै दूसरा भोग अनेक भोगे ॥१५॥

क्यों भेद ऐसा नर औ नरी में
सामान्यता - दृष्टि कभी न आती
ईर्षा तथा द्वेष मनुष्य माने
वैषम्यता से दुख दैन्यता हो ॥१६॥

राजा-प्रजा की न प्रथा भली हैं
स्वामी तथा सेवक नात माने
संघर्ष दोनों कर दुख पाते
दो सांप कैसे बिल एक में हों ॥१७॥

ज्यों राशि एकत्र बड़ी दिखाती
सर्वस्व सौंपे जन राष्ट्र को त्यों
वस्त्रान्न पावें उससे सभी हैं
कासार - पानी सब जीव पीते ॥१८॥

वस्त्रान्न से हीन प्रजा पुकारे
भूपाल भोगी सुनता नहीं है
तो रोप जागे जन चित्त में है
दावा लगा ज्यों वन को जलाता ॥९॥

कासार[1] वेशन्त[2] निपान[3] वापी
सूखी पड़ीं, सूर्य - खररश्मि खींचा
तिग्मोष्णता व्याकुलता बढ़ाती
सीमान्त आगे पथ दुःखदायी ॥१०॥

जो वाष्प थी द्राव अनंत व्यापी
एकत्र होके घन रूप पाया
कादम्बिनी अम्बर में दिखाती
होती क्रिया क्रान्ति प्रतिक्रिया से ॥११॥

आकाश पृथ्वी, घन, मध्य में हो
चण्डांशु का अंशु - प्रसार रोका
की गर्जना - घोर अनन्त जाके
शाखा बड़ी अंकुर से हुई ज्यों ॥१२॥

था नीर आकर्षित सूर्य द्वारा
लेके उसे मेघ सघोष वर्षे -
थे; ताल सूखे, उमड़ा चले हैं
राजीव फूलें शिशरांत में ज्यों ॥१३॥

---

१ खोदे गये तालाव २ थोड़े पानी वाला तालाव ३ पशुओं के पीने के लिये कूए के निकट चरही।

राजा – प्रथा ही दुखदा बड़ी हैं
सारी प्रजा घोर विरोध कर्त्री
आश्चर्य है एक, अनेक दाबे
अज्ञान का लाभ नरेश लेता ।१४॥

छोटा - बड़ा - भेद मनुष्य में हैं
स्वार्थान्धता से असमानता है
भूखा पड़ा एक न वस्त्र भी हैं
पै दूसरा भोग अनेक भोगे ॥१५॥

क्यों भेद ऐसा नर औ नरी में
सामान्यता - दृष्टि कभी न आती
ईर्षा तथा द्वेष मनुष्य माने
वैषम्यता से दुख दैन्यता हो ॥१६॥

राजा प्रजा की न प्रथा भली हैं
स्वामी तथा सेवक नात माने
संघर्ष दोनों कर दुख पाते
दो साप कैसे बिल एक में हों ॥१७॥

ज्यों राशि एकत्र बड़ी दिखाती
सर्वस्व सौंपे जन राष्ट्र को त्यों
वस्त्रान्न पावें उससे सभी हैं
कासार - पानी सब जीव पीते ॥१८॥

वृद्धादि जो शक्ति विहीन होते
दे राष्ट्र वस्त्रान्न सभी जनों को
जो शक्तिशाली श्रम से कमाते
स्वाधीनता अर्जित - द्रव्य में हैं ॥१६॥

खावें खिलावें निज द्रव्य से वे
पै मृत्यु पश्चात न पुत्र पाता
शेषांश जाता सब राष्ट्र को है
कौटुम्बिकी—सम्पत्ति राष्ट्र की है ॥२०॥

आगार आराम सुखेत. वापी
वृक्षादि औ भूमि महीध्र-माला
सारी कमाई, पशु और पक्षी
हैं राष्ट्र के, स्वत्व न व्यक्ति का है ॥२१॥

दारा स्वसा, पुत्र सुता पतोहू
माता पिता सम्पति राष्ट्र की है
होता नहीं है अधिकार कोई
है राष्ट्र का स्वत्व सुवस्तुओं पै ॥२२॥

यन्त्रादि-खेती पशु द्रव्य लेके
व्योपार नाना करके कमावें
स्वातन्त्रता-व्यक्ति यही सदा है
पै राष्ट्र ही का अधिकार सारा ॥२३॥

जो वस्तु चाहो सब राष्ट्र देता
पै स्वत्व कोई उस पै नहीं है
खाओ खवाओ सुख से सभी को
पुत्रादि को दे सकते न कोई ॥२४॥

निर्माण हो राष्ट्र स्वदेश में यों
कोई न छोटा न बड़ा कहाता
सामान्यता-शक्ति सभी जनों में
है मान्य मेधावि-मनुष्य को भी ॥२५॥

मेधा-महात्मा प्रति प्रांत के जो
एकत्र होते करते सभा है
सर्वोच्च—मेधावि चुनें वहां पै
होता वही नायक-राष्ट्र का है ॥२६॥

पश्चात मंत्री अधिकारि—ऊंचे
प्रादेशकी—नायक-राष्ट्र को भी
श्रीराष्ट्र-स्वामी चुनता तभी है
केन्द्राभिगामी वह राष्ट्र होती ॥२७॥

स्वातन्त्रता शासन प्रांत देता
उद्देश्य रक्षा करता सदा है
आज्ञा सभी पै रहती उसी की
युद्धादि में सम्पति सर्व लेता ॥२८

होती लड़ाई न कहीं नरों में
स्वत्वार्थ औ सम्पत्ति के लिये है
सारी प्रजा को सुख राष्ट्र देता
गार्हस्थ्य, सन्यासि सँभालता ज्यों ।३४।

भिन्नावलम्बी जन – व्यक्तिता हो
हो स्वार्थ त्याग प्रति व्यक्ति का है
द्वेषाग्नि-ज्वाला जलते सभी हैं
पाते नहीं शांति, स्वस्वार्थ चिन्ता ।।३५।।

जो हैं धनी वे धन को बढ़ाते
उद्योग लेते निज हाथ में है
देते श्रमी को धन न्यून ही हैं
पर्याप्त होता न कुटुम्ब को है ।।३६।।

सामान्यता है श्रम द्रव्य की जो
तो क्यों श्रमी को कम दे धनी है
निर्वाह होता न, श्रमी दरिद्री
पाताल आकाश न साम्य होता ।।३७।।

हैं कोष पूरा धन से धनी का
संतोष होता न उसे कभी है
लेता श्रमी अंश, विशेष ही तो
क्यों पाट पाता, तृण कीट देता ।।३८।।

जो भूमि-स्वामी सब अन्न लेता
देता श्रमी को अति न्यून ही है
है पेट खाली कटि में लँगोटी
अन्याय होता दुखिया दुखी है ।।३६।।

होते अनेकों नृप देश में हैं
वे युद्ध जोड़ें एक दूसरे से
द्वंदाभिलाषी रण-रंग माते
होती नहीं शांति स्वदेश में हैं ।।४०।।

स्वल्पांश पाता सुख स्वार्थ साधे
होता दुखी, हा, अधिकाश प्राणी
आनंददा राज्य कहा न जाता
ज्यों सिंह मारे मृगवृन्द को है ।।४१।।

मालिनी छन्द

नृप-गण सुन बातें शांत हो सोचते हैं
जन मत हम मानें, प्रजा भी हमारी
'प्रमुदित नृप-आज्ञा लोक भी मानता है
सरि-पति शशि सा सम्बन्ध राज प्रजा का ।।४२।।

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
~ सर्ग समाप्त'

—अथ श्री नवंविंश सर्गः

साम्यवादोत्तर

* इन्द्रवज्रा छंद *

श्रीराम बोले वर मंजु वाणी
संसार है आश्रित चक्र ही पै
तो भेद भी संभव है सदा ही
पै चाल हो अन्तर चक्र ही के ॥१॥

ज्यों सिन्धु-धारा ध्रुव उष्ण जाती
पै लौटती शीतल मध्य को है
राजा प्रजा बीच बहाव हो त्यों
क्या भेद है शासन कार्य में भी ॥ २ ॥

राजा हुआ स्वार्थ अधीन ज्योंहीं
त्योंही प्रजा ने बदली तभी है
स्वाधीनता छीन बलात लेती
स्वामी न दे गो, परवाह चींथा ॥ ३ ॥

पै राज्य की चाल वही पुरानी
जो भूप की थी क्रम भेद क्या है
राजा हुआ है जन वृन्द नेता
ले हाथ में दण्ड प्रजा सँभाले ॥ ४ ॥

होता यहां शासक भूप ही सा
आज्ञानुवर्ती-प्रज, शीश नावें
मंत्री बनाये कुछ को स्वधर्मी
सर्वस्व ले अन्न सुवस्त्र देके ॥ ५ ॥

मंत्री तथा शासक साम्य-स्वामी
वैषम्यता शासित में समानी
स्वात्वाधिकारी किस वस्तु के हैं
सर्वस्व यत्नाप्त मिला उन्हें हैं ॥ ६ ॥

स्वाधीनता स्वप्न समान सी हैं
क्या दे सके संपति पुत्र को हैं
क्या आ सके द्रव्य विदेश लेके
खूँटा बँधा ज्यों पशु सो प्रजा है ॥ ७ ॥

व्यक्तित्व हो नाश प्रजा सभी का
जाता चला व्यक्ति विचार सारा
वंशावली नाश परम्परा हो
उत्कर्ष होता न विशेष कोई ॥ ८ ॥

जो नाश हों व्यक्ति-विचार सारे
स्वातन्त्रता-व्यक्ति रही कहा है
स्वच्छन्दता शक्ति समूह की हो
व्यक्तित्व को दाब रखे सदा है ॥६॥

सामूहिकी—शासन व्यक्ति पै हो
होता पराधीन समूह के है
दारा धरा धाम न स्वत्व में हो
कारा यथा जीवन काटता है ॥१०॥

उच्चाधिकारी कुछ व्यक्ति होते
वे दाब रखें सब शक्ति लेके
बस्त्रान्न देते सब शक्ति लेते
है राष्ट्र का जीवन बदियों का ॥११॥

क्या व्यक्ति प्रत्येक स्वयं स्वइच्छा
निर्माण सामूहिक शक्ति की है
ऐसा न होता 'अधिकार पाके
वे दाब लेते जन-जोर को हैं ॥१२॥

सर्वस्व लेके प्रति व्यक्ति का वे
एकत्र की संपति राष्ट्र की है
स्वाधीन होके व्यय को बढावें
उत्कोच दे राष्ट्र विदेश को है ॥१३॥

वे शक्तिशाली बनते बड़े हैं
युद्धादि में साहस भी दिखाते
है राष्ट्र की सपत्ति कोष पूरा
पै व्यक्ति प्रत्येक न स्वत्व पाते ॥१४॥

लेके प्रजा से धन धान्य सारा
स्वेच्छा लिये द्रव्य विदेश भेजे
क्या चौफुरों में रह, ऊख सा है
धान्यादि तैसे जन शेष पाते ॥१५।

सर्वस्व ले तामस—साम्यवादी
होती पराधीन प्रजा सभी है
यूं भी न सकती कर तीव्र मेधा
न्यायानुमोदी सुनता न वार्ता ॥१६॥

राष्ट्रानुरूपी जब राज्य होता
होते प्रजा के अधिकार-सारे।
जाता चुना शासक योग्य ही है
निर्माण होतो जय सत्य ही पै ॥१७॥

स्वेच्छानुवर्ती नृप हो न सकता
मंत्रार्थ मेधा-मत ले प्रजा से
राष्ट्रादि के काय करे सदा सो
आधार हो कारण कार्य का ज्यों ॥१८॥

होता जहां शासक-साम्यवादी
स्वेच्छा जगे क्या जन चित्त में है
दो चार मन्त्री रख राष्ट्र-नेता
सो राज्य भोगे अति क्रूरता से ॥१९॥

राजा-प्रथा को दुखदा कहो क्यों
होता नहीं अन्तर साम्यता में
क्या हाथ में शासन है प्रजा के
भूपाल सा शासक है वहां भी ॥२०॥

है साम्यवादी नर औ नरी जो
क्या भेद थोड़ा उनमें नहीं है
ईर्षा तथा द्वेष विहीन हैं क्या
वैषम्यता चित्त विशेष होती ॥२१॥

क्या रूप औ आकृति साम्य होती
क्या चित्तमें साम्य विचार भी हो
क्या साम्य-शौर्यो श्रम भी करें वे
छोटा बड़ा भेद मिटा कहां है ॥२२॥

संघर्ष से शून्य न साम्यवादी
वैषम्यता व्यक्ति-विचार की है
सारी-प्रजा-सेवक सी बनी है
स्वाधीन हो व्यक्ति, न साम्यवादी ॥२३॥

जंजीर में जा कड़ियां जुड़ी हैं
वे तो बँधी हैं कब ।भग्न होतीं
व्यक्तित्व शौर्यादि न चित्त में है
तो राष्ट्र-सेवी पशु सा बँधा है ॥२४॥

प्रत्येक प्राणी निज राशि द्वारा
दे राष्ट्र को संपत्ति पंक्ति बाँधे
शैलोच्च सा हो धन द्रव्य सारा
कासार भी पूर्ण, पयोधि भी है ॥२५॥

होती कमी क्या धन मांगने की
प्रत्येक प्राणी धन द्रव्य पूरे
वृद्धादि भी स्वार्जित – द्रव्य भोगें
ऐश्वर्यशाली कर क्या पसारे ॥२६॥

भिन्नावलंबी जन – जन्म होता
है वंश सम्बन्ध न कौन ऐसा
तो व्यक्तिता भिन्न अवश्य होगी
ज्यों बाग में वृत्त विभिन्न होते ॥२७॥

सामूहिकी-सृष्टि रची न स्रष्टा
अव्यक्त की व्यक्ति - विभेदता ने
दी चेतना, चेतन चित्त न्यारी
ज्यों एक पृथ्वी पर देश नाना ॥२८॥

वैभिन्नता जाति मनुष्य में हैं
नाना नई आकृति भिन्न होती
कर्मानुसारी नर रूप होता
वीची उठे वायु प्रवाह से ज्यों ॥२६॥

व्यक्तित्वता का अधिकार क्या है
स्वाधीनता सेवक सी दिखाती
क्या आत्मजा आत्मज है बिराने
पाते नहीं दाय धनादि को हैं ॥३०॥

दारा सुता पुत्र पिता पतोहू
कोई नहीं व्यक्ति – विशेष के जो
आत्मीय सम्बन्ध विहीन होते
क्या कीट सा जीवन व्यक्तियों का ॥३१॥

जो व्यक्ति का स्वत्व न मानते हों
तो दण्ड क्यों व्यक्ति विशेष देते
क्यों राष्ट्र-सारा उसको न मानो
न्यूनांश भी पूर्ण पदार्थ सा है ॥३२॥

आराम आगार विभिन्न होते
वृक्षावली औ फल फूल पाती
है भिन्न ये, राष्ट्र न भिन्न है क्या
क्या राशि-बालू कण हीन होती? ॥३३॥

है भिन्नता पूर्ण, कणत्व ही में
जो राशि का रूप स्वयं दिखाती
क्या हो स्वयं राशि पदार्थ कोई
अशांश – हीना निज रूप लेके ॥३४॥

होता नहीं जो गुण बीज में है
सो दृष्टि आता न प्रफुल्लता में
तो व्यक्तिता के गुण राष्ट्र में हैं
सामूहिकी स्वत्व न सिद्ध होता ॥३५॥

अंशांश पूर्णा यह सृष्टि ही है
ऐक्यांग का कौन पदार्थ होता
तो व्यक्ति के स्वत्व न राष्ट्र में हैं
ऐसा न सिद्धान्त प्रसिद्धि पाता ॥३६॥

छोटा बड़ा मिश्रण सृष्टि में है
ज्यों भेद शैलोच्च उपत्यका[१] में
नाला नदी औ छुप वाड़ में है
वैषम्य-संसार-असाम्य – साना ॥३७॥

मेधा–महात्मा–मुनि–त्यागि–तोपी
स्वार्थी–महा-मूढ़–स्वराग – रंगी
विद्वान वाग्मी कब मूढ़ सा है
द्वन्द्वाभिगामी जग – चाल होती ॥३८॥

---

१ पहाड़ के नीचे की भूमि ।

सर्वस्व लेके यदि स्वल्प देता
तो राष्ट्र का कार्य न युक्त शोभा
कैसे सुखी है जनता – विचारी
आबद्ध औ व्यक्ति-विचार-शून्या ।।३६।।

राजा तथा रंक न भेद कैसे
होता जहां शासक साज साजे
आनंद भोगे भव भोग नाना
रोता श्रमी सीकर - स्वेद-साना ।।४०।।

आया बहा नीर तड़ाग में जो
देता न सो, लोग बलात् लेवे
पानी उलीचें तब खेत जाता
द्रव्यादि–राष्ट्रीय, मिले न सीधे ।।४१।।

भूले हुये को पथ का बताना
कर्त्तव्य है मानुष का सदा से
आनंद मानो कहता उसे हूँ
सन्मार्ग का शोधन साधुता है ।।४ ।।

स्वार्थान्धता भूप विशेष आई
भोगे प्रजा - भाग, महा-अभागी
दारिद्र्ता से जन दुःख पाते
दावाग्नि से ज्यों वन भस्म होता ।।४३।।

होती प्रजा व्याकुल अर्थ - चिन्ता
वस्त्रान - आनंद - अभाव होता
बाढ़े असंतोष प्रजा - जनों में
नेता कहाता जन अग्र आता ॥४४॥

शौर्यादि से साहस को दिखाता
सेवादि से सिद्ध – परोपकारी
होता वही नायक है प्रजा का
गो-वृन्द की गोपति अग्रता ले ॥४५॥

सेवाभिलाषी कर राष्ट्र - सेवा
जो राज्य के दोष सभी दिखाता
पाता महा मान दुखी जनों से
ज्यों श्वान, स्वामी हृद भक्ति भावे ॥४६॥

होती विरोधी नृप की प्रजा है
ज्यों भूप भूला जनता सताता
हो द्वन्द दोनों दुख बाढ़ लाते
हा, मंद राजा च्युत राज्य से हो ॥४७॥

नेता - प्रजा शासन राज्य - का ले
जो था सदा शासित जन्म ही से
जो रेंगती थी तल - ताल चींटी
उच्चाद्रि के है शिखरोच्च पै सो ॥४८॥

काठिन्यता - शासन - कार्य होती
नेता - नये को अधिकारियों ने
संकेत देके नृप सा बनाया
दोषी न हो कौन कुसंग पाके ।४९॥

आज्ञा निकाले वह भूप की सी
लेता प्रजा से कर भिन्न नाना
राज्यांग बाढ़ा व्यय, आय थोड़ी
हो मूल दोषी रस शाख सूखे ॥५०॥

आश्चर्य माने जनता तभी है
नेता - नुकीला नय नाशता है
शीतांशु ज्वाला जड़ से जलाता
पानी पड़ा कौन न वस्त्र भीगे ॥५१॥

नेता वही शासक आज होके
देता बड़ी घोर कठोर आज्ञा
पीड़ा पुरानी जन की न जाने
थी जो घेंघी - कोरक फूल बैठी ॥५२॥

है शासकी, शासित भी कभी था
है पूज्य मानी, कल था पुजारी
तिग्मोष्णता शीत न नित्य होता
पै देश दीखे ऋतु रूप ही में ॥५३॥

शिक्षा नहीं शासक को मिली थी
था पूर्व में शासित ही पुराना
ऐसी दशा में जनता दुखी है
राजा-अभागी दुख दे प्रजा को ॥५४॥

हो राष्ट्र-स्वामी भयभीत भारी
आगे चुना संभव है न जावे
संदेह में क्या दृढ़-बुद्धि होती
जीमूत ज्यों वायु-प्रवाह घूमें ॥५५॥

जो अन्य आया बन राष्ट्र-स्वामी
सो राज्य का रूप, स्वरूप देता
कालान्तरोत्तर नाश होता
हो राज्य, पानी-पथ सा डमैला ॥५६॥

था, राष्ट्र-स्वामी, अब दीन सा है
ऊँचे चढ़ा जो गिरके दुखी है
ऐसी दशा भौतिकता बढ़ाती
हो ऊर्ध्व का ज्ञान न राष्ट्र को है ॥५७॥

है लाभ, लोभी अधिकारियों को
आया, गया, नायक राष्ट्र का है
ज्यों के रहे त्यों सब वे सयाने
यात्री नये, नाविक है पुराना ॥५८॥

होती स्वअर्थी मति-मूढ़ बढ़ा
औदार्यता चित्त न उर्ध्व की हो
है तामसी-राजस-राज्य फैला
जाने नहीं सत्य न धर्म को है ॥५९॥

युद्धाग्नि-ज्वाला जलती सदा है
पाती प्रजा शांति न, भूल से भी
निर्माण होती बहु टोलियां हैं
वे स्वार्थ लेके चलती सभी हैं ॥६०॥

वे राष्ट्र को निर्बलता सदा दें
स्वार्थान्धता सत्य न देख पाती
धोखा मिले से जनता दुखी हो
कापट्यता पूर्ण विचार होता ॥६१॥

पाते कभी शांति न स्वप्न में हैं
कापट्यता और छल से भरे हैं
है द्वन्दता अन्तर बाह्य पूर्णा
अंगार, ज्वाला सम तप्त ही है ॥६२॥

ऐसा न होता नृप सात्वकी में
शौर्यादि शोधे सुख शांति पाता
पाले प्रजा को सुत सा सयाना
उद्यान, माली, तरु सींचता ज्यों ॥६३॥

माला पिरोई गुरिया विभिन्ना
त्यों व्यक्ति स्वच्छन्द प्रजा सभी है
पै सात्वकी-शासन में बंधे हैं
ज्यों भिन्न शाखा रस मूल देती ॥६४॥

राजा-प्रजा- प्रीत विशुद्ध होती
चिन्ता सदा हो इक दूसरे की
जैसे नदी वारि पयोधि देती
हो वारि-वर्षा सरि, सिन्धु द्वारा ॥६५॥

स्वाधीन प्रत्येक प्रजा प्रसन्ना
द्रव्यादि से पूर्ण स्वकोष राखें
चिन्ता न होती धन की कमी है
हो स्रोत धारा जल की कमी क्या ॥६६॥

राजा रखे ध्यान प्रजा सुखी हो
ऐसा करे कार्य कि द्रव्य पावें
चिन्ता मिटे आर्थिक, तुष्टि आती
लागी क्षुधा क्यों जब अन्न खाया ॥६७॥

सिद्धान्त शोधा यह साम्यता का
जाता घसीटा नर-उच्च, नीचे
ऐश्वर्य और ज्ञान विनाश होता
जो स्वर्ग से जीव गिरे दुखी हो ॥६८॥

वस्त्रान्न ही ध्येय मनुष्य का क्या
उद्योग-सारा उसके लिये हो
ससार में नित्य-निवास है क्या
मेधा मथा तो नवनीत पाया ॥६९॥

वस्त्रान्न को श्रेष्ठ सुमुक्ति माने
सर्वस्व ही सा उनके लिये सो
उर्ध्वाभिगामी कब हो सके वे
कैसे चढ़े। पंगु हिमाद्रि ऊँचे ॥७०॥

वस्त्रान्न क्या जीवन ध्येय होता
जो निम्न-वर्गी-जन का सहारा
वे भोग ही को जग श्रेष्ठ माने
ज्यों अस्थि को स्वान सुखी चबाता ॥७१॥

वस्त्रान्न को पूर्ण न देश पाता
सो श्रेष्ठता दे इनको बड़ी हैं
काला रंगा रंग न श्वेत होता
त्यों तामसी को भव-भोग प्यारा ॥७२॥

कैसे वहां ईश्वरता दिखावें
क्या नेत्र-रोगी रवि श्वेत दीखे
सर्वस्व-रोटी जिस देश में हो
उर्ध्वाभिगामी वह क्या सके सो ॥७३॥

लेता सदा द्रव्य प्रजा न देता
तो दीन है तो जनता यहां है
सूर्यास्त में जो उदरान्न जाता
वस्त्रान्न को क्यों न महत्व देवें ॥७४॥

स्वार्थान्धता तामस जन्म देता
होता जहां है नर स्वार्थ साधे
आवर्त जैसे जल खींच लेता
त्यों लोभ लिप्सा वश वस्तु छीने ॥७५॥

संतोष होता न अभीष्ट से भी
खींचे सभी द्रव्य स्वकोष को हैं
चारों दिशा में यह कार्य होता
ज्यों ताल सूखा जल को खलीचा

पानी बिना मीन दुखी दिखाती
मध्यान्ह-तप्तार्क पथी व्यथी ज्यों
वैसे प्रजा व्याकुल पेट खाली
वस्त्रान्न को क्यों नहिं श्रेष्ठ मानें ॥७७॥

होता जहा शासन सात्वकी है
देती स्वय वस्तु प्रजा - निवेकी
लेवा न कोई जन तुष्ठ सारे
गंगाम्बु पीके न, तृषा सतावी. ॥७८॥

सारी बुराई छद मध्य होती
जैसा किया निश्चय कार्य त्यों हो
श्रद्धा हुई सत्य प्रवेश पाया
अभ्यास होने पर धर्म आया ।।७६।।

दोनों हुए संग रमेश आये
श्रीनाथ को त्याग सके न लक्ष्मी
ऐश्वर्यशाली तब देश होता
वस्त्रान्न चिंता किसको वहा है ।।८०।।

जो तुष्टि पूरी उदरान्न से है
तो क्षीनता कौन सुखाप्र रोटी
क्या रेंगता भूमि सपक्ष--पक्षी
जो सेज सोता वह दौड़ता क्या ।।८१।।

हो नहीं वर्ग समाज में जो
एकामयी हो जनता विभिन्ना
कोई विशेषज्ञ न कार्य कोई
ज्यों पंक-पानी मल सा दिखाता ।।८२।।

उत्सेधना१--वृक्ष--विशाल में हो
पै मूल पृथ्वी-तल में समानी
शाखा प्रशाखा रस आर्द्र देती
त्यों श्रेष्ठता आर्य--समाज की है ।।८३।।

सुस्कन्ध--मोटा, जड़--पत्र--होना
शोभा-निराली--फल--फूल--शाखा
कर्त्तव्य-न्यारे सब भाग के हैं
है पालिका मूल कुटुम्बिनी सी ।।८४।।

पृथ्वी घसी मूल स्वबीज रूपा
शाखा-शिखा बीज सहस्र देवी
है निम्न जो, उच्च समाज में है
कर्त्तव्य पै निर्भर वर्ग सारे ।।८५।।

कार्यानुसारी प्रति वर्ग होते
वे कौशलो अन्तर-बुद्धि प्यारे
हैं दक्ष दाक्षिण्य स्वकार्य में वे
ज्यों पंख-पक्षी, पद-पादचारी ।।८६।।

होते विशेषज्ञ, स्व-कार्य में हैं
सूक्ष्मातिसूक्ष्मी--मति--मंत्रणा से
ईर्षा न हो मूल स्व-वर्ग में है
मीरयापगा में तरते प्रमोदी ।।८७।।

साम्यता, साम्य-समूह लेके
ऊँचे कभी आ सकते नहीं है
हो भौतिकी-बुद्धि न आत्म चिन्ता
ज्यों गोह पृथ्वी चिपटी न त्यागे ।।८८।।

माता--पिता-प्रौढ़—विवेक-बोधी
पै पुत्र, त्यागे—मल को उठाता
वर्गानुगामी न समाज होता
स्वच्छन्द होके जन गर्तगामी ॥८६॥

अभ्यास से बुद्धि विकाश पाती
अभ्यास से अन्तर चित्त चेते
अभ्यास से आत्म-सुबोध होता
अभ्यास ही है सुख दुःख-दाता ॥६०॥

अभ्यास होता न परम्परा से
तो दक्षता हीन-मनुष्य भी हो
कैसे वहां कौशल कार्य होवे
क्या चंचला-दीप्ति अजस्र होती ॥६१॥

है आर्य की संसुकृती[१]-अनूठी
वे लोक ही से परलोक साधे
उद्देश्य- संसार-विमुक्ति पाना
संग्राम-शोभा जय-लाभ से है ॥६२॥

वैभिन्न ही, आत्म-अभिन्नता है
नारा अनेकों सरि वेग दें ज्यों
वृक्षावली भिन्न फलादि लागे
आराम-शोभा शुचि भिन्नता से ॥६३॥

---

१ संस्कृति ।

विद्या-विलासी तप-शील सोधी
ज्ञानी विवेकी स्वसमाज सेवी
हैं स्वार्थ से दूर परोपकारी
त्यागी बड़े ब्राह्मण--ब्रह्म बोधी ॥९९॥

निष्काम खेवें स्व-समाज नौका
शूद्रादि को साथ लिये हुए हैं
कर्तव्य पै दृष्टि सदैव राखे
मर्याद सीमा न ढलंघ कोई ॥१००॥

वे अल्प को कल्प करें क्रिया से
विप्रेन्द्र हो शूद्र सुधी कृपा से
सो जीव लेता सुर-लोक भी
आज्ञानुवर्ती द्विज के हुए से ॥१०१॥

है शूद्र जो आर्य-समाज-सेवी
सो श्रेष्ठ हैं अन्य समाज-नेता
ऊर्ध्वाभिगामी जग पार होता
हाथी चढ़ा सेवक साथ स्वामी ॥१०२॥

क्या विप्र औ शूद्र न साम्य साथी
हैं वर्ण दोनों स्व-समाज ही के
अन्योन्य--कर्तव्य बँधे हुए हैं
ज्यों शीश औ पाद स्वदेह के हैं ॥१०३॥

हैं शूद्र आगे जग की दिशा में
औ विप्र अग्री दिश ऊर्ध्व में हैं
दोनों बड़े हैं पर साथ ही है
ज्यों सारथी हैं रथ में रथी के ॥१०४॥

हैं वर्ण चारों स्वकुटुम्ब ही से
हैं भिन्न कर्तव्य अभिन्न हो के
ज्यों शृंखला में कड़ियां बँधी हैं
ऐसा कहां साम्य समाज होगा ॥१०५॥

दे प्राण को भी पर अर्थ रक्षा
हैं तो सभी एक दधीच भी हैं
भूखे स्वयं अन्य स्व-अन्न देते
वे विश्व को बन्धु सप्रीत माने ॥१०६॥

मर्याद के अन्तर व्यक्ति जो हैं
सो पूर्ण स्वाधीन स्वकर्म में हैं
कर्तव्य का लक्ष न दृष्टि चूके
संसार में जीवन मुक्त सो है ॥१०७॥

राजा सदा सत्य सुधर्म धारे
पाले प्रजा को सुख दे, दुखी हो
अन्याय से द्रव्य न ले प्रजा से
जो है प्रजा सेवक स्वर्ग जाता ॥१०८॥

जो कार्य-कर्ता-कुशली कला में
सेवा सभी की करते सदा हैं
वे सर्व-आवश्यक-वस्तु पावे
है राष्ट्र सारा सहयोग ही में ॥१०६॥

जो हैं कला-कौशल-कार्य कर्ता
देते सदा वे सहयोग ओढ़े
की पूर्ति जाती कम वस्तु की है
हो साम्यता में न असाम्यता है ॥११०॥

है मंडलाधीश-स्वराष्ट्र-सेवी
रक्षा करें साम्य—विधान की वे
वैषम्यता मंडल में न होवे
सामाजकी-शासन दृष्टि राखें ॥१११॥

सम्राट—आज्ञा प्रति मडलों को
देता रहे निश्चित-साम्यता की
होती-बुराई जड़ से उखाड़े
जैसे निकाला तृण खेत जाता ॥११२॥

सम्राट लेता धन राष्ट्र—रक्षा
औ शेष—सारा जनता लिये है
द्रव्यादि के कोष भरे हुए हैं
देखो प्रजा पै न नरेश लेता ॥११३॥

है कोष प्रत्येक निकेत पूरा
सम्राट लेता न प्रजा हितार्थी
संग्राम होता, जन द्रव्य देते
औ युद्ध योधा बन शत्रु जीतें ।।११४।।

प्रत्येक - प्राणी पर दृष्टि होती
आज्ञानुवर्ती जन - साम्यता का
वैषम्यता पाकर मूल खोजें
क्या व्यक्तिमें सत्य कहीं नहीं है ।।११५।।

वैषम्यता - कारण का पता लें
उत्पन्न क्या व्यष्टि, समष्टि में है
पाते जहां मूल उखाड़ फेंकें
धारा धरे साम्य नदी बहाते ।।११६।।

श्रीमान का साम्य न ऊर्ध्वगामी
नीचे गिरे ऊपर से सभी हैं
वस्त्रान्न औ इन्द्रिय-भोग ही को
संसार का सार अभीष्ट माने ।।११७।।

माने रहो जीवन अन्त ही लों
पै मृत्यु पीछे फल क्या मिलेगा —
अज्ञानता, विज्ञ विलोकते हैं
आवृत्ति - संसार न दृष्टि देते ।।११८।।

नीचे बड़ा आयत अद्रि का है
सूक्ष्माति सूक्ष्मी - शिखरोच्च होता
तैसी दशा आर्य समाज की है
विपेन्द्र औ शूद्र स्वराष्ट्र रखें ॥११६॥

संसार में शूद्र पड़ा हुआ है
विपेन्द्र क्षत्री सहयोग देता
चाहे चलें वे, यह अग्रगामी
अश्वावली यूथ चले यथा हैं ॥१२०॥

विपेन्द्र हो शूद्र समान धर्मी
क्षत्री तथा ब्राह्मण मुक्ति पाते
वैकुण्ठ जाता वह शूद्र भी है
है साम्यता - आर्यसमाज ऐसी ॥१२१॥

श्रीमान का साम्य समेट लेता
रारयांश यों पर्वत सा दिखाता
है भिन्न दाना सरसों सरीखे
जो एक दाना लुढ़का अकेला ॥१२२॥

एकत्र दाना रह क्या सकेंगे
आँधी चले वे सब भिन्न होंगे
जो एकता आज विलोकते हो
सो नष्ट होगी अति-वात ही से ॥१२३॥

जो साम्यता अन्तर में नहीं है
सो वाह्य आडम्बर से नहीं है
क्या वल्क सूखी रस वृक्ष लेती
हो त्यों प्रजा का हृद अन्य ही है ॥१२४॥

होती दशा आर्यसमाज ऐसी
श्रद्धा रखे अन्तर साम्यता की
श्रीनाथ को श्रेष्ठ अभीष्ट माने
आगे व पीछे चलते सभी हैं ॥१२५॥

संसार को साधन मात्र माने
जाते चले हैं सब ऊर्ध्व ही को
हैं लिप्त क्या इन्द्रिय-भोग में वे
पानी घिरा पद्म न नीर छूता ॥१२६॥

मानो बुरा जो न कहूँ सफा मैं
लेता बसेरा द्विज रात्रि में ज्यों
प्रत्यूष होते दिश-भिन्न जाते
त्यों राष्ट्र सारा अकुला चुका था ॥१२७॥

मोरा बुरों को बल-बाढ़ पाके
सो बाढ़ थोड़े दिन लौं चढ़ेगी
जावे वही अन्त पयोधि को है
थाहू नदी अन्तर फूल होगी ॥१२८॥

डाकू डकैती कर द्रव्य - लेते
दें अन्य पीडा निज स्वार्थ को ले
त्यों राष्ट्र भूखी पर साम्य थोपो
नेता करें साधन शक्ति सोधे ॥१२६॥

नेताग, मेधा, बल, शक्ति जो है
सो क्षीण कालान्त अवश्य होगी
होगा वहां का जन-राष्ट्र पोढा
सह्याद्रि से स्रोत बहे नदी को ॥१३०॥

जो भाव अन्तर राष्ट्र के हों
चित्ताग्र के सन्मुख आ विराजे
मेधावि मेधा मथ के निकालें
सत्यानुरागी सतमार्ग शोधें ॥१३१॥

वर्णाश्रमी हैं सहयोग साधें
तीर्थादि जाके बहु द्रव्य देते
पर्वादि में पुण्य करें सभी हैं
आतिथ्य-सेवा प्रति ग्राम में हों ॥१३२॥

अन्नादि - भिक्षा प्रति प्रात देते
दानादि पावे जन-दीन जो हैं
सर्वेष्ट माना उपकार को है
भूखे स्वयं, भोजन अन्य को दें ॥१३३॥

सिद्धान्त हो भंजन पूर्व आके
आतिथ्य देखें जन द्वार कोई
हो तो खिला के तब आप खावें
वर्णाश्रमी वास्तव साम्यवादी ॥१३४॥

सन्यासि आता द्विज-द्वार कोई
कर्तव्य - सिद्धान्त गृहस्थ देना
भूखा रहे आप, उसे खिलावे
क्या त्याग ऐसा जन-अन्य में है ॥१३५॥

कूपादि वापी सरि सेतु-नाना
आराम औ मन्दिर धर्मशाला
निर्माण की नीति परार्थ - सेवा
अन्यादि,- ब्रह्मार्पण हेतु होता ॥१३६॥

ब्रह्मान्न विश्राम सुसत्र खोले
यात्रादि के भी बनते सहायी
सर्वस्व दे के रघु ने दिखाया
भूपाल त्यागी बन अन्य देता ॥१३७॥

यों शांति पाता जन-राष्ट्र सारा
ऊर्ध्वाभिगामी जग-भोग त्यागें
ऐसा न हो तो जन गर्त जाते
पाते महा कष्ट स्वकर्म ही से ॥१३८॥

श्रीमान का साम्य पयोधि-सा है
क्या देश व्यापी, जल-पेय भी है
है एक - देशी - उपयोगिता में
खारी करे सो मधुराम्बु को भी ॥१३९॥

वक्तव्य मेरा अब हो चुका है
श्रीमान मेधावि, विचार कीजे
जाते अधो - ओर भवान भूले
ऊर्ध्वाभिगामी पथ - आर्य का है ॥१४०॥

बोला विदेशी तब मंजु वाणी
धूम्रादि को वायु - महान - आत्मा
दे के भगाया मति-मन्त्र झोंका
आकाश - स्वान्तान्तर[1] शुद्ध दीखे ॥१४१॥

मालिनी छन्द

नृप - गण - गुरु ने की राम-राजा बड़ाई
सब - कर - युग जोड़े धन्य - धारा बहाते
तम - तल जन जाते साम्यवादी कहा के
"सिरस" सुखद होती सत्य की साम्य सेवा ॥१४२॥

इति श्री रामविलकोरसव महाकाव्य
नवविंश सर्ग समाप्तम्ः

1—हृदय अन्तर

कमल के सर केशर कोप से
मधु भरे उभरे रस-रंग में
मधुकराकर१ आकर२ गूंजते
अतिथि आश्रय आश्रय दानि का ॥४॥
अगमता३ गमकी गम की नहीं
मृदुल मञ्जरि मंजु सुगंधि है
नवल—पल्लव पल्लविता—लता
कलित कोमल कोश कुमारिका ॥५॥
शिखर-शाख शिफा४ छद५ शाल६ की
सरसता रस की वश की नहीं
हरित-पल्लव हैं मृदुल चीकने
अगम—आगम जान वसन्त का ॥६॥
मुकुल आकुल व्याकुल होरही
न कलिका नलिका रस रोंकती
रसवती नवती इव जालिका
नवलता—वलता वश . पौरुषी ॥७॥
पलरली७—दल—अंकुर—पीतता
हरितता रँगता निज पत्र में
स्वकुल-रीति प्रतीति न त्याग क्यों
सजंग—साधक साधन सिद्ध हो ॥८॥

---

१ भौरों का झुन्ड, २ कान, ३ वृक्षावली, ४ छोटे छोटे पत्तों वाली
५ भरी हुई, मिली हुई, ६ जड़, जटा, ७ पत्ता, ८ वृक्ष, ९ अधखिली कली
१० पीपल ।

३० वां सर्ग

वन विहार वर्णन

द्रुत विलम्बित छन्द -

नकजा रघुनन्दन संग में
वन विहार विलोक प्रसन्न थीं
वन तमाल प्रवाल१—प्रफुल्लता
सदल—पल्लव,२-परसव दे रहा ॥१॥

वन वनान्त वसन्त मनस्थली
मन मनोज मनो जन व्याप्त था
कल कली निकली नव-अङ्गना
मधुरता मधुता मधु चाकती ॥२॥

विपिन वापि नवीन निकुञ्ज में
नग३ निशेश दिवेश दिवा निशा
सरित सागर नागर नागरी
वर वसंत वसन्त अनन्त-सा ॥३॥

...प, २ ऊपर को उठे हुए, ३ पर्वत,

कमल के सर केशर कोष से
मधु भरे उभरे रस-रंग में
मधुकराकर१ आकर२ गुंजते
अतिथि आश्रय आश्रय दानि का ॥४॥
अगमता३ गमकी गम की नहीं
मृदुल मञ्जरि मंजु सुगधि दे
नवल—पल्लव पल्लविता—लता
कलित कोमल कोश कुमारिका ॥५॥
शिखर-शाख शिफा४ छद५ शाल६ की
सरसता रस की वश की नहीं
हरित-पल्लव हैं मृदुल चीकने
अगम—आगम जान बसन्त का ॥६॥
मुकुल आकुल व्याकुल होरही
न कलिका नलिका रस रोंकती
रसवती नवती इव जालिका
नवलता—वलता वश पौरुषी ॥७॥
चलदली७—दल—अंकुर—पीतता
हरितता रँगता निज पत्र में
स्वकुल-रीति प्रतीति न त्याग क्यों
सजग—साधक साधन सिद्ध हो ॥८॥

---

१ भौरों का झुन्ड, २ कान, ३ वृक्षावली, ४ छोटे छोटे पत्तों वाली ५ भरी हुई, मिली हुई, ६ जड़, जटा, ७ पत्ता, ८ वृक्ष, ९ अधखिली कली १० पीपल।

मुदिर१ मेदुर२ सेंदुर सा रङ्गा
गरजता तजता ३करकावली
बढ़ गया, न गया निधि न्याय के
विपद - वायु पड़े थपड़े लगे ॥१४॥
शरद शारद४ सार दलाङ्ग ले
सर खिले अखिले अलि गूंजते
मधुकरी पकरी मधु की लता
रस सनी विसिनी५ विसद नीरजा ॥१५॥
७शिशिर - अङ्क न शङ्क निशा रहे
दिन निदाघ प्रभाव दिखा रहा
मृदुल भूपति हो वश अन्य के
निवल की युवती नवती सभी ॥१६॥
हिम हिम्मत न अन्त दिवंत में
कर प्रशीत, अशीत न पास में
शशि सखा हरषा न रखा कहीं
८वियत वत्स न विष्णु-सहिष्णुता ॥१७॥
प्रिय लखो दल खोकर शाल ये
अगुणता गुणता सँग में लिये
समय व्यक्त हुआ यदि वक्र है
हरि जपें न कँपे हरिभक्त जे ॥१८॥

१—मेघ, २ चिकना, ३ मेघों द्वारा छोड़े हुए पत्थर समूह, ४ कमल खेत, ५ कमल समूह, ६ कमल की डंडी, ७ जाड़ा, ८ आकाश ।

१चमरिका कलि क कलसी बनी
नव - सुरङ्ग स्वअङ्ग रङ्गी भली
अहह, पथ्य २पड़ी सिकुड़ी बिके
निधनता धनता न रँगो रहे ॥९॥

अमलतास न त्रास दिया कभी
सुमन - रङ्ग - सुरङ्ग सना हुआ
मधुप-सा धव माधव में बना
धनिक पास सुपास सभी दिखें ॥१०॥

ऋतु सभी ऋतुराज स्वराज्य में
निज स्वभाव - प्रभाव प्रचारतीं
नृपति दे दुख चाटु ३उदूक्तिता
अनिल४ से मिल पुष्प गिरे मही ॥११॥

ऋतु - नरेश विशेष प्रसन्नता
मन हुई, अनकूल दिखे सभी
सब सुखी नृप और प्रजा मिले
मुदित दम्पति सम्पति सर्व हैं ॥१२॥

५उषस ६चन्ड प्रचण्ड निदाघ में
तप रहा, नर, हा, बहु हांफते
यदि सुशील, कुशील न त्रास दे
पद स्वयं उपहास - निवास में ॥१३॥

१—कचनार २ दुकूल ३ खुशामदीपन ४ वायु ५ प्रातःकाल ६ सूर्य ।

मुदिर१ मेदुर२ सँदुर सा रङ्गा
गरजता तजता ३करकावली
चढ़ गया, न गया निधि न्याय के
विपद - वायु पड़े थपड़े लगे ॥१३॥

शरद शारद४ सार दलाङ्ग के
सर खिले अखिले अलि गूंजते
मधुकरी पकरी मधु की लता
रस सनी बिसिनी५ बिसद नीरजा ॥१५॥

७शिशिर - अङ्क न शङ्क निशा रहे
दिन निदाघ प्रभाव दिखा रहा
मृदुल भूपति हो वश अन्य के
निबल की युवती नवती सभी ॥१६॥

हिम हिंमत न अन्त दिगंत में
कर प्रशीत अशीत न पास में
शशि सखा हरषा न रखा कहीं
८वियत व्याप्त न विष्णु-सहिष्णुसा ॥१७॥

प्रिय लखो दल, खोकर शाल ये
अगुणता गुणता सँग में लिये
समय व्यक्त हुआ यदि चक्र है
हरि जपें न कँपे हरिभक्त जे ॥१८॥

१—मेघ, २ चिकना, ३ मेघों द्वारा छोड़े हुए पत्थर समूह, ४ कमल श्वेत, ५ कमल समूह, ६ कमल की डंडी, ७ शीत, ८ आकाश ।

सुतरु-अंकुर मंकुर से जगे
स्वप्रतिकार सुधार करें भले
किशलयी कलसी विलसी बसी
सुजन भाजन द्रव्य, दरिद्र से ॥१९॥

श्र-जलता-तल, भास्कर तप्तता
अनिल वेलिन केलि कला करें
नव-लता नलिनी अलिनी लिये
रसवती श्रवती सुर श्लाघिता ॥२०॥

प्रिय लखो जलता लपटें चले
शुचि स्वतन्त्र मनो इव यन्त्र है
गति पदाङ्ग-वराङ्ग बढ़ी हुई
सजगता तन की, मन की यथा ॥२१॥

धव-ध्वजा सधवा शिर मांग ले
विशद-मौक्तिक साज सुद्रन्दता
लसत सेंदुर मेदुरता महा
इव प्रयाग सुहाग सँवारती ॥२२॥

किलकती लुकती टिकती नहीं
नव-रसाल विशाल शिखी दिखा
नयन-लोहित, मोहित चोल मे
बचन-चातुर, चातुर सी पिकी ॥२३॥

सुचिरता१ चिरता २सुचिराङ्ग से
महॅंक मालति चालति चाव से
मलिनता मिटती टिकती नहीं
इतर - गंध सुगन्ध सनी सदा ॥२४॥
मधुर - माधुर३ माधुरतामयी
मधुप माधुपि माधव४ गूंजते
मधुरता-धुरता ५ धर माधवी
मधुक माधुविका६ मधुता कहा ॥२५॥
अनिल-मालिन पालिन पुष्प की
मिल रही न रही मुख को छिपा
दृग मुॅंदी कुमुदी इव लाज है
मगन अङ्ग असग नवाङ्गना ॥२६॥
सुमन के मन के सुविचार को
गुथ रही थिर ही न रही कभी
दुख मिले अमिले मिलता जभी
सुसमता ममता चर अन्त में ॥२७॥
निकर नाच रहीं मुद मोरनी
मन मनोज मनो जगता नहीं
सुख कहाँ वर ही विरही बना
समय के वल केवल साधना ।२८॥

१—भलाई, २ देवता अङ्ग, ३ मल्लिका पुष्प ४ बैशाख माघ, ५ भार, ६ महुआ की शराब मोर।

नवल - शाल विशाल - रसाल हैं
अनिल चौर चला कर चौर का
सुरभि सौरभता भरता भले
सुजनता जनता उपकार में ॥२६॥

कलित-कोमल-बोल - अमोल हैं
यदपि रंग कुरंग - कलूटि सी
सुगुण औगुण मिश्रित हो रहे
शशि शशाक१ स्वअङ्क कलंक ले ॥३०॥

नव-पलास - सुपल्लव पुञ्ज में
हरित - कोमल - मेदुरता मढी
वन बना मन - मोहक मौनिका
नृपति रञ्जन सज्जन भी करें ॥३१॥

अति प्रलंब कलपर ललाम सा
फल कठोर सुठौर उरोज से
युवतियां बतियां बतला रहीं
मुदित मन्मथ३ मन्मथ४ देख के ॥३२॥

वनप्रिया५ पपिया प्रिय बोलते
मदिर मागध६ हैं ऋतुराज के
गति संयोग वियोग बखानते
मन मिले, न मिले सुख दुख है ॥३३॥

१—चन्द्रमा, २ तीर, कदम्ब वृक्ष, ३ कामदेव, ४कैथा वृक्ष, ५ कोकिल, ६ आनन्दकारी,

प्रकृति पेपणि१ पेपणि२ पीसती
स-मन इन्द्रिय इन्द्रिय३-यातनी
मुदित, मंद — सचेत अचेत भी
प्रिय पतंग४, पतंग५ न, दीप है ॥३४॥

सजगता गजता६ गति मंदता
चल रही न रही थिर आपगा
कर७ किलोल बिलोलत नीर को
द्रवित वाचित, त्रासित व्यंग से ॥३५॥

धवल - धूल - वधू — ललना मनो
न अकलंक, कलङ्क लगा रही
कुल लगी कलँगी अब है नहीं
हरित हार कहां पतझार में ॥३६॥

विहँग बोल अमोल वनांत में
मधुर - माघव माघव सा सुखी
तव समाधि न साध सके तपी
मदन मादकता झुक ताकती ॥३७॥

प्रिय, पराङ्मुखी सुमुखी लखो
मधुरि मानिन दानि न मान की
मन स-मान गुमान भरे फिरे
थकित — भार सँभार न, भामिनी ॥३८॥

---

१ बीच, २ पीसने की मिल, ३ इन्द्रियों का विश्राम स्थान, ४ कीट ५ सूर्य, ६ हाथियों का समूह, ७ सूंड़ ।

निज – स्वरूप – अनूप गुमान में
भटकती तकती नव – नागरी
सुख – सनेह न नेह करे सखी
कल - कली निकली मुख मूंदती ॥३९॥

रस भरी जबरी उभरी चले
शुचि सरोज - उरोज सँभालती
दृग तके न रुके न झुके कहीं
अबल – वाम, कहां बल काम का ॥४०॥

विहँसती हँसती जनकात्मजा
करण–कारण दारुण दुःख का
पति, प्रिया अप्रिया मन से किया
पवन की गति जाग्रति की शिखा ॥४१॥

सरित – धार सुधार धरे बहे
भँवर - भ्रामिक-यामिक सा जगा
प्रभु, न दोष अदोषित को वहां
पति – सुप्रीत प्रतीत घड़ी प्रिया ॥४२॥

विरंति में रति प्रीतम की हुई
दुख भरी उभरी मन - चिंतना
स्वतनु रोग, निरोग न अंग है
कस करे सँकरे - मन: अर्चना ॥४३॥

मुदित - मैथिलि देखति मल्लिका
महँकती हँकती अलि भी नहीं
मन - बर्दार रवद्वार सुदान दे
यश यशी लसता विदिशादिशा ॥४४॥

बल न नैतिक केतकि के रहा
कब सजी ऋतुराज - सुराज में
सुमन - हीन, नहीं नवला - कली
गुण गरूर गरू रस रोकती ॥४५॥

सुमन वेमन से गिर भूमि में
रस रसा निरसा कर पाँखुरी
सुख जहां दुख आ मिलता तहाँ
अहह, हंत न अंत प्रसन्नता ।४६॥

सुमन - हास - विलास, निरास है
यह पड़ा थपड़ा युग का सहे
अब न लौट पलोटति भाग्य है
जल बहा कब, हा, घर घूमता ॥४७॥

कब कली निकली मन मौज ले
मधु - मरंद न मंद रहा तभी
विकच हो, कचता न रही कहीं
नम चढ़ा जन हा गिरता गढ़ा ॥४८॥

रटत चातक पातक सा किये
घन - घटा न अटा दिखती वधू
वह पुकार हुँकार न पा रहा
समय देख सुलेख लिखे सुखी ॥४९॥

शुचि - समीर गँभीर प्रसून में
मिल रही लर भी न लिये वही
वन वनान्त अनंत सुगंध दे
सदुपकार - पुकार सुखी करे ॥५०॥

कुसुम के सुम रग विरंग हैं
तदपि छाट न काँट लगे रहें
कुजन जो सँग सज्जन के हुआ
अगुण औ गुण के गुण भिन्न हों ॥५१॥

विहँग बोल रहे मृदु बोल हैं
मिथुन मोद विनोद करें वहा
उड़ मिलें, न मिलें, फिर से मिलें
मन - प्रभाव, स्वभाव स्वयं बने ॥५२॥

प्रिय लखो विहँगावलि बाग में
मधुर बोल सुनें सब मोल लें
बल मिले, मिलते जन जोर से
चमकि गायकि - नायकि गावती ॥५३॥

वन मृगी मृग के सँग में भगी
परम - प्रीत प्रतीत पगी फिरे
युवति कंत इकंत मिले सुखी
मन सँकोच न कोंपत लाज से ॥५४॥

इस मृगेन्द्र सुरेन्द्र समान को
प्रकृति पौरुष रोप परोसती
सहज - स्वार्थ परार्थ भुला रहा
कृत क्रिया करती प्रतिकार्य है ॥५५॥

विविध - वृत्त अरक्षित लक्ष हैं
विधि-विधान - प्रधान दिखे यहां
जन न काट न छांट करे उन्हें
प्रकृति आकृति की परिपोषणी ॥५६॥

गज-बड़ा-वपु - रूप - स्वरूप का
सबल है बहु, निर्बलता नहीं
तदपि सिंह नराग्र हने उसे
तहसनाहस साहस के बिना ॥५७॥

नव - पराग, विराग न भौंर को
सुरस चूस रहा नर, हा. नहीं
सुगुण सौगुण से गणना करे
परस पारस सी - रस - हेम हो ॥५८॥

सुमन-स्वच्छ-गुथे - गद्य गुच्छ हैं
लटकते टिकते हिलते शिखा
स्वबल - योग सँयाग सँभालता
सुख-कुटुम्ब अभिन्न स्वशक्ति से ॥५९॥

मालिनी छंद

वन उपवन वापी बाग आराम शोभा
सरस-सुमन बौरे बौर आम्रादि में हैं
महॅक दश दिशा छाई चोभ हो योगियों को
"सिरस" सुगुण गाता रामश्री जानकी के ॥६०॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
पचविंश सर्ग समाप्तः

३१ वां सर्गः

कवि-आगमन

इन्द्रवज्रा छन्द

बैठे अकेले रघुनाथ जी थे
आनन्द में मग्न प्रसन्न आत्मा
देखा वहाँ एक कवींद्र आया
शीशांग नाया कर जोड़ आगे ॥१॥

श्रीराम बोले कवि कार्य क्या है
आये यहां क्यों निज अर्थ खोलो
आनन्द होता- सुख अन्य देके
दे दूसरे को सुख सौख्य सेवे ॥२॥

बोला तभी था कवि-मंजु वाणी
आदित्य को अर्घ मनुष्य देते
श्रीमान लीजे इस भेंट को है
जाता सभी—नीर पयोधि ही को ॥३॥

सीता तभी राम समीप आईं
श्रीराम ने आसन दे बिठाया
आये वहीं पै हनुमान भी थे
वीणा लिये नारद भी पधारे ॥४॥

श्रीराम बोले कवि भेंट लाया
देता प्रिया लो यह वस्तु क्या है
दीजे मुझे ला महिषी कहें यों
गाने लगा है कवि राम गाथा ॥५॥

साकेत—शोभा बहु-भांति गाया
श्री औध के गोकुल को बखाना
श्रीराम का था अभिषेक कैसा
की थी प्रशंसा उसकी निराली ॥६॥

न्योता पठाया मिथिलेश जी ने
यात्रा हुई जो मिथिला बखाना
शोभा कही है मिथिलापुरी की
जो थी निराली पुर स्वर्ग से भी ॥७॥

सीतादि जाके जननी मिलीं थीं
भेंटा पिता को किस भांति से था
आईं सभी थीं सखियां सहेली
गाया गृही—गान विनोद—वार्ता ॥८॥

श्रीराम से की परिहास वार्ता
सीता सहेली सुखदा सभी ने
गाया सुखी दम्पति-गीत-गाथा
पूरी कथा धर्म—सभा बखाना ॥९॥

श्रीराम लौटे पुर को वहां से
देखा कहां क्या गुण गीत गाथा
आनन्द-दात्री ऋतुवें बखानीं
आखेट यात्रा रण की कथा भी ॥१०॥

कैसी कहां सतकृती जताती
गाया उसी की जनता कहानी
अन्याय औ न्याय विभेद हो ज्यों
पाता उन्हीं से फल जीव कैसा ॥११॥

श्रीराम का व्योम-विहार गाया
लौटे सभी भूप स्वदेश जैसे
ऐसी कथा को सुन हर्ष पाया
सीता तथा नारद मारुती ने ॥१२॥

आम्नाय के भेद विभेद गाया
स्वातन्त्र्य वाला दुख दे सभी को
वर्णाश्रमी, भिन्न – अभिन्न होते
शूद्रादि हैं आर्य-समाज-शोभा ॥१३॥

वैदेशिकी - साम्य - समाज कैसा
गाया गुणी–स्वार्थ–कथा-विदेशी
श्रीराम ने वर्णन साम्य - सेवा
की थी बड़ी आर्य—समाज में है ॥१४॥

श्रीराम सीता विनती बखानी
जोड़े करों से रघुनाथ - गाथा
गाता सुखी हो यश राम का यों
सर्वस्व पाता तरुकल्प से ज्यों ॥१५॥

गाने लगा है करुणा कहानी
सम्बन्ध जोड़ा जिसका उसी से
श्रीराम हो शाँत सुने कथा को
जो दुःख देवें न कभी किसी का ॥१६॥

शिखरिणी छन्द

कहूँ कैसे ऐसे तपन—भय जैसे सह रहा
कुकर्मों का मारा, शठ सतह धारा, फिर बहा
अनेकों की फेरी, विनय इस घेरी, मम यही
बचाओ आवो, श्रीचरण तव लावों, रति सदा ॥१७॥

सदा आया जाया कर, जग नसाया, कब नहीं
बना पापी थापी, सकल दुख दापी, नयनिधे
चला जाता पाता, विषय वन हाता, सब कहीं
जिसे घेरा फेरा, जगनिधि सवेरा, तट हुआ ॥१८॥

चढ़ा ऊंचे कूचे, सतगुण समूचे, कब मिले
गिरा गोता खाता, भव-निधि समाता, तल गया
दुखी-दोषी-कोपी, विषयिनि परोसी, थल भ्रमा
सदा आता जाता, जकड नव-नाता, दुख सहूं ॥१६॥

महा क्रोधी, सोधी मति कब, विरोधी बन रहा
अहो कामी - नामी, विषय - बन गामी, भटकता
अहंकारी भा।ी, महत—अधिकारी, जग मनो
चलों मैं जो चालें, पकड़ अघ घालें, सब मुझे ॥२०॥

सदा भागा भागा, छण छण अभागा, मन फिरे
चढ़ा जाता आशा-गिरि, विषय-लासा, बहु लगा
कहीं जोड़े तोड़े, अमित भव भोड़े, दुख घने
महा स्वार्थी, प्रार्थी, निज सुख हितार्थी बन भ्रमू ॥२१॥

जरा आई, छाई तन रस कमाई सब लिया
न आशा जाती सो विषय-गुण गाती सबल हो
झुका झोंके चोके जगत जन रोके कब रुका
कुकर्मों की धारा बढ़कर प्रसारा हृदय में ॥२२॥

न है विद्या-वाणी, गुण मति प्रमाणी कुछ नहीं
रिझाऊं मैं कैसे विनय - बलशाली कब रहा
न आता हू नेरे प्रभु चरण तेरे सुखद हैं
फिरा मारा मारा "खिरस" अब आया शरण में ॥२३॥

न कर्मों को देखो, लहर जल है वायु बल से
महा-माया आगे सुर नर अभागे सब बने
नचाये नाचे विषय वश जाचें जड़ महा
कृपा-धारा धोवे, सिरस अघ खोवे दुख तभी ॥२४॥

तुम्ही हो मेरे आ अब पथ दिखाओ, विपथ हूं
दया क्या देखे दोष-दल-छल को दाव दलती
सहारा सारा पाकर जन तुम्हारा भव तरे
इसी से आया हूं शरण प्रभु की हीन बल में ॥२५॥

न जाने आने हैं अमित अघ खाने, शरण में
बताऊं मैं क्या, वेद वह करुणासागर कथा
त्रितापों से तप्ताकुल कलुष से व्याकुल महा
कृपा पोषी, दोषी दुरित दल रोषी सब हुए ॥२६॥

चला जाता गाता, विषय मद माता सुध कहां
नसाता नाता श्रीपति पद नवाता, शिर नहीं
दया दाता भ्राता, जग सुख विधाता प्रभु अहो
कहां जाऊं पाऊं सहज सुख दानी तुम बड़े ॥२७॥

तुम्हे था मैं भूला, रघुपति दिखाया पथ भला
दिया आज्ञा आया चरण शरणार्थी तब हुआ
बड़ी आशा मेरे भव निधि तरूंगा तुरत ही
भला आता आदित्य-कर-कुल-आगे, तम कहीं ॥२८॥

बिना माँगे देते सकल सुख, लेते शरण में
कृपा जाँचे आगे अवधपति के जोड़ कर को
मुझे दीजे श्रीभक्ति निज पद में नित्य नव हो
जहाँ चाहूँ जाऊँ सुलभ गति से दर्शन प्रभो ॥२९॥

तुम्हारा होके, अन्य धन मन आशा सब नहीं
सदा देता गीताञ्जलि जगत में बाहिर रहूँ
कृपा की है दे काव्य-बल अपनाया सिरस को
दरिद्री क्या मांगे सुरतरु स्वयं दे सुख सभी ॥३०॥

इन्द्र वज्रा छन्द

श्रीराम बोले मृदु मंजु वाणी
जो जाचना की सब ही मिलेगा
आनन्द भोगो कविराज मेरे
मागे बिना वारिद वारि बरसें ॥३१॥

धन्यावली गूंज बड़ी उठी थी
की वारि वर्षा घन ने नहीं पै
गाने लगा है रघुनाथ गाथा
आनद-अम्बोधि प्रभो हमारे ॥३२॥

है कौन ऐसा जग को बचाता
जाने नहीं क्या दुख से घिरा है
रक्षा करें नाथ बिना बताये
श्रीराम ऐसे जग राम ही हैं ॥३३॥

नीचाश्रयी को अपना लिया जो
तो नीचता का रहना न होता
आदित्य देखे तम भागता है
प्राचीन पत्रादि न चैत्र में हों ॥३४॥

ऐसा न कोई नर देव में है
जो नीच को आदर उच्च सा दे
आनद देता तप सिद्ध त्यागी
सामर्थ्य ऐसी प्रभु आप में है ॥३५॥

कैसे कहूं मैं करुणा कथा को
क्या पगु पाता चढ़ शैल पै है
आकाश ऊँचे उड़ती लवा क्या
तो मद-मैं-श्रीरस क्या बताऊँ ॥३६॥

तो भी परीक्षा बहु बार की है
रक्षा किया था करुणार्द्र ही ने
होता सदा यों क्षण भी न बीते
धारा प्रवेगी बहती कृपा है ॥३७॥

ज्यों रश्मि-आदित्य प्रकाश देती
होती कृपा त्यों रघुनाथ की है
हो दीन, तो लें हर दीनता को
जो बिंदु था,-सागर सो कहाता ॥३८॥

आनंद – अम्बोधि प्रतीर जाके
आनंद पाता, दुख दूर भी हो
प्रारब्ध—कर्मादि विनाश होवे
ज्यों भस्म होता तृण अग्नि पाके ॥३६॥

होता जहाँ सम्मुख राम के जो
कर्मादि भागे भयभीत होके
संसार की वस्तु न पास जाती
क्या माघ में लू जलाक होती ॥४०॥

ऊँचे उठाते पद—उच देते
जाके जिसे शीश सुरेश नावें
प्रज्ञा प्रबोधी उसको बनाते
त्रैकाल ज्ञाता जन सिद्ध होता ॥४१॥

श्रीराम संसार—रहस्य खोलें
ब्रह्माण्ड मैं हो कब, क्या दिखावे
रासें नहीं भेद, अभेदता हो
आकाश ही में अवकाश होता ॥४२॥

भूलूं न मैं राम तुम्हें भुलाये
हो भूल भारी भ्रम में पड़ा हूं
देखूं सदा मैं पद पद्म ही को
ज्यों ताकती चन्द्र निशा चकोरी ॥४३॥

जाता यहाँ बिन्दु प्रवेश धारा
न शांति होती क्षण एक भी है
जैसे गया सिन्धु प्रशांति पाता
क्या लौट जाता फिर आपगा में ॥४४॥
हे नाथ मैं दीन अनाथ ही था
देखा कृपा सागर ने कृपा से
जाना सभी ने अपना चुके हो
मागू प्रभो क्या वरदान दोगे ॥४५॥
श्रीराम-शोभा-पद-श्री बिलोको
आनद में मग्न मुनीन्द्र था मैं
होके समीपी प्रभु गीत गाऊँ
गाती पिका गान वसत में ज्यो ॥४६॥
श्रीराम बोले अपना चुका हूँ
जो जो कहा सो सब दे दिया है
आनद भोगो मम पास ही में
राजीव राजो रवि--रश्मि ही से ॥४७॥

मालिनी छंद

रघुपति-पद-सेवा, शक्ति-सघर्ष देती
जगत-विजय पाता, भक्त आनद भोगे
निरस-"सिरस" भी श्रीराम के गीत गाता
अभिमत पद पाया, शांति सानद सोती ॥४८।

इति श्रीराम तिलकोत्सव महाकाव्य
विंशतम्क सर्ग समाप्तम्

३१वां सर्गः

श्री सीताराम स्तुति

* द्रुत विलंबित छंद *

यदि कृपा-प्रभु - प्रेरित चित्त में
प्रकट भाव हुए गुण - गान के
लिख सका चरितावलि नाथ की
उदय भाग्य हुई समझू उसे ॥

मधुर - बोल न काग सके कभी
विलग नीर न चीर करे बकी
"सिरस" त्यों विषयी वश वासना
चरित-श्रीपति का कब गा सके ॥

यदि बहे मरु में सुर आपगा
मनुज लोक लगे तरु कल्प' भी
अपढ जो, पढ़ता श्रुति शास्त्र को
प्रकृति के प्रभु की वह प्रेरणा ॥

प्रभु करें विधि को क्षण में मसा
मशक भी बनता जग का पिता
हरि - समर्थ करे सब, जो चहैं
"सिरस" आदर पात्र बना दिया ॥४॥

प्रभु - परे न परेश - प्रमाणता
"सिरस" से न नराधम है कहीं
अमित अंतर मध्य दिखे जहाँ
ध्रुव-उदीचि, अवीचि विभेदता ॥५॥

प्रकृति - पौरुष - लोक-प्रसारता
पुरुष हैं पति रूप स्वयं प्रभो.
सबलता मिलती किससे उसे
जगत नाथ रमेश महान हैं ॥६॥

प्रकृति कारण कार्य प्रसारती
प्रथकता प्रभु की सबसे रहे
तृण हिले न बिना हरि शिष्टि के
प्रभु-प्रभाव अभाव न लोक में ॥७॥

प्रकृति, तत्व, त्रिलोक, त्रिदेव भी
सब बँधे प्रभु में हिल क्या सकें
सकल शक्ति सुकेन्द्रित नाथ में
तड़ित - धाम - प्रभाव प्रकाश हो ॥८॥

शिष्टि—आज्ञा।

अमित शक्ति प्रदानित कौन है
विधि न शेष - गणेश न शारदा
प्रभु गुणावलि को कब गा सके
गगन अंत मिला किसको कभी ॥९॥

जब कृपा करुणाकर की हुई
तब विकाश-सुबुद्धि-विशेष हो
रवि - प्रकाश पदार्थ यथा दिखे ॥१०॥
वर विवेक प्रकाश प्रवेश हो

प्रबल धार बढी सरि - बाढ की
गज गजेन्द्र बहे बल हीन हो
भ्रम रहा तृण जो भँवरावली
वह लगे तट, तो प्रभु की कृपा ॥११॥

मुझ-नराधम की मति - पाप में
निरत काम – कला धन रोष में
सतत मग्न, न ऊर्ध्व विलोकती
उदधि - अन्तर क्या रज शुष्कता ॥१२॥

यह कृपा प्रभु की कम क्या हुई
मलिन - लोह हुआ शुचि हेम है
अमित-मूल्य बढ़ा मणि साथ में
रस रसा पहुचे सुमनावली ॥१३॥

अति-उदार - कृपालु - स्वभाव है
अवगुणी गुणहीन निषिद्ध पै
द्रवित - दृष्टि पड़ी करुणा लिये
मरु - मही बहती सुर आपगा ॥१४॥

सुजन - सौम्य - समाज नरेश का
शुचि-सभा सब सम्मुख बैठते
निकट सेवक चौंर चला रहा
निरत सेवन सेवित है सदा ॥१५॥

वह सभा-सुख ओर न ध्यान दे
सतत साधत स्वामि सुखार्थ को
सविधि सेवन में सुख पा रहा
सुचित - चातक ताकत मेघ को ॥१६॥

अगत - गौरव से मुख फेर ले
पद रमेश रमा मन नित्य है
वह महान नरेश सुरेश सा
शिखर-अद्रि चढ़ी मह्नि-धूल ज्यों ॥१७॥

यह दशा जिसकी निज कर्म से
जग हुई, करुणाकर दृष्टि दें
सब प्रकाश कृपा - कर का हुआ
सकल - कर्म - तमिस्र विनाश हों ॥१८॥

"सिरस" पाप – प्रदोप-प्रधानता
बढ़ गई जग में, नभ धूल ज्यों
तम 'सारित भूमि हुई' सभी
सुजनता - समता दुख पा रही ॥१९॥

जगत-नाथ विलोक तमिस्र को
जग हितार्थ कृपा-रस-दृष्टि दी
हर लिया तम, भक्ति दिया उसे
चरित-गायक में गणना किया ॥२०॥

प्रकृति सृष्टि रचे, रुचि आपकी
प्रबल - प्रौढ – प्रभाव प्रकाशती
वह सदा प्रभु की वशवर्तिनी
रस रसा रहती मिल के यथा ॥२१॥

सकल विस्तृत वस्तु विकाश में
जगत चेतन औ जड सृष्टि की
सगुण रूप स्वयं प्रभु ने किया
अघन – वाष्प यथा घन रूप हो ॥२२॥

प्रभु - रमापति संग रमा लिये
पुर विकुण्ठ विराज रहे सदा
जगत विस्तृत व्यास समानता
[illegible] हैं ॥२[illegible]॥

कर स्वतन्त्र मनुष्य समाज को
विविध योग सुकर्म कुकर्म से
पशु विहग निहग कुयोनिया
जगत कारण जाल रचा महा ॥२४॥

नर, सुरेश हुआ सुख भोगता
विषय - गर्त गिरा निज कर्म से
लहर ज्यों उठती घटती रहे
सकल जीव दशा जग में सदा ॥२५॥

यदि कृपा प्रभु ने जन पै किया
मन विराग हुआ जग - जाल से
जग सुधा समझे, विष सा लगा
मुड गई गति ज्यों रथ-चाल की ॥२६॥

वमन सा वर - वैभव देखता
धनिक, धावन, में न विभेदता
विकल शासक शासित स्वार्थ में
सुख कहां उनको दुख पा रहे ॥२७॥

विशद - बुद्धि विवेक विलोकती
जगत के सुख में, दुख देखता
वर - विराग, न राग रखे कहीं
गगन में घन घूम रहा यथा ॥२८॥

चरण – अच्युत के धर चित्त में
प्रबल पौरुष - प्रेम परोसता
प्रभु पुरस्कृत आ करते स्वयं
सकल गौरव का गुण खानि हो ॥२६॥

निखिल नित्य नवीन निधीशता
सकल सिद्धि व ऋद्धि सधी खड़ी
जन विलोक रहा पद - पद्म को
सलिल-स्रोत बहे सरि बाढ़ हो ॥३०॥

अमित – आनँद की अनभूति हो
प्रभु समीप सदा सुख-स्रोत में
फिर न आवत सो जग जाल में
जल, पयोधि गया कब लौटता ॥३१॥

अघ महा भ्रम घोर घृणा घिरे
प्रकट प्रौढ़ - प्रमाणिक - पाशता
मति मतिक्लिति को वश में करें
चञ्चल मीन गिरे जल में यथा ॥३२॥

पहुँच क्या सकता प्रभु - पास में
निज कुकर्म पराजित हूँ महा
द्विज – कुलोद्भव हो रत पाप में
जगत की जड़ता - जड़ जोड़ता ॥३३॥

प्रभु कृपालु - कृपानिधि सत्य हैं
दुखित दीन सदोपि दया करें
"सिरस" को बहु बार उबारके
जय दिया अरि पै सुख भी दिया ॥३४॥

प्रभु स्वय पद - पद्म सुप्रीत दी
मलिन लोह सुकंचन भी हुआ
पर प्रवृत्ति निवृत्ति जगी नहीं
बिक रही मणि, काच कुसग में ॥३५॥

सुजन ने जन जो अपना लिया
फिर कदापि न त्याग करें उसे
प्रभु महान महा सप्रमाण है
'सिरस" श्रीपति के शरणार्त है ॥३६॥

अब कृपा करके पद – प्रीत हो
नियम से नव नित्य प्रफुल्ल हो
हृदय से षडवर्ग - प्रयाण लें
विजित – भूप पलायन हो यथा ॥३७॥

वयस – शेष विशेष निशा दिवा
चरण चुम्बन चित्त करे सदा
प्रभु समीप रहू मति मन्त्र तो
रत पिता–पद – पावन पुत्र हो ॥३८॥

यदपि मैं रत हूं जग – वासना
निरत इन्द्रिय – कम कलंकि हू
पर कृपालु - प्रभाव विलीन हों
रवि – प्रकाश यथा तम नाशता ॥३९॥

प्रकृति पाश बँधा जन, योग्य क्या?
प्रतिनिधी करता मन मंद है
हृदय द्वन्द्व दशा रहता सदा
लहर लोल, समुद्र न शान्ति दे ॥४०॥

बहु प्रकार किया सुप्रयत्न है
सफलता न मिली पद प्राप्ति की
भँवर भ्रामक भूरि भ्रमा रहा
प्रबल धार पड़ा जल क्या करे ॥४१॥

इसलिये सब यत्न जपादि से
विरत होकर मैं शरणार्त हू
प्रकृति है प्रबला, बलहीन हू
सबल-श्रीपति - रक्षक दास के ॥४२॥

जयति रक्षक कौशिक – यज्ञ के
चरण – धूल पड़ी मुनि – कामिनी
उठ पड़ी विनती करती वधू
जय दयालु दया करते टुली ॥४३॥

सुख दिया बहु था मिथिलापुरी
युवति - वृन्द सुरूप विमोहिता
मन - मनोहर मुग्ध किया महा
जय - सियापति दें सुख सर्व को ॥४४॥

नृप - विदेह रहे न विदेह सो
प्रभु - सदेह विदेह न हो सके
सफल ज्ञान विज्ञान हुआ सभी
जयति श्री रघुनाथ कृपालुता ॥४५॥

जननि—केकयि की जय - नाद की
निरपराधि कहा जनता — सभा
विधि - विधान—विशेष - प्रधान है
पकड जीव नचावत नाच है ॥४६॥

प्रकृति पूरित निम्न - समाज जो
सरकता चलता तल - गत को
गुह तथा शवरी अपना लिया
जयति दीन - सनेह सँभालते ॥४७॥

विपिन वास सुपास दिया दुखी
खल खलोक्ति की खर खोज की
शलभ से जलते निज यत्न से
तम कहा रवि रश्मि - प्रकाश में ॥४८॥

१— खलोक्ति—सूक्ता। खर—कठोर।

दश दिशा दशग्रीव - दिनेश सा
तप रहा नृप - राशि तथा तपे
शमन की जग - व्याकुलता महा
जयति श्री रघुनाथ कृपानिधे ॥४९॥

जगत की जननी चिर संगिनी
प्रलय - प्रौढ़ प्रतीर परीक्षिका
प्रथक होकर की जग रक्षणा
जयति रक्षक लोक समाज के ॥५०॥

मन - प्रजापति और प्रजा मिले
तन सुखी जनता नृप युग्म हों
सुजन - साधन सिद्ध किया जभी
जय प्रजा-जल, क्षीर - नरेश की ॥५१॥

सविधि शास्त्र-सुधी - मरयाद को
दृढ़ किया पुरुषोत्तम - राम ने
शुचि सतोगुण सौगुण वृद्धि की
जय सियापति सात्त्विक श्रीपते ॥५२॥

नर, नरी, मृग - वृन्द शरीर में
सँग विमान गये पुर - स्वर्ग को
प्रभु किया अनहोनि सुहोनि हैं
जयति श्री रघुनन्दन जानकी ॥५३॥

नर-क्रिया-प्रभु की जन व्याप्त है
जगत - सेतु सुशास्त्र प्रमाण है
अधम भी सुख पाकर शांत हो
चरित्र श्री रघुनाथ प्रमोद दे ॥५४॥

"सिरस" श्रीपद में अनुरक्त है
पर अधीन - महा षड्वर्ग के
अबल मैं, बलवान - बड़े - सभी
पकड़ के मुझको झिझकोरते ॥५५॥

प्रभु समीप न जा सकता अभी
करुण - कौशल श्री करुणा निधे
अमित-जन्म जरा-ज्वर से-जलूं
द्रवत क्यों न दयालु दुखी महा ॥५६॥

द्विज-महाकुल - जन्म मिला मुझे
पर न काम - कला कम कर्म में
जगत - जाल सदा जकड़ा पड़ा
दुख दवा दिन रात्रि रहूं दुखी ॥५७॥

पर भरोस हुआ मुझको बड़ा
प्रभु चुना गुण - गान लिये, मुझे
यदपि नीच - नराधम हूं महा
वक न कर्म करे शुचि हस के ॥५८॥

अब न देर लगे करिये कृपा
व्यथित, हूँ, निज कर्म प्रभाव से
प्रकृति – पाश न पास कभी रहे
नृपति - पुत्र दरिद्र दुखी कहां ॥५६॥

मलिनता जल मज्जन से गई
तब न कर्दम अंग कहीं, दिखे
यदि न निर्मलता, 'मल नाशती
रह सके न विशुद्ध कदापि सो ॥६०॥

सलिल-पल्वल में वक था पड़ा
निकट मान सरोवर के गया
शुचि मराल हुआ वकता गई
"सिरस" को अपना कर, मौन क्यों ॥६१॥

प्रकृत-नीर न तप्त कभी रहे
मिहिर, अग्नि, सहाय सतप्त हो
"सिरस"- प्राकृत प्रौढ - प्रपंचना
चरित—चारु—रमेश न गासके ॥६२॥

सरसता न रहे सरि शुष्क जो
तदपि स्रोत बहे अति—धार सो
जगत कारण कार्य प्रतच्छ है
सित-सुवस्त्र, सुरंग रँगा दिखे ॥६३॥

रज मिला जल सो मटमैल है
मलिनता—मल-मूल-महा बढ़ी
प्रकृति-पाश निवास सत्रास है
मरण जन्म जरा जुड़ती सदा ॥६४॥

यदि पिपिलिक, पर्वत पे चढ़ो
पग न कर्दम की लस में फँसे
यदि फँसा, गिरि-गौरवता कहाँ
समझ लो, प्रभु श्री करुणा-कथा ॥६५॥

सिय - सतीश - महीश-कृपालु हैं
अवगुणी गुण-गौरव पूर्ण दें
करुण - धार बहे अघ नाश हो
स्वजन निर्मल - नीति निकेत हो

मधुर - मन्द - सुहास, विनाशती
ककुद - कल्मष - घोर अनेक को
हृदय की हरती भव - वेदना
परम पावन—प्रेम प्रदानती ॥६७॥

सुपद दृष्टि पड़ी जन योग्य हो
मलिनता मन की सब मेटती
प्रकृति - प्रेरण से उपराम हो
तम रहे न दिनेश - प्रकाश में ॥६८॥

६७ ककुद—पर्वत ।

चरण - कोमल - कंज-सुलालिमा
मन-मिलिंद मिले मधु - प्रेम है
पद - पराग सुपीत प्रदानती
निरत अकुश चित्त प्रशांत हो ॥६९॥

प्रबल - धार बहे जग की महा
ठहर कौन सके बलवीर है
सलिल - वेग पड़ा जन धार में
पर कृपा प्रभु तीर सदा - ही ॥७०॥

नृप, कपोत - कथा सुन मैं रखी
शरण—आगत को अपना लिया
"सिरस" है शरणागत आप के
चरण अम्बुज में अलि सा रखो ॥७१॥

यदपि नीच निषिद्ध निकृष्ट हू
तदपि श्रीपति आप महान हैं
प्रभु दया, दुख-दीन कहां रहे
विटप दूर परे परछाइँ है ॥७२॥

"सिरस" शक्ति नहीं गुण-गान की
उडुप सागर पार कहाँ करे
तदपि पोत, बँधी बह पार हो
प्रभु - कृपा भव सिन्धु उबारती ॥७३॥

प्रभु - अचिन्त्य न चित्त समीप है,
अति 'अगाध - विशेष महान हैं
तदपि दीन हितार्थ दया बड़ी
लहर—लोल समुद उठे यथा ॥७४॥

सुयश-श्रीपति का सुख सौख्य दे
मलिनता हृद की वह नाशता
विशद बुद्धि विवेक प्रकाशता
उदय सूर्य हुआ, न तमिस्रता ॥७५॥

त्रय-प्रकार, कुकर्म विनाश हों
सुखद लोक तथा परलोक भी
विषय—इन्द्रिय—पास न वासना
घट—भरा-जल, फूट गया घड़ा ॥७६॥

सब मनोरथ लौकिक पूर्ण हों
अरि—समूह—विरोध विनाशता
सघन—धाम भरा सब वस्तु से
गृह लगा हरिचन्दन क्या कभी ॥७७॥

सब सुखी अनकूल कुटुम्ब हो
स-सुत, पौत्र वधू, सहधर्मिणी
निरत सत्य, सुशील समान हो
विहँग कूजत शाख प्रशाख ज्यों ॥७८॥

चरित श्री रघुनन्दन का महा
रवि—मयूख प्रकाश करे यथा
शुचि पदार्थ मिले इससे सभी
सरस—भूमि करे घन वारि से ।।७६।।

मत न योग, न जाप न ध्यान से
परम-प्रीत - प्रतीत न प्रेम हो
मन न इन्द्रिय हो उपरामता
जब—समाप्त हुई तप की क्रिया ।।८०।।

प्रकृति—पौरुषता—प्रबला महा
जप—व्रतादि—प्रभाव न लाघके
परम - प्रौढ़—प्रवीन— प्रसिद्ध है
हिल सके गिरि क्या अलि-पंख से ।।८१।।

प्रकृति के पति श्री रघुनाथ हैं
सगुण लोक प्रकास स्वरूप में
चरित चर्चित को चरचा जहाँ
स्वतः इन्द्रिय औ मन शाँत हों ।।८२।।

प्रकृति शासित, शासक राम हैं
निकट श्रीपति को लख हर्षिता
प्रभु समीप सदा अनुकूलता
जल स्वरूप हुआ सित, क्षीर में ।।८३।।

सगुण-सौगुण गौरव भक्त दे
सुयश गावत राम-नरेश का
उभय-लोक मिले सुख शांति है
प्रकृति पै जय दे यश-राम का ॥८४॥

मालिनी छन्द

रघुवर-यश-चर्चा चित्त को शान्ति देती
विषय-विलय हो, मोहादि भी मंद होते
शुचि-मन, मति, होके विज्ञता बोध लाती
प्रभु-गुण-गण हैं मंदार से क्या न देते ॥८५॥

इति श्री रामतिलकोत्सव महाकाव्य
द्वात्रिंश सर्ग, महाकवि पं० शिवरत्न शुक्ल "सिरस"
कृत ग्रन्थ समाप्तम्

शुद्धाशुद्धि

अशुद्ध	शुद्ध	छन्द	पृष्ठ
ाान्ति	शान्त	३५	८
ुदा	तुम्ही	५६	१२
ेना	सेवा	नोट ६	
ेदपाली	वेदपाठी	नोट १	१६
ध्वं	ऊर्ध्व	६२	३३
िमेदक	विमेदक	६४	३३
न्टप	कुनृप	१०४	३५
ह	नहे	१०७	३६
य,	शाम	११२	३७
ुर	मुद्गर	११५	३७
ुस्र	सहस्र	११६	३८
ाध	झंपन्दा	७	४५
ानुयायी	समानुयायी	६	४६
क	साथ	नोट ८	४६
, मने,	जो, मन,	नोट १२	४६
ा	सुरत	१७	४७
	ढूंढे	७४	४६
चत्य	अचिंत्य	४०	५२

अशुद्ध	शुद्ध	छन्द	पृष्ठ
घाढ़ी	मढ़ी	४८	६२
त्तीराविध्जा	त्तीराधिजा	५८	६४
सु	वसु	४८	८४
विमुक्ष	विमुक्त	१४	१०५
मबुरता	मधुरता	२८	१०७
जा	जो	३८	१०६
म्याय	न्याय	४६	१११
रूप	संग	५२	११२
कुलोदम्व	कुलोद्भव	६७	१ ५
पध	पथ	२०	१२५
लदें	लड़ें	२६	१२७
प्राब	प्रास	३०	१२७
उर्ध	ऊर्ध्व	४४, ४५	१३०
छ्दती	छूटती	७०	१३५
दिख	दिखे	१०७	१४२
साघना	साधन	६४	१६७
——	प्रभात वर्णन	६३	१७२
लेविन	लंवित	१३	१८५
विरहवी	विरहनी	३६	१८६
मगन	संगन	४१	१६०
	वाली	६६	१६६

अशुद्ध	शुद्ध	छन्द	पृष्ठ
प्रसाद	प्रासाद	७६	१९७
नियम	निमग्न	२	१९९
विलोक	विलोक	६	२०१
लौटती सिन्धु से	लौट सिन्धु से	१३	२०१
विश्य	विश्व	१६	२०२
पली	पन्नी	१९	२०३
शम्या	शम्पा	२२	२०३
जीभूत	जीमूत	२५	२०४
वमी	मनी	२६	२०४
मलो	भली	३४	२०६
थली	चली	६१	२११
रुकत	रुकता	६२	२११
वन	वने	७९	२१५
सुमुखी	सुमुखी	८६	२१६
दु ख	दुख	९०	२१७
पर्वानुरागी	पूर्वानुरागी	१०	२२१
स्वस्टा	स्वसा	२१	२२३
दुगंध	दुर्गंध	४४	२२८
तपत्वी	तपस्वी	५६	२३१
भाभी	मामी	१३०	२४५
क	के	४२	२६५

अशुद्ध	शुद्ध	छन्द	पृष्ठ
प्रदान	प्रादान	६९	२७१
आने	आते	७१	२७१
गोविद	गोविन्द	८३	२७३
एक	इक	५३	२८५
हा	हो	८९	२९३
मधु १ रिपु	मधुरिपु १	१ ५	२९६
त्रिकर्म	त्रिकर्म को	७०	३२०
कौशिल	कौशल	१०	३३६
सङ्ग	सँग	२३	३३८
शिशार	शिशिर	नोट ८	३४३
सुथलता	सफलता	४	३४८
तब न आ गई	तब आ गई	४	३४८
घातकोद्वार	चातकोद्वार	२७	३५२
पूषत	प्रपत	५९	३५९
धन	वन	६६	३६०
गुनवती	गुणवती	८०	३६३
वगी	लगी	९	३६९
घल	जल	१९	३७१
किरणो	किरणें	३४	३७४
ऊँचा	ऊंची	नोट १	३७४
अंब	अबु	३५	३७४

अशुद्ध	शुद्ध	छन्द	पृष्ठ
।ात	माता	४	३८६
सभा	सिल	१६	३६१
	घूमें	८४	४२६
ोराम	श्रीराम	१	४३७
ुरुक	तुरुस्क	११	४३६
ट्टचरी	पट्टचरी	१२	४३६
ंग	सँग	३३	४४४
्दा	मद्दा	४७	४४६
ायोन	प्रभोग	५५	४४८
यो	त्यों	५६	४४६
ार्व	गर्व	६०	४४६
ाम	कम	६४	४५६
ो	हो	६७	४५६
ाधिकरि	अधिकारि	१०४	४५८
न्द	मन्द	५	४६०
ालोकि ये	विलोकिये	१४	४६२
हुचा	पहुँचा	१७	४६२
ाणिमन्ध	माणिमन्थ	१८	४६२
पन्या	पद्मा	४८	४७६
्यार	प्र-उचार	७१	४७४
ापि	तथापि	६६	४७४

अशुद्ध	शुद्ध	छन्द
मयरनी	मयूरनी	१०२
ऐ क्यी	ऐक्यी	२
स्वतन्त्रता	स्वातन्त्रता	६
मैं	मे	२६
यिचार	विचार	३७
सुमार्ग	सुमार्ग	४०
एक स्वभावी	एकानुयायी	८६
अमंदता मंद होती सुबुद्धि	अमंदता, मंद सुबुद्धि होती,	१३
खास की है	खा सकी है	२६
प्रमदाव ली	प्रमदावली	८८
शेभा	शोभा	४०
सुफल	सुफूल	६६
ह्वे वामि	ह्वै वामि	०५
प्र	प्रजा	१८
भन्न	भिन्न	२४
कापस्यता	कापट पता	६२
सुरलोक भी	सुरलोक को भी	१०१
नकजा	जनकजा	१
कलिक	कलिका	९
भार्गा	भारी	२०

शुद्ध	छन्द	पृष्ठ
बद	२६	५७६
पाऊं	२६	५७७
वर विवेक प्रवाह प्रवेग हौं	१०	५८३
चातक	१६	५८४
घन	२२	५८५
में	३१	५८७
दो	३८	५८८
विहँग	७८	५९६
मंदार	८५	५९८

महाकवि पं० शिवरत्न शुक्ल "सिरस"

द्वारा रचित ग्रन्थ

१ **भरत-भक्ति** महाकाव्य में श्रीरामचन्द्र जी के प्रति भरत जी की भक्ति का वर्णन व्रजभाषा में किया गया है, कनौजी और बैसवारी बोली का भी पुट है, इससे वर्णित-भाव का प्रभाव हृदय में जोर के साथ असर करता है। नवीन उक्ति युक्ति नवीन उपमाओं से पूर्ण है। श्रीसिरस जी स्वयं भक्त हैं, इसलिए इसमें शुद्ध भक्ति का विशद वर्णन हुआ है। सिरस जी की रचनाओं विशेषता यह है कि वह किसी पूर्व कवि के पीछे नहीं चलते, प्रत्युत अपना जीवन मार्ग निर्माण करते हैं। अतः इस ग्रंथ में नवीन भावों और उपमाओं का समावेश है। इसका आमुख महर्षि पं० मदनमोहन मालवीय जी ने लिखा है। इस महाकाव्य के प्रशंसकों में से स्वर्गीय महा महोपाध्याय श्रीमान पण्डित प्रवर गंगानाथ झा जी, महाकवि हरिऔध प्रसिद्ध, स्वर्गीय राजा रामपालसिंह जी, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, स्वर्गीय लाला सीताराम जी आदि विद्वान हैं। इसकी भूमिका विविध विषयों से पूर्ण १३२ पृष्ट में समाप्त हुई है, तिरंगे, यक रंगे अनेक चित्ताकर्षक चित्र हैं पृष्ट ६५० और मूल्य केवल ६) है।

२ सिरस-नीति सतसई, यह ७०० दोहों का शिक्षाप्रद ग्रन्थ है, प्रत्येक दोहा में वर्णित विषय के प्रतिपादनार्थ दृष्टान्त भी दिए गए हैं, ऐसा एक भी दोहा नहीं जिसमें दृष्टान्त न हो, इस नियम का पालन भी रहीम तथा वृन्द जी के भी दोहों में नहीं पाया जाता। एकशतक में केवल राजाओं के लिये नीति की शिक्षा दी गई है। कागज मोटा, छपाई सफाई बहुत उत्तम है। मूल्य ३)

३ परिहास प्रमोद, चम्पू में है। अर्थात इसमें गद्य और पद्य दोनों में विषय वर्णन किये गए हैं। मजेदार चुटकी ली गई हैं व्यंगपूर्ण बैसवारी बोली में कविताएं हैं और गद्य खड़ी बोली में पुर मजाक है। श्री सिरस जी का हास्य भी तकल्फ के सहित होता है। एक स्थान पर लिखा है यदि वायुयान आरोही ऊपर से पेशाब कर दें। और वह छत पर सोने वाले महाशय के ऊपर गिरेगा तो यही अनुमान किया जायगा कि किसी चिड़िया ने बीट कर दी है। आजकल के फैशन पर भी फौवारा छोड़ा गया है। तो मजाक पर शिक्षाप्रद है मूल्य ॥)

४ आर्य-सनातनी-संवाद, तीस चालिस वर्ष पूर्व आर्य और सनातनानुयायियों में बड़ी बहस हुआ करती थी और अपने अपने पक्ष प्रतिपादनार्थ में कटुता को नहीं छोड़ते थे। इसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को शिष्ट भाषा में उ